भगवान श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला : पुष्प ६७

ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव
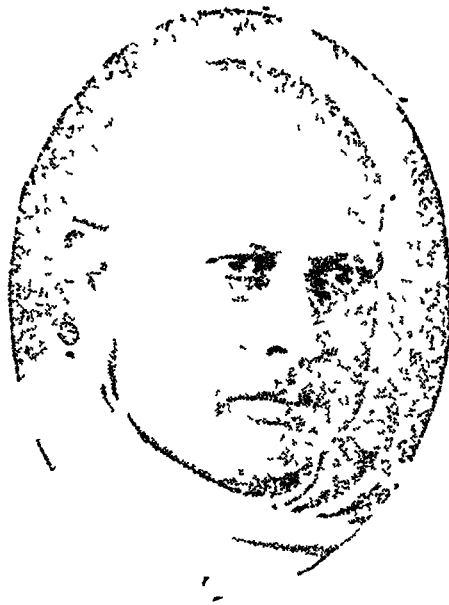
आत्मा के ज्ञानस्वभाव का और ज्ञेयपदार्थों के व्यवस्थित क्रमबद्धपरिणामन का निर्णय कराके ज्ञायकस्वभाव की ओर ले जानेवाला,

पूज्य श्री कानजीस्वामी के खास प्रवचनों का संग्रह
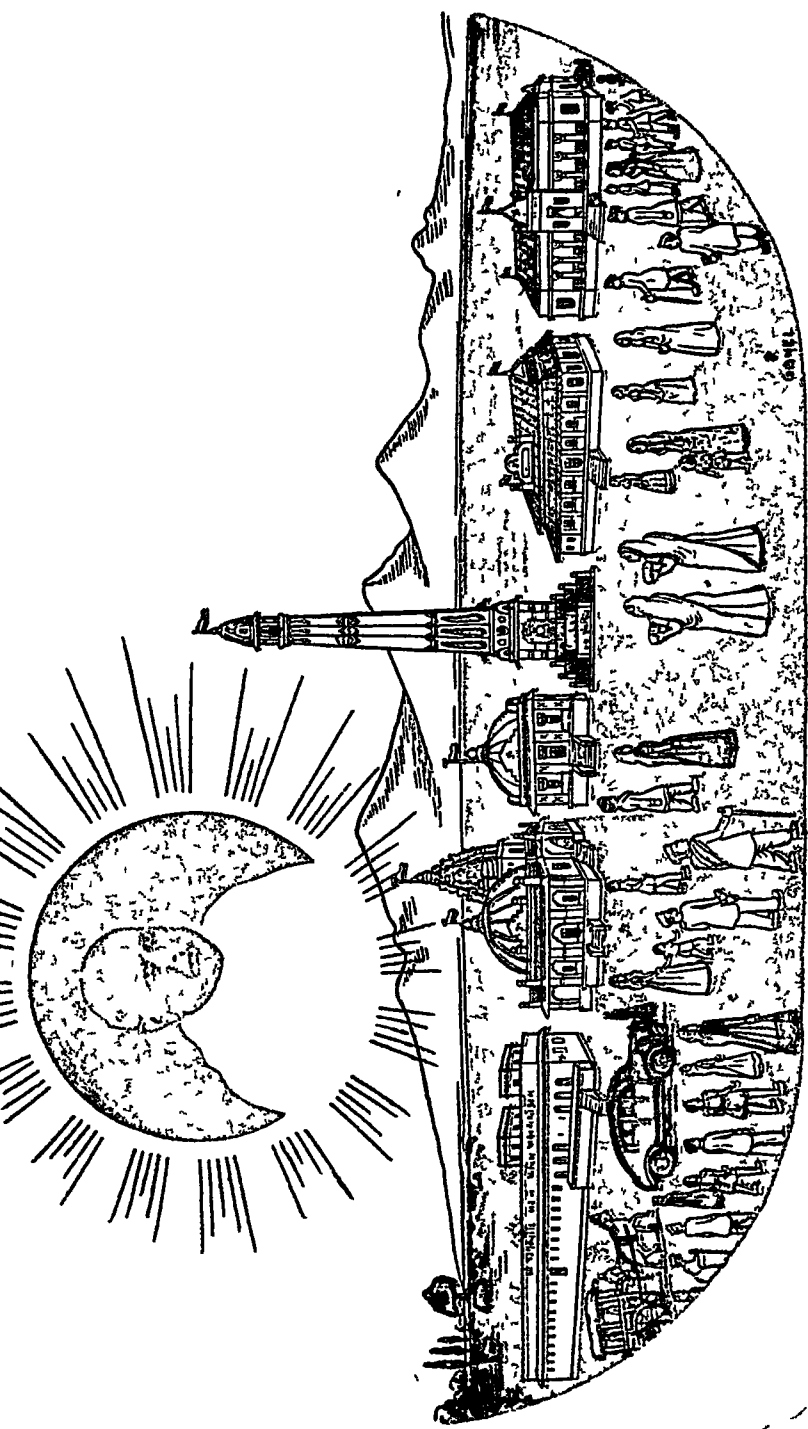
यह है 'सुवर्ण का सूर्य'–जिन्होंने ज्ञायकस्वभावके सन्मुख लेजानेवाला "क्रमबद्धपर्याय" का तेर प्रवचनोंकी अपूर्व भेंट देकर भारतके मुमुक्षु जीवोंके उपर महान उपकार किया है।

માનનીય શ્રી [illegible]ભાઈ

* आभार *

सत्साहित्य का ज्यादा प्रचार हो ऐसी धर्म प्रभावना हेतु श्री दीपचन्दजी सेठिया (सरदार शहर) के ज्ञान प्रचार ध्रुव फंड के ब्याज में से १५००) रु० इस पुस्तक की कीमत कम करने के लिये खर्च किया गया है।

—प्रकाशक

માનનીય શ્રી રામજીભાઈ
[illegible]ના સન્માન [illegible] પ્રસંગે
[illegible] ફંડમાંથી [illegible]
આ પુસ્તકની કિંમત ઘટાડવામાં આવી છે.

लीजिये अमूल्य भेंट

(नि वे द न)

जो प्रवचन इस पुस्तक में प्रसिद्ध हुये हैं वे वास्तव में जैनशासन के पुनीत साहित्य में पू. श्री कहानगुरुदेव की एक महान अमूल्य भेंट है। हम विचार में पड़ गये कि इस अमूल्य भेंट को कौन-सा नाम दिया जाय? अन्त में वहुत सोचकर इसका नाम रक्खा—"ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव" यह नाम क्यों पसन्द किया इसके बारे में थोड़ा-सा स्पष्टीकरण देखिये—

१–आत्मा का ज्ञानस्वभाव है,

२–उसकी पूर्ण व्यक्ति केवलज्ञान अर्थात् सर्वज्ञता है; सर्वज्ञता के निर्णय से ज्ञानस्वभाव का भी निर्णय हो जाता है (प्रवचनसार गाथा ८० वत्)

३–सर्वज्ञता के निर्णय में सारे ही ज्ञेय पदार्थों के स्वभावगत क्रमबद्ध-परिणमन की प्रतीति भी हो ही जाती है, क्योंकि भगवान सब देख रहा है।

—इस तरह ज्ञानस्वभाव की प्रतीति, सर्वज्ञता की प्रतीति व क्रमबद्ध-पर्यायों की प्रतीति—ये तीनों ही एक दूसरे से अविनाभावी हैं, एक के निर्णय में दूसरे दोनों का निर्णय आ ही जाता है।

इस तरह ज्ञानस्वभाव का व ज्ञेयस्वभाव का निर्णय कराने का ही मुख्य प्रयोजन होने से इस अमूल्य भेंट का नाम "ज्ञानस्वभाव व ज्ञेयस्वभाव" रखा है। इसके निर्णय किये बिना किसी भी तरह से जीवको वीतरागीज्ञान—सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

जो भी मुमुक्षु जीव आत्मा का हित साधना चाहता हो, सर्वज्ञ भगवान के सुपंथ में मंगल प्रयाण करना चाहता हो, उसको उपर्युक्त विषय का यथार्थ अबाधित निर्णय अवश्य करना ही चाहिये। इसका निर्णय किये बिना सर्वज्ञ के मार्ग में एक डग भी नहीं चला जा सकता, और उसका निर्णय होते ही इस आत्मा में सर्वज्ञदेव के मार्ग का—मुक्ति के मार्ग का—मंगलाचरण हो जाता है।

इस परसे यह बात अच्छी तरह समझ में आ जायगी कि जिज्ञासु जीवों को यह विषय कितने महत्व का है। और इसीलिये पू. गुरुदेव ने समय-

सार, प्रवचनसार आदि अनेक शास्त्रों के आधार से, युक्ति—अनुभव से भरपूर प्रवचनों के द्वारा यह विषय बहुत स्पष्ट करके समझाया है। ऐसा वस्तुस्वरूप समझाकर पू. गुरुदेव ने भव्य जीवों के ऊपर परम उपकार किया है।

इस पुस्तक में मुख्यतया समयसार गा. ३०८ से ३११ के ऊपर पू. गुरुदेव के क्रमबद्धपर्याय संबन्धी तेरह विशिष्ट प्रवचन दिये गये हैं, और बाद में इसी विषय से सम्बन्धित कितने जरूरी प्रवचन भी इसके साथ जोड़ दिये हैं। "आत्मधर्म" मासिक में यह सब प्रवचन छप गये हैं।

इस पुस्तक में झेले गये महत्वपूर्ण प्रवचन ब्र० भाई श्री हरिलाल जैन के भावपूर्ण परिश्रम का फल है। उन्होंने यह प्रवचन अत्यन्त सावधानी एवं उद्यमपूर्वक सुन्दर भाषा में झेले हैं। अतः यह संस्था उनको धन्यवाद देती है।

पूज्य गुरुदेव के ये महत्व के प्रवचनों के लेखन में पू. गुरुदेव का आशय बिलकुल अच्छी तरह बना रहे इसके लिये पू. बेनश्री—बेनजी की ओर से खास सहाय मिली है, इसलिये दोनों पू. बहनों का हम आभार मानते हैं।

ओ भारत के भव्य मुमुक्षु जीवो! इस अमूल्य भेंट को पाकर हर्षपूर्वक इसका सत्कार कीजिये.. हमारे आत्महित के लिये श्री तीर्थंकर भगवान ने परम कृपा करके गुरुदेव के द्वारा यह भेंट अपने को दी है—ऐसा ही मानकर, इसमें कहे हुए अपूर्व गम्भीर रहस्य को समझकर, ज्ञायकस्वभाव सन्मुख हो आत्महित के पावन पथ पर परिणमन करो, यही भावना है।

वीर सं० २४८१
भादों सुदी पचमी

—रामजी माणेकचन्द दोशी
प्रमुख,
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ : सौराष्ट्र

* दूसरी आवृत्ति का निवेदन *

जैन समाज की तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा देख कर और इस पुस्तक की विशेष मांग होने पर यह दूसरी आवृत्ति प्रसिद्ध करने में आई है।

वीर सं० २४८६
माघ शुक्ला ५

रामजी माणेकचन्द दोशी
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

अनुक्रमणिका

...त्मा ज्ञायक है

... का विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण

... कल्पनाओं का निराकरण

क्रमबद्धपर्याय का विस्तार से स्पष्टीकरण

[दूसरा भाग]

अनेकान्तगर्भित सम्यक् नियतवाद

अनेकान्त

* श्री सर्वज्ञदेवाय नमः *

आत्मा ज्ञायक है

क्रमबद्धपर्याय का विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण

—और—

अनेक प्रकार की विपरीत कल्पनाओं का निराकरण

[समयसार गाथा ३०८ से ३११ तथा उसकी टीका पर

पूज्य गुरुदेव के प्रवचन]

पूज्य गुरुदेव ने इन प्रवचनों में अखण्डरूप से एक बात पर खास भार दिया है कि—ज्ञायक के समक्ष दृष्टि रखकर ही इस क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय होता है। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करनेवाले की दृष्टि काल के समक्ष नहीं होती, किन्तु ज्ञायकस्वभाव पर होती है। ज्ञायक सन्मुख की दृष्टि के अपूर्व पुरुषार्थ के बिना वास्तव में क्रमबद्धपर्याय का निर्णय नही होता और न उसे निर्मल क्रमबद्धपर्याय होती है। यह बात प्रत्येक मुमुक्षु को लक्ष में रखने योग्य है।

भाई रे ! यह मार्ग तो मुक्ति का है या बन्धन का ? इसमें तो ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके मुक्ति की बात है; इस बात का यथार्थ निर्णय करने से ज्ञान पृथक् का पृथक् रहता है। जो मुक्ति का मार्ग है उसके बहाने कोई स्वच्छन्द की पुष्टि करता है अथवा उसे "छूत की बीमारी" कहता है, उस जीव को मुक्ति का अवसर कब मिलेगा ?

[—पूज्य गुरुदेव]

कुन्दकुन्द भगवान के मूल सूत्र

दवियं ज उप्पज्जइ गुरोहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं ।
जह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह ॥ ३०८ ॥
जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते ।
तं जीवमजीव वा तेहिमणण्ण वियाणाहि ॥ ३०९ ॥
ण कुदोचि वि उप्पण्णो जह्मा कज्जं ण तेण सो आदा ।
उप्पादेदि णकिंचि वि कारणमवि तेण ण स होइ ॥ ३१० ॥
कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि ।
उप्पज्जति य णियमा सिद्धी दु ण दीसए अण्णा ॥ ३११ ॥

अमृतचन्द्राचार्यदेव की टीका

जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीवः, एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव न जीवः, सर्वद्रव्याणां स्वपरिणामैः सह तादात्म्यात् कंकणादिपरिणामैः कांचनवत् । एवं हि जीवस्य स्वपरिणामैरुत्पद्यमानस्याप्यजीवेन सह कार्यकारणभावो न सिद्धयति, सर्व द्रव्याणा द्रव्यातरेण सहोत्पाद्योत्पादकभावाभावात् तदसिद्धौ चाजीवस्य जीवकर्मत्वं न सिद्धयति, तद्सिद्धौ च कर्तृ कर्मणोरनन्यापेक्षसिद्धत्वात् जीवस्याजीवकर्तृत्व न सिद्धयति । अतो जीवोऽकर्ता अवतिष्ठते ।

मूल गाथाओं का हिन्दी अनुवाद

जो द्रव्य उपजे जिन गुणो से, उनसे जान अनन्य वो ।
है जगत् मे कटकादि, पर्यायो से कनक अनन्य ज्यो ॥ ३०८ ॥
जिव-अजिव के परिणाम जो, शास्त्रो विषै जिनवर कहे ।
वे जीव और अजीव जान, अनन्य उन परिणाम से ॥ ३०९ ॥
उपजै न आत्मा कोइ से, इससे न आत्मा कार्य है ।
उपजावता नहिं कोइ को, इससे न कारण भी बने ॥ ३१० ॥
रे कर्मआश्रित होय कर्ता, कर्म भी करतार के ।
आश्रित हुवे उपजे नियम से, अन्य नहिं सिद्धी दिखै ॥ ३११ ॥

टीका का हिन्दी अनुवाद

प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नही है; इसप्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामो से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नही है; क्योंकि जिसप्रकार (कंकन आदि परिणामों से उत्पन्न ऐसे)सुवर्ण का कंकनादि परिणामों के साथ तादात्म्य है उसीप्रकार सर्व द्रव्यों का अपने परिणामो के साथ तादात्म्य है। इसप्रकार जीव अपने परिणामो से उत्पन्न होता है, तथापि उसे अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता, क्योकि सर्व द्रव्यों को अन्य द्रव्य के साथ उत्पाद्य–उत्पादकभाव का अभाव है; वह (कार्यकारणभाव) सिद्ध न होने से, अजीव को जीव का कर्मपना सिद्ध नही होता; और वह (अजीव को जीव का कर्मपना) सिद्ध न होने से, कर्ता–कर्म की अन्यनिरपेक्षरूप से (–अन्य द्रव्य से निरपेक्ष रूप से स्वद्रव्य मे ही) सिद्धि होने से जीव को अजीव का कर्तापना सिद्ध नहो होता; इसलिये जीव अकर्ता सिद्ध होता है।

[—समयसार गुजराती दूसरी आवृत्ति]

(यह प्रवचन समयसार गाथा ३०८ से ३११ तथा उसकी टीका के हैं; मूल गाथा तथा टीका में भरे हुए गम्भीर रहस्य को पूज्य गुरुदेव ने इन प्रवचनो में अत्यन्त स्पष्टरूप से समझाया है।)

❃ पहला प्रवचन ❃

[आश्विन कृष्णा १२, वीर सं० २४८०]

(१) अलौकिक गाथा और अलौकिक टीका

यह गाथाये अलौकिक है और श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने टीका भी ऐसी ही अलौकिक की है। टीका मे क्रमबद्धपर्याय की बात करके तो आचार्यदेव ने जैन–शासन का नियम और जैन–दर्शन का रहस्य

भर दिया है। भगवान आत्मा का ज्ञायकस्वभाव है, वह तो ज्ञाता-दृष्टापने का ही कार्य करता है। कही फेरफार करे ऐसा उसका स्वभाव नही है और रागको भी बदलने का उसका स्वभाव नही है—राग का भी वह ज्ञायक है। जीव और अजीव सर्व पदार्थो की त्रिकाल की अवस्थायें क्रमवद्ध होती है, आत्मा उनका ज्ञायक है।—ऐसा ज्ञायक आत्मा सम्यग्दर्शन का विषय है।

(२) जीव–अजीव के क्रमवद्ध परिणाम और आत्मा का ज्ञायक-स्वभाव

[टीका] "जीवो हि तावत् क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीवः; एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव न जीवः ."

आचार्यदेव कहते हैं कि—"प्रथम तो" अर्थात् सर्वप्रथम यह निर्णय करना चाहिये कि जीव क्रमवद्ध—क्रमनियमित ऐसे अपने परिणामो से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नही है, इसप्रकार अजीव भी क्रमवद्ध अपने परिणामो से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नही है। देखो यह महान सिद्धान्त। जीव या अजीव प्रत्येक वस्तु मे क्रमवद्धपर्याय होती है, उसमे उल्टा–सीधा होता ही नही। आजकल अनेक पण्डित और त्यागी आदि लोगो मे इसके सामने बड़ा विरोध उठा है, क्योकि इस बात का निर्णय करने जायें तो अपना अभी तक का माना हुआ कुछ भी नही रहता। सवत् २००३ मे (प्रवचन–मण्डप के उद्घाटन प्रसग पर) सर सेठ हुकमचन्दजी इन्दौर वालो के साथ प० देवकीनन्दनजी आये थे, उन्हे जब यह बात बतलाई तब वे बडे आश्चर्यचकित हुए थे कि अहो! ऐसी बात है!! यह बात अभी तक हमारे लक्ष मे नही आई थी। छहो द्रव्यो मे उनकी त्रिकाल की प्रत्येक पर्याय का स्वकाल नियमित है। जगत मे अनन्त जीव हैं और जीव की अपेक्षा अनन्तगुने अजीव है, वे सब द्रव्य अपने अपने

क्रम नियमित परिणाम से उत्पन्न होते हैं। जिस समय जिस पर्याय का क्रम है वह एक समय भी आगे-पीछे नही हो सकती। जो पर्याय १०० नम्बर की हो वह ९९ नम्बर की नही हो सकती और १०० नम्बर की पर्याय १०१ नम्बर की भी नही हो सकती है। इसप्रकार प्रत्येक पर्याय का स्वकाल नियमित है और समस्त द्रव्य क्रमबद्धपर्याय से परिणमित होते है। अपने स्वभाव का निर्णय हुआ वहाँ धर्मी जानता है कि मै तो ज्ञायक हूँ, मैं किसे बदल सकता हूँ? इसलिये धर्मी के पर को बदलने की बुद्धि नही है, राग को भी बदलने की बुद्धि नही है, वह राग का भी ज्ञायकरूप से ही रहता है।

(३) सर्वज्ञभगवान 'ज्ञापक' हैं, 'कारक' नहीं हैं

पहले तो ऐसा निर्णय करना चाहिये कि इस जगत मे ऐसे सर्वज्ञभगवान हैं कि जिनके आत्मा का ज्ञानस्वभाव पूर्ण विकसित हो गया है, और मेरा आत्मा भी ऐसा ही ज्ञानस्वभावी है। जगत के समस्त पदार्थ क्रमवद्धपर्यायरूप से परिणमित होते है; पदार्थ की तीनों काल की पर्यायो का क्रम निश्चित् है, सर्वज्ञदेव ने तीनकाल तीन लोक की पर्यायें जानी हैं। जो सर्वज्ञ ने जाना वह बदल नही सकता। तथापि सर्वज्ञदेव ने जाना इसलिये वैसी अवस्था होती है—ऐसा भी नही है। सर्वज्ञ-भगवान तो ज्ञापकप्रमाण है, वे कही पदार्थो के कारक नही हैं; कारक-रूप तो पदार्थ स्वयं ही है, प्रत्येक पदार्थ स्वयं ही अपने छह कारकों रूप होकर परिणमित होता है।

(४) क्रमबद्धपर्याय की झन्कार

आचार्यदेव पहले से ही क्रमबद्धपर्याय की झन्कार करते आ रहे है:—

"जीव पदार्थ कैसा है" उसका वर्णन करते हुए दूसरी गाथा मे कहा था कि "क्रमरूप और अक्रमरूप वर्तते हुए अनेक भाव जिसका स्वभाव होने से जिसने गुण-पर्यायें अगीकार की हैं।" पर्याय क्रमवर्ती होती है और गुण सहवर्ती होता है।—ऐसा कहकर वहाँ जीव की क्रमबद्धपर्याय की बात बतला दी है।

तत्पश्चात् ६२ वी गाथा मे कहा है कि—"वर्णादिक भाव, अनुक्रम से आविर्भाव और तिरोभाव को प्राप्त होती हुई ऐसी उन उन व्यक्तियों (पर्यायो) द्वारा पुद्‌गलद्रव्य के साथ रहते हुए, पुद्गल का वर्णादि के साथ तादात्म्य प्रगट करते है।" यहाँ "अनुक्रम से आविर्भाव और तिरोभाव" प्राप्त करना कहकर अजीव की क्रमबद्धपर्याय बतला दी है।

कर्ता–कर्म–अधिकार मे भी गाथा ७६–७७–७८ मे प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य—ऐसे तीन प्रकार के कर्म की बात करके क्रमबद्धपर्याय की बात जमा दी है। 'प्राप्य' अर्थात्, द्रव्य में जिस समय जो पर्याय नियमित है उस क्रमबद्धपर्याय को उस समय वह द्रव्य प्राप्त करता है–पहुँच जाता है, इसलिये उसे 'प्राप्यकर्म' कहा जाता है।

(६) ज्ञायकस्वभाव समझे तभी क्रमबद्धपर्याय समझ में आती है

देखो, इसमे ज्ञायकस्वभाव की ओर से लेना है। ज्ञायक की ओर से ले तभी यह क्रमबद्धपर्याय की बात यथार्थ समझ मे आ सकती है। जो जीव पात्र होकर अपने आत्मा के लिये समझना चाहता हो उसे यह बात यथार्थ रूप से समझ मे आ सकती है। दूसरे हठी जीव तो इसे समझे विना विपरीत ग्रहण करते है और ज्ञायकस्वभाव के निर्णय का पुरुषार्थ छोड़कर क्रमबद्धपर्याय के नाम से अपने स्वच्छन्द की पुष्टि करते हैं। जिसे ज्ञान की श्रद्धा नही है, केवली की प्रतीति नही है, अन्तर् मे वैराग्य नही है, कषाय की मदता भी नही है, स्वच्छन्दता बनी है और क्रमबद्धपर्याय का नाम लेता है—ऐसे हठी–स्वच्छन्दी जीव की यहाँ बात नही है। जो इस क्रमबद्धपर्याय को समझ ले उसे स्वच्छन्द रह ही नही सकता, वह तो ज्ञायक हो जाता है। भगवान ! क्रमबद्धपर्याय समझकर हम तो तुझे अपने ज्ञायक आत्मा का निर्णय करानां चाहते हैं और यह बतलाना चाहते हैं कि आत्मा पर का अकर्ता है। यदि अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय नही करेगा तो तू क्रमवद्धपर्याय को समझा ही नही है।

जीव और अजीव समस्त पदार्थों की तीनों काल की पर्यायें क्रमबद्ध हैं—उन सबको जाना किसने ? सर्वज्ञदेव ने ।

"सर्वज्ञदेव ने ऐसा जाना"—इस प्रकार सर्वज्ञता का निर्णय किसने किया ?—अपनी ज्ञानपर्याय ने ।

वर्तमान ज्ञानपर्याय अल्पज्ञ होने पर भी उसने सर्वज्ञता का निर्णय किसके समक्ष देखकर किया ?—ज्ञानस्वभाव की ओर देखकर वह निर्णय किया है ।

इस प्रकार जो जीव अपने ज्ञायकस्वभाव के निर्णय का पुरुषार्थ करता है उसीको क्रमबद्धपर्याय का निर्णय होता है, और वह जीव पर का तथा राग का अकर्ता होकर ज्ञायकभाव का ही कर्ता होता है । ऐसे जीव को ज्ञानस्वभाव के निर्णय में पुरुषार्थ, स्वकाल आदि पाँचो समवाय एक साथ आ जाते है ।

(६) इसमें ज्ञायकस्वभाव का पुरुषार्थ है इसलिये यह नियतवाद नहीं है

प्रश्नः—गोम्मटसारमे तो नियतवादी को मिथ्यादृष्टि कहा है न ?

उत्तरः—गोम्मटसार में जो नियतवाद कहा है वह तो स्वच्छन्दी का है; जो जीव सर्वज्ञ को नहीं मानता, ज्ञानस्वभाव का निर्णय नहीं करता, अन्तरोन्मुख होकर समाधान नही किया है, विपरीत भावो के उछाले कम भी नही किये हैं, और 'जैसा होना होगा'—ऐसा कहकर मात्र स्वच्छन्दी होता है और मिथ्यात्व का पोषण करता है, ऐसे जीव को गोम्मटसार मे गृहीत मिथ्यादृष्टि कहा है; किन्तु ज्ञानस्वभाव के निर्णयपूर्वक यदि इस क्रमबद्धपर्याय को समझे तो ज्ञायकस्वभाव की ओर के पुरुषार्थ द्वारा मिथ्यात्व और स्वच्छन्द छूट जाये ।

(७) भय का स्थान नहीं किन्तु भय के नाश का कारण

प्रश्नः—क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करते हुए शायद स्वच्छन्दी

हो जायेंगे—ऐसा भय है, इसलिये ऐसे भयस्थान मे किसलिये जाना चाहिये ?

उत्तरः—अरे भाई ! क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करना अर्थात् अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय करना, वह कही भय का कारण नही है; वह तो स्वच्छन्द के नाश का और निर्भयता होने का कारण है। ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के बिना, मैं पर को बदल दूँ—ऐसी कर्तावुद्धि से स्वच्छन्दी हो रहा है, उसके बदले पदार्थों की पर्याय उनके अपने से ही क्रमबद्ध होती है, मैं उसका कर्ता या बदलनेवाला नही हूँ, मैं तो ज्ञायक हूँ—ऐसी प्रतीति होने से स्वच्छन्द छूटकर स्वतंत्रता का अपूर्व भान होता है। यह क्रमबद्धपर्याय की समझ भय का स्थान नही है, भय तो मूर्खता और अज्ञान में होता है, यह तो भय के और स्वच्छन्द के नाश का कारण है।

(८) "ज्ञायकपना" ही आत्मा का परम स्वभाव है

आत्मा ज्ञायक वस्तु है, ज्ञान ही उसका परम स्वभाव-भाव है। 'ज्ञायकपना' आत्मा का परम भाव है, वह स्व-पर के ज्ञातृत्व के सिवा दूसरा क्या कर सकता है ? जैसा 'है' और जैसा 'होता है' उसका वह ज्ञाता है। द्रव्य और गुण वह त्रिकाल सत् और पर्याय वह एक एक समय का सत्, उस सत् का आत्मा ज्ञाता है, किन्तु किसी पर का उत्पादक, नाशक या उसमे फेरफार करनेवाला नही है। यदि उत्पन्न करना, नाश करना या फेरफार करना माने तो वहाँ ज्ञायक-भावपने की प्रतीति नही रहती। इसलिये जो ज्ञानस्वभाव को नही मानता और पर मे फेरफार करना मानता है उसे ज्ञायकत्व नही रहता किन्तु मिथ्यात्व हो जाता है।

(९) "छूत का रोग" नहीं किन्तु वीतरागता का कारण

कुछ लोग कहते हैं कि आजकल क्रमबद्धपर्याय नामक 'छूतका रोग' फैल रहा है। अरे भाई ! यह क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति तो

वीतरागता का कारण है। जो वीतरागता का कारण है उसे तू रोग कहता है? क्रमबद्धपर्याय न माने तो वस्तु ही नही रहती। क्रमबद्ध-पर्यायपना तो वस्तु का स्वरूप है; उसे रोग कहना महान विपरीतता है। द्रव्य प्रतिसमय अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है—ऐसा उसका धर्म है; क्रमबद्धपर्याय मे जिस समय जिस पर्याय का स्वकाल है, उस समय द्रव्य उसी पर्याय को द्रवित होता है-प्रवाहित होता है, ऐसा ही वस्तुस्वभाव है और अपना स्वभाव ज्ञायक है। ऐसे स्वभाव को मानना वह रोग नही है, किन्तु ऐसे वस्तुस्वभाव को न मानकर फेरफार करना मानना वह मिथ्यात्व है और वही महान रोग है।

(१०) अमुक पर्यायें क्रम से और अमुक अक्रमरूप होती हैं—ऐसा नहीं है

प्रत्येक द्रव्य की तीनो काल की पर्यायो मे क्रमबद्धपना है, उसे जो न माने वह सर्वज्ञता को नही मानता, वह आत्मा के ज्ञान-स्वभाव को नही मानता; क्योंकि यदि आत्मा के ज्ञानस्वभाव की यथार्थ प्रतीति करे तो उसमे क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति भी अवश्य आ जाती है।

यहाँ क्रमबद्धपर्याय का कथन हो रहा है उसमें अनादि अनंतकाल की समस्त पर्याये समझ लेना चाहिये। द्रव्य की अमुक पर्याये क्रमबद्ध हो और अमुक अक्रम से हों-ऐसे दो भाग नही हैं। कोई ऐसा कहे कि—"अबुद्धिपूर्वक पर्याये तो ज्ञान की पकड मे नही आती, इसलिये वे तो क्रमबद्ध होती है, किन्तु बुद्धिपूर्वक की पर्यायो मे क्रमबद्धपना लागू नही होता, वे तो अक्रमरूप भी हो सकती है।"—यह बात सच्ची नही है। अबुद्धिपूर्वक की या बुद्धिपूर्वक की कोई भी पर्याय क्रमबद्ध ही होती है। जड़ और चेतन समस्त द्रव्यों की सभी पर्यायें क्रमबद्ध ही होती है। कोई ऐसा कहे कि—"भूतकाल की पर्याये तो हो चुकी है, इसलिये उनमे कोई फेरफार नही हो सकता, किन्तु भविष्य की पर्याये बाकी है, इसलिये उनके क्रम में फेरफार किया जा

सकता है।" ऐसा कहनेवाले को भी पर्याय का क्रम वदलने की बुद्धि है वह पर्यायबुद्धि है। आत्मा ज्ञायक है उसकी प्रतीति करने की यह बात है। ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करे तो "मैंने इसका ऐसा किया और उसका वैसा न होने दिया"—ऐसी कर्ताबुद्धि की सब विपरीत मान्यताओ का भुक्का उड़ जाता है अर्थात् विपरीत मान्यता चूरचूर हो जाती है और अकेली ज्ञायकता रहती है।

(११) ऐसी सत्य बात के श्रवण की भी दुर्लभता

अभी कई जीवो ने तो यह बात सत्समागम से यथार्थतया सुनी भी नही है। 'मैं ज्ञान हूँ, जगत की प्रत्येकवस्तु अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होती है, उसका मैं ज्ञाता हूँ, किन्तु किसीका कही बदलनेवाला नही हूँ'—ऐसा यथार्थ सत्य सत्समागम से सुनकर जिसने जाना भी नही है, उसे अन्तर मे उसकी सच्ची धारणा कहाँ से होगी? और धारणा विना उसकी यथार्थ रुचि और परिणमन तो कहाँ से हो? आजकल यह बात अन्यत्र कही सुनने को भी नही मिलती। यह बात समझकर उसका यथार्थ निर्णय करने योग्य है।

(१२) क्रम और वह भी निश्चित

'जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव, नाजीवः ' यह मूल टीका है, इसके हिन्दी अर्थ मे पडित जयचद्रजी ने ऐसा लिखा है कि-'जीव प्रथम ही क्रमकर निश्चित् अपने परिणामो कर उत्पन्न हुआ जीव ही है, अजीव नही है।' क्रम तो है ही, और वह भी नियमित, अर्थात् इस द्रव्य मे इस समय ऐसी ही पर्याय होगी-यह भी निश्चित् है।

कोई ऐसा कहे कि-'पर्याय क्रमबद्ध है अर्थात् वह एक के बाद एक क्रमश होती है-यह ठीक है, किन्तु किस समय कैसी पर्याय होगी वह निश्चित् नही है'—तो यह बात सत्य नही है। क्रम और वह भी निश्चित् है; किस समय की पर्याय कैसी होना है वह भी निश्चित् है।

यदि ऐसा न हो तो सर्वज्ञ ने जाना क्या ? अहो ! यह क्रमबद्धपर्याय की बात जिसकी प्रतीति मे आये उसके ज्ञानस्वभाव की दृष्टि होकर मिथ्यात्व का और अनन्तानुबन्धीकषाय का नाश हो जाता है; उसके स्वच्छन्दता नही किन्तु स्वतंत्रता होती है। निर्मानता, निर्मोहता, पवित्रता जीवन में प्रगट करना हो तो ऐसे ज्ञायकस्वभाव का निश्चय प्रथम से ही होना चाहिये। ✓

(१३) ज्ञानस्वभाव का पुरुषार्थ और उसमें एक साथ पाँच समवाय

अज्ञानी कहते हैं कि—"इस क्रमबद्धपर्याय को मानें तो पुरुषार्थ उड जाता है"—किन्तु ऐसा नहीं है। इस क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करने से कर्ताबुद्धि का मिथ्याभिमान उड़ जाता है और निरंतर ज्ञायकपने का सच्चा पुरुषार्थ होता है। ज्ञानस्वभाव का पुरुषार्थ न करे उसके क्रमबद्ध पर्याय का निर्णय भी सच्चा नही है। ज्ञानस्वभाव के पुरुषार्थ द्वारा क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करके जहाँ पर्याय स्वसन्मुख हुई वहाँ एक समय मे उस पर्याय मे पाँचो समवाय आ जाते हैं। नाटक समयसार मे पं० बनारसीदास जी भी कहते है कि—

टेक डारी एक मैं अनेक खोजै सो सुबुद्धि,
खोजी जीवे वादी मरै साँची कहवति है ॥ ४५ ॥

दुराग्रह को छोड़कर एक में अनेक धर्मो को ढूँढना सम्यग्ज्ञान है। इसलिये ससार मे जो कहावत है कि "खोजी पावे वादी मरे" सो सत्य है।

पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियत और कर्म का अभाव—यह पाँचों समवाय एकसमय की पर्याय मे आ जाते है।

(१४) स्वामी कार्तिकेय अनुप्रेक्षा और गोम्मटसार के कथन की संधि

स्वामी कार्तिकेय अनुप्रेक्षा मे गाथा ३२१-२२-२३ मे स्पष्ट कहा है कि जिस समय जैसा होना सर्वज्ञदेव ने देखा है, उस समय वैसा ही

वीतरागी

होगा, उसे बदलने में कोई समर्थ नही है।—जो ऐसा श्रद्धान करता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है और जो उसमे शंका करता है वह प्रगटरूप से मिथ्यादृष्टि है, उसे सर्वज्ञ की श्रद्धा नही है।

जो जीव ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा नही करता और मात्र क्रमबद्धपर्याय का नाम लेकर स्वच्छन्द से विपय–कषाय का पोषण करता है उसे गोम्मटसार मे गृहीत मिथ्यादृष्टि गिना है, किन्तु निर्मल–ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करके जो जीव क्रमबद्धपर्याय को मानता है उस जीव को कही भी मिथ्यादृष्टि नही कहा है।

(१५) एक बार......यह बात तो सुन !

अहो, आत्मा का ज्ञानस्वभाव, जिसमे भव नही है, उसका जिसने निर्णय किया वह क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ, उसे भेदज्ञान हुआ, उसने केवली को यथार्थरूप से माना। प्रभु! ऐसा ही वस्तुस्वरूप है और ऐसा ही तेरा ज्ञानस्वभाव है, एकबार आग्रह छोड़कर अपनी पात्रता और सज्जनता लाकर यह बात तो सुन।

(१६) राग की रुचिवाला क्रमबद्धपर्याय को समझा ही नहीं

प्रश्नः—आप कहते हैं कि क्रमबद्धपर्याय होती है, तो फिर क्रमबद्धपर्याय मे जो राग होना होगा वह होता है?

उत्तरः—भाई! तेरी रुचि कहाँ अटकी है? तुझे ज्ञान की रुचि है या राग की? जिसे ज्ञानस्वभाव की रुचि और दृष्टि हुई है, वह तो फिर अस्थिरता के अल्पराग का भी ज्ञाता ही है। और 'जो राग होना था वह हुआ'—ऐसा कहकर जो राग की रुचि नही छोडता वह तो स्वच्छन्दी–मिथ्यादृष्टि है। जो यह क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप समझे उसकी तो दृष्टि पलट जाती है।

(१७) उल्टा प्रश्न—"निमित्त न आये तो......?"

'ऐसा निमित्त आये तो ऐसा होता है, और निमित्त न आये

तो नहीं होता'—इस प्रकार जिनके निमित्ताधीन दृष्टि है उन्हें क्रमबद्ध पर्याय की यथार्थ प्रतीति नही है। 'क्रमबद्धपर्याय होना हो किन्तु निमित्त न आये तो ?' यह प्रश्न ही उल्टा है। क्रमबद्धपर्याय में जिस समय जो निमित है वह भी निश्चित् ही है; निमित्त न हो ऐसा होता ही नही।

(१८) दो नई बातें !—समझे उसका कल्याण

एक तो नियमसार की "कारण शुद्ध पर्याय" की बात, और दूसरी यह 'क्रमबद्धपर्याय' की बात।—यह दो बातें सोनगढ से नई निकली है—ऐसा कई लोग कहते है, लोगों मे आजकल यह बात प्रचलित नही है इसलिये नई मालूम होती है। शुद्धकारणपर्याय की बात सूक्ष्म है, और दूसरी यह क्रमबद्धपर्याय की बात सूक्ष्म है,—यह बात जिसे जम जाये उसका कल्याण हो जाता है ! यह एक क्रमबद्ध-पर्याय की बात बराबर समझे तो उसमे निश्चय–व्यवहार और उपादान–निमित्त आदि सब स्पष्टीकरण आ जाते हैं। वस्तु की पर्याय क्रमबद्ध और मैं उसका ज्ञायक—यह समझने से सब समाधान हो जाते हैं। भगवान ! अपने ज्ञायकस्वभाव को भूलकर तू पर के करने की मान्यता मे रुक गया ? पर में तेरी प्रभुता या पुरुषार्थ नही है; इस ज्ञायकभाव मे ही तेरा प्रभुता है, तेरा प्रभु तेरे ज्ञायकमन्दिर मे विराजमान है उसके सन्मुख हो और उसकी प्रतीति कर।

(१९) आत्मा अनादि से ज्ञायकभावरूप ही रहा है

जगत मे एकेन्द्रिय से लेकर पन्चेन्द्रिय तक का प्रत्येक जीव और अनंत सिद्धभगवान, और अनन्तानन्त परमाणुओ में प्रत्येक परमाणु,—वे सव क्रमबद्धरूप से परिणमित हो ही रहे हैं, मैं उनमें क्या बदल सकता हूँ ? मै तो ज्ञायक हूँ—ऐसा जो निर्णय करे उसे सम्यग्दर्शन हो जाता है। आत्मा का ज्ञान स्वभाव हैं वह अनादि अनंत जानने का ही कार्य करता है। आत्मा तो अनादिकाल से ज्ञायकभावरूप

मानता है ? जिसने ज्ञायकस्वभाव की ओर देखकर क्रमवद्धपर्याय का निर्णय किया, वह राग का भी ज्ञाता ही हो गया है; यह राग वदलकर इस समय ऐसा राग करूँ इसप्रकार राग को वदलने की बुद्धि मे से उसका वीर्य हट गया और ज्ञानस्वभाव की ओर ढल गया, उसके राग दूर होने का क्रम चालू हो गया है, वर्तमान साधकदशा हुई है और उसी पुरुषार्थ से क्रमवद्धपर्याय के क्रम मे अल्पकाल मे केवलज्ञान भी आयेगा, उसका पुरुषार्थ चल रहा है। ज्ञानी को क्रमवद्धपर्याय के निर्णय मे स्वभाव की दृष्टि से प्रयत्न चालू ही है, वह ज्ञान की अधिकता रूप ही अर्थात् भूतार्थ के आश्रित ही परिणमित होता है, उसमे न उतावल है और न प्रमाद है। प्रवचनसार की २०२ वी गाथा मे प० हेमराजजी कहते है कि—विभावपरिणति को छूटता न देखकर सम्यग्दृष्टि जीव आकुल-व्याकुल भी नही होता और समस्त विभावपरिणति को टालने का पुरुषार्थ किये बिना भी नही रहता, भूतार्थस्वभाव का आश्रय करके वर्तता है उसमे उसे पुरुषार्थ वना ही रहता है। एक साथ पाँचों समवाय उसमे आ जाते हैं।

(२५) अपने-अपने अवसरों में प्रकाशमान रहते हैं...

प्रवचनसार गाथा ६६ "सदवट्ठिदं सहावे दव्व " इत्यादि मे आचार्यदेव ने क्रमबद्धपर्याय का सिद्धात अलौकिक रीति से रख दिया है। हार के मोती के दृष्टात से, द्रव्य के परिणाम अपने-अपने अवसरो मे प्रकाशमान रहते हैं—यह बात समझाकर क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप एकदम स्पष्ट कर दिया है। और एक ही समय मे उत्पादव्यय,-ध्रुव होने पर भी उन तीनो का भिन्न-भिन्न लक्षण है—नाश अर्थात् व्यय, नष्ट होनेवाले भाव के आश्रित है, उत्पाद, उत्पन्न होनेवाले भाव के आश्रित है और ध्रौव्य स्थित रहनेवाले भाव के आश्रित है।—इसप्रकार प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रुव कहकर उसमे भी क्रमबद्धपर्याय की साँकल बना ही है। (देखो गाथा १०१)

(२६) 'सत्' और उसे जाननेवाला ज्ञानस्वभाव

अहो ! भगवन्तों ने जगल मे निवास करके, अपने ज्ञान मे वस्तुस्वरूप को ग्रहण करके तादृश वर्णन किया है। एक ओर सम्पूर्ण सत् का ज्ञेय पिण्ड जगत मे पडा है और दूसरी ओर उसे जाननेवाला ज्ञानस्वभाव है। महासत्ता सत्, अवांतरसत्ता सत्, जड़–चेतन प्रत्येक द्रव्य त्रिकाल सत् और उसकी प्रत्येक समय की पर्याय भी क्रमबद्धप्रवाह मे उसके अपने स्वकाल से सत्, और इन सबको जाननेवाली ज्ञानपर्याय भी सत्।–इसप्रकार सब क्रमबद्ध और व्यवस्थित सत् है। जहाँ उसका निर्णय किया वहाँ अपने को ज्ञातृत्व ही रहा और कर्तृत्व की मिथ्या-बुद्धि दूर हो गई। सत् का ज्ञाता न रहकर उस सत् को बदलना चाहे वह मिथ्याबुद्धि है।

(२७) ज्ञानस्वभाव के निर्णय में पाँचों समवाय आ जाते हैं

समस्त पर्यायें तो क्रमबद्ध ही है, किन्तु उसका निर्णय कौन करता है? ज्ञाता का ज्ञान ही उसका निर्णय करता है। जिस ज्ञान ने ऐसा निर्णय किया उसने अपना (ज्ञानस्वभाव का) निर्णय भी साथ ही कर लिया है। जहाँ स्वभाव सन्मुख होकर ऐसा निर्णय किया वहाँ—

(१) स्वभाव की ओर का सम्यक् "पुरुषार्थ" आया,

(२) जो शुद्धता प्रगट हुई है वह स्वभाव मे से हुई है इसलिये "स्वभाव" भी आया,

(३) उस समय जो निर्मल पर्याय प्रगट होनी थी वही प्रगटी है, इसलिये "नियत" भी आया,

(४) जो निर्मलदशा प्रगट हुई है वही उस समय का स्वकाल है, इसप्रकार स्वकाल भी आ गया,

(५) उस समय निमित्तरूप कर्म के उपशमादि स्वयं वर्तते हैं, इसप्रकार 'कर्म' भी अभावरूप निमित्तरूप से आ गया,

—उपरोक्तानुसार स्वभावसन्मुख पुरुषार्थ में पाँचों समवाय एक साथ आ जाते हैं।

(२८) उदीरणा—संक्रमणादि में भी क्रमबद्धपर्याय का नियम

कर्म को उपशम, उदीरणा, सक्रमणादि अवस्थाओं का शास्त्र मे वर्णन आता है, वह सब अवस्थायें भी क्रमबद्ध ही है, शुभभाव से जीव ने असाता प्रकृति का साता रूप से सक्रमण किया—ऐसा कथन आता है, परन्तु वहाँ, कर्म की वह अवस्था होना नही थी और जीव ने की—ऐसा नही है, किन्तु वैसी अवस्था होने के समय जीव के वैसे परिणाम निमित्त होते हैं—ऐसा बतलाया है। सर्वत्र एक ही अबाधित नियम है कि पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध है और आत्मा ज्ञायक है—फेरफार करनेवाला नही है। जीव ने शुभभाव किये और कर्म मे असाता पलटकर साता हुई, वहाँ उस कर्म की अवस्था मे फेरफार तो हुआ है, किन्तु उससे कही उसकी अवस्था का क्रम नही टूटा है, और जीव ने शुभभाव करके उस अजीव मे फेरफार किया—ऐसा भी नही है, असाता बदलकर साता हुई वहाँ ऐसा ही उस अजीव की अवस्था का क्रम था।

(२९) द्रव्य सत्, पर्याय भी सत्

लोग कहते है कि—जीव सब छोडकर चला गया, किन्तु वहाँ उसने कही जीवत्व छोडा है? जीव तो जीवरूप रहकर ही अन्यत्र गया है न! जिसप्रकार जीव जीवरूप से सत् रहा है उसीप्रकार उसकी प्रत्येक समय की पर्याय भी उस उस समय का सत् है, वह बदलकर दूसरे समय की पर्यायरूप नही हो जाती।

(३०) ज्ञायक के निर्णय बिना सब पढ़ाई उल्टी है

मैं ज्ञान हूँ–ज्ञायक हूँ ऐसा न मानकर पर मे फेरफार करना मानता है वह बुद्धि ही मिथ्या है। भाई! आत्मा ज्ञान है–इस बात

के निर्णय बिना तेरी सब पढ़ाई उल्टी है; तेरे तर्क और न्याय भी विपरीत है। ज्ञानस्वभाव की गम पड़े बिना आगम भी अनर्थकारी हो जाते है। शास्त्र मे निमित्त से कथन आये वहाँ अज्ञानी अपनी विपरीत दृष्टि के अनुसार उसका आशय लेकर उल्टा मिथ्यात्व का पोषण करता है।

(३१) "मैं तो ज्ञायक हूँ"

सब जीवो की पर्याय क्रमबद्ध है तो मैं किसे बदल सकता हूँ ? सर्व अजीवो की पर्याय भी क्रमबद्ध है तो मैं किसे पलट सकता हूँ ?—मैं तो ज्ञायक हूँ; ज्ञायकत्व ही मेरा परम स्वभाव है। मैं ज्ञाता ही हूँ, किसीको बदलनेवाला नही हूँ। किसीका दु:ख मिटा दूँ या सुखी कर दूँ यह बात मुझमें नही है—इसप्रकार अपने ज्ञायक आत्मा का निर्णय करना वह सम्यग्दर्शन है।

(३२) अपनी मानी हुई सब बात को बदलकर यह बात समझना पड़ेगी

सोलापुर मे अधिवेशन के समय विद्वत्परिषद ने इस क्रमबद्ध-पर्याय के सम्बन्ध मे चर्चा उठाई थी, किन्तु उसका कोई निर्णय नहीं आया, ज्यों का त्यों गीला ही समेट लिया, क्योकि जो इस बात का निर्णय करने लगे तो, निमित्त के कारण कही फेरफार होता है—यह बात नही रहती और अभी तक का रटा हुआ सब बदलना पड़ता है। किन्तु वह सब बदलकर, क्रमबद्धपर्याय जिस प्रकार कही जाती है उसका निर्णय किये विना किसी प्रकार श्रद्धा-ज्ञान सच्चे नही हो सकते।

(३३) क्रमबद्ध परिणमित होने वाले ज्ञायक का अकर्तृत्व

आत्मा ज्ञानस्वभावी वस्तु है; ज्ञान उसका परम स्वभाव है; और ज्ञान के साथ श्रद्धा, चारित्र, आनन्द, वीर्य इत्यादि अनन्त गुण रहते है। द्रव्य परिणमित होने से उन समस्त गुणों का क्रमानुसार परिणमन होता है।

आत्मा ज्ञायक है इसलिये उसका स्वभाव स्वपर को जानने का है, पर को करे या राग द्वारा पर का कारण हो ऐसा उसका स्वभाव नही है, और पर उसका कुछ करे या स्वय पर को कारण बनाये—ऐसा भी स्वभाव नही है; इसप्रकार अकारणकार्यस्वभाव है।

यहाँ सर्वविशुद्धज्ञान–अधिकार मे यह क्रमवद्धपर्याय की वात लेकर आचार्यदेव ने जीव का अकर्तृत्व सिद्ध किया है, अर्थात् जीव ज्ञायक ही है–ऐसा समझाया है। जीव ज्ञानस्वभावी है, उसके अनत गुणो की समय–समय की पर्यायें क्रमवद्ध ही उत्पन्न होती हैं और वे जीव के साथ एकमेक हैं। तीनकाल की प्रत्येक पर्याय अपने स्वकाल मे ही उत्पन्न होती है, कोई भी पर्याय उल्टी–सीधी उत्पन्न नही होती।

(३४) पुरुषार्थ का महान प्रश्न

इसमे महान प्रश्न यह है कि–"तब फिर पुरुषार्थ कहाँ रहा ?"

समाधान:–यह निर्णय किया वहाँ मात्र ज्ञातापना ही रहा, इसलिये पर मे फेरफार करने की बुद्धि से हटकर पुरुषार्थ का बल स्वभाव की ओर ढल गया। इसप्रकार ज्ञान के साथ वीर्यगुण (पुरुषार्थ) भी साथ ही है। ज्ञान की क्रमबद्धपर्याय के साथ स्वभाव की ओर का पुरुषार्थ भी साथ ही वर्तता है, क्रमवद्धपर्याय मे पुरुषार्थ कही पृथक् नही रह जाता। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करके ज्ञान स्वोन्मुख हुआ वहाँ उसके साथ वीर्य, सुख, श्रद्धा, चारित्र, अस्तित्व इत्यादि अनन्तगुण एकसाथ ही परिणमित होते हैं, इसलिये इसमे पुरुषार्थ भी साथ ही है।

(३५) "ज्ञापक" और "कारक"

अनादि–अनंतकाल मे किस समय किस द्रव्य की कैसी पर्याय है वह सर्वज्ञदेव ने वर्तमान मे प्रत्यक्ष जान लिया है, किन्तु सर्वज्ञदेव ने जाना इसलिये वे द्रव्य वैसी क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होते

है—ऐसा नही है, किन्तु उस-उस समय की निश्चित् क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होने का द्रव्यों का ही स्वभाव है। सर्वज्ञ का केवल-ज्ञान तो 'ज्ञापक' अर्थात् बतलानेवाला है, वह कही पदार्थो का कारक नही है। छहो द्रव्य ही स्वयं अपने-अपने छह कारकरूप से परिणमित होते है।

❀ दूसरा प्रवचन ❀

[आश्विन कृष्णा १३, वीर सं० २४८०]

पर्याय क्रमबद्ध होने पर भी शुद्धस्वभाव के पुरुषार्थ बिना शुद्धपर्याय कभी नही होती। ज्ञानस्वभाव की प्रतीति का अपूर्व पुरुषार्थ करे उसीको सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें क्रमबद्ध होती हैं।

(३६) जिसका पुरुषार्थ ज्ञायक की ओर ढला उसीको क्रमबद्ध की श्रद्धा हुई

"अहो ! मैं ज्ञायक हूँ, ज्ञान ही मेरा परम स्वभाव है,—ऐसे निर्णय का अन्तर मे प्रयत्न करे उसके ऐसा निर्णय हो जाता है कि वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है और सर्वज्ञदेव ने केवलज्ञान से ऐसा ही जाना है। जिस जीव ने अपने ज्ञान मे ऐसा निर्णय किया उसे सर्वज्ञ से विरुद्ध कथन करनेवाले (अर्थात् निमित्त के कारण कुछ फेरफार होता है या राग से धर्म होता है-ऐसा मनानेवाले) कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की मान्यता छूट गई है; उसका पुरुषार्थ ज्ञानस्वभाव की ओर ढला है और उसीको सर्वज्ञदेव की तथा क्रमबद्धपर्याय की यथार्थ श्रद्धा हुई है।

(३७) सर्वज्ञदेव को न माननेवाले

कोई ऐसा कहे कि "सर्वज्ञदेव भविष्य की पर्याय को वर्तमान मे नही जानते, किन्तु जब वह पर्याय होगी तब वे उसे जानेंगे !"—

तो ऐसा कहनेवाले को सर्वज्ञ की श्रद्धा भी नही रही। भाई रे! भविष्य के परिणाम होंगे तब सर्वज्ञदेव जानेंगे—ऐसा नही है, सर्वज्ञदेव को तो पहले से ही तीनकाल-तीनलोक का ज्ञान वर्त रहा है। तुझे ज्ञायकरूप से नही रहना है किन्तु निमित्त द्वारा क्रम बदलना हो सकता है ऐसा मानना है तो यह तेरी दृष्टि ही विपरीत है। ज्ञानस्वभाव की दृष्टि करने से पर्याय का निर्मल क्रम प्रारम्भ हो जाता है, यह नियम है।

जीव-अजीव के सर्व परिणाम क्रमबद्ध जैसे हैं वैसे सर्वज्ञदेव ने जाने हैं और सूत्र मे भी वैसे ही बतलाये हैं, इसलिये आचार्यदेव ने गाथा मे कहा है कि—"जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते...." जीव-अजीव के क्रमबद्ध परिणाम जैसे है वैसे ही उसी सब प्रकारो के सर्वज्ञदेव ज्ञाता है, किन्तु उनके कारक नही हैं।

(३८) जो आत्मा का ज्ञायकपना नहीं मानता वह केवली आदि को भी नहीं मानता

जीव प्रतिसमय अपने क्रमबद्धपरिणामरूप से उत्पन्न होता है; जीव मे अनन्त गुण होने से एक समय मे उन अनन्त गुणो के अनत परिणाम होते है, उनमे प्रत्येक गुण के परिणाम प्रतिसमय नियमित क्रमबद्ध ही होते हैं।—ऐसे वस्तुस्वभाव का निर्णय करने से ज्ञान स्वसन्मुख होकर अकर्तारूप से—साक्षीभाव से परिणमित हुआ, वहाँ, साधकदशा होने से अभी अस्थिरता का राग भी होता है किन्तु ज्ञान तो उसका भी साक्षी है। स्व-परप्रकाशकज्ञान विकसित हुआ उसकी क्रमबद्धपर्याय ऐसी ही है कि उससमय ज्ञायक को जानते हुए वैसे राग को भी जाने। ऐसे ज्ञायकपने को न माने और पर्याय के क्रम मे फेरफार करना माने तो वह जीव आत्मा के ज्ञानस्वभाव को नही मानता; केवलीभगवान को भी वह नही मानता और केवलज्ञान के साधक गुरु कैसे होते हैं उन्हे भी वह नही जानता। क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति करके जिसने अपने ज्ञानस्वभाव को प्रतीति मे लिया उसे सम्यग्दर्शनादि हुए

है, और उसीने वास्तव में केवलीभगवान को, उनके शास्त्रों को और गुरु को माना है।

(३९) पर्याय क्रमबद्ध होने पर भी, पुरुषार्थी को ही सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें होती हैं

देखो, इसमें आत्मा के ज्ञायकस्वभाव के पुरुषार्थ की बात है। "क्रमबद्धपर्याय" का ऐसा अर्थ नही है कि जीव चाहे जैसे कुधर्म को मानता हो तथापि उसे सम्यग्दर्शन हो सकता है। अथवा चाहे जैसे तीव्र विषय-कषायों मे वर्तता हो या एकेन्द्रियादि पर्याय में वर्तता हो तथापि उसे भी क्रमबद्धरूप से उस पर्याय मे सम्यग्दर्शनादि हो जायें —ऐसा कभी नही होता। जो कुधर्म को मानते है, तीव्र विषय-कषाय मे वर्तते है, या एकेन्द्रिय मे पडे हैं, उन्हे कहाँ अपने ज्ञानस्वभाव की या क्रमबद्धपर्याय की खबर है? पर्याय क्रमबद्ध होने पर भी शुद्ध-स्वभाव के पुरुषार्थ बिना कदापि शुद्धपर्याय नही होती। ज्ञानस्वभाव की प्रतीति का अपूर्व पुरुषार्थ करे उसीको सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें क्रमबद्ध होती है और जो वैसा पुरुषार्थ नही करता उसे क्रमबद्ध मलिन पर्यायें होती है। पुरुषार्थ के बिना ही हमे सम्यग्दर्शनादि निर्मलदशा हो जायेगी—ऐसा कोई माने तो वह क्रमबद्धपर्याय का रहस्य समझा ही नहीं है। जो जीव कुदेव को, कुगुरु को, कुधर्म को मानता है और स्वच्छन्दता से तीव्र कषायों में वर्तता है—ऐसे जीव को क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा ही नही है। भाई! अपने ज्ञानस्वभाव के पुरुषार्थ बिना तूने क्रमबद्धपर्याय को कहाँ से जाना? जबतक कुदेव-कुधर्म आदि को माने तबतक उसकी क्रमबद्धपर्याय मे सम्यग्दर्शन की योग्यता हो ही नही सकती। सम्यग्दर्शन की योग्यतावाले जीव को उसके साथ ज्ञान का विकास, स्वभाव का पुरुषार्थ आदि भी योग्य ही होते है; एकेन्द्रियपना आदि पर्याय मे उसप्रकार के ज्ञान, पुरुषार्थ आदि नही होते, ऐसा ही उस जीव की पर्याय का क्रम है। यहाँ तो यह बात है कि पुरुषार्थ द्वारा जिसने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति की उसे

सम्यग्दर्शन हुआ, इसलिये पर का और रागादि का अकर्ता हुआ और उसीने क्रमबद्धपर्याय को यथार्थ रूप से जाना है। अभी तो कुदेव और सुदेव का निर्णय करने की भी जिसके ज्ञान मे शक्ति नही है, उस जीव मे ज्ञायकस्वभाव का और अनन्त गुणों की क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करने की शक्ति तो कहाँ से होगी ? और यथार्थ निर्णय के बिना क्रमबद्धपर्याय मे शुद्धता हो जाये—ऐसा नही होता।

(४०) "अनियतनय" या "अकालनय" के साथ क्रमबद्धपर्याय का विरोध नहीं है

प्रवचनसार के परिशिष्ट के ४७ नयो मे २७ वें अनियतनय से आत्मा को "अनियत" कहा है, परन्तु अनियत अर्थात् अक्रमबद्ध—ऐसा उसका अर्थ नही है। वहाँ पानी की उष्णता का उदाहरण देकर समझाया है कि जिसप्रकार उष्णता पानी का नित्यस्थायी स्वभाव नही है किन्तु उपाधिभाव है, इसलिये उस विकार की अपेक्षा से आत्मा को अनियत कहा है। इसीप्रकार ३१ वें बोल मे वहाँ "अकालनय" कहा है, उसमें भी कही इस क्रमबद्धपर्याय के नियम से विरुद्ध बात नही है, कही क्रमबद्धपर्याय को तोड़कर वह बात नहीं है। (इन अनियतनय तथा अकालनय सम्बन्धी विशेष समझ के लिये आत्मधर्म मे प्रकाशित होनेवाले पूज्य गुरुदेव के प्रवचन पढे ।)

(४१) जैनदर्शन की मूलवस्तु का निर्णय

मूल वस्तुस्वभाव क्या है उसका पहले बरावर निर्णय करना चाहिए। आत्मा का ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव क्या है ? और ज्ञेय पदार्थों का क्रमवद्धस्वभाव क्या है ?—उसके निर्णय मे विश्वदर्शनरूप जैन-दर्शन का निर्णय आ जाता है, किन्तु अज्ञानियो को उसका निर्णय नही है।

देखो, यह मूलवस्तु है, इसका पहले निर्णय करना चाहिये। इस मूलवस्तु के निर्णय विना धर्म नही हो सकता। जिस प्रकार कोई

आदमी किसी दूसरे आदमी के पास पाँचहजार की उगाही के लिये जाये, वहाँ कर्जदार आदमी उसे अच्छी-अच्छी मिठाइयों का भोजन कराये; किन्तु लेनदार कहे कि भाई ! भोजन की बात पीछे, पहले मुख्य (मूल) बात करो, यानी मैं पाँचहजार रुपये लेने आया हूँ; उनकी पहले व्यवस्था कर दो;—इस प्रकार वहाँ भी मुख्य बात पहले करते हैं; उसी प्रकार यहाँ मुख्य (मूल) रकम यह है कि आत्मा ज्ञान-स्वभावी है उसका निर्णय करना चाहिये। आत्मा ज्ञायकस्वभाव है और पदार्थों की पर्याय का क्रमबद्धस्वभाव है—उसका जो निर्णय नही करता, और "ऐसा निमित्त चाहिये तथा ऐसा व्यवहार चाहिये"—इसप्रकार व्यवहार की रुचि मे रुक जाता है उसका किंचित् भी हित नही होता। अहो ! मैं ज्ञायक हूँ—यह मूल बात जिसकी प्रतीति मे आ गई उसे क्रमबद्धपर्याय जमे बिना नही रहेगी; और जहाँ यह बात जमी वहाँ सब स्पष्टीकरण हो जाते है।

[४२] हार के मोतियों के दृष्टान्त द्वारा क्रमबद्धपर्याय की समझ; और ज्ञान को सम्यक् करने की रीति

प्रवचनसार की ९९ वी गाथा मे लटकते हुए हार का दृष्टान्त देकर उत्पाद-व्यय-ध्रुव सिद्ध किये है; उसमें भी क्रमबद्धपर्याय की बात आ जाती है। जिस प्रकार लटकते हुए हार के मोतियों मे पीछे पीछे के स्थानो में पीछे पीछे के मोतियों के प्रगट (प्रकाशित) होने से और आगे आगे के मोतियों के प्रगट नही होने से प्रत्येक मोती अपने-अपने स्थान मे प्रकाशित हैं; उसमे आगे-आगे के स्थान में आगे-आगे का मोती प्रकाशित होता है और पीछे-पीछे के मोती प्रकाशित नहीं होते; उसी प्रकार लटकते हुए हार की भाँति परिणमित द्रव्य मे समस्त परिणाम अपने-अपने अवसरों मे प्रकाशित रहते हैं; उसमे पीछे-पीछे के अवसरो मे पीछे-पीछेके परिणाम प्रगट होते हैं और आगे-आगे के परिणाम प्रगट नही होते। (देखो, गाथा ९९ की टीका।) लटकते हुए हार के डोरे मे उसका प्रत्येक मोती यथास्थान

क्रमवद्ध जमा हुआ है; यदि उसमें उल्टा–सीधा करने जाये–पाँचवें नम्बर का मोती हटा कर पच्चीसवें नम्बर पर लगाने जाये–तो हार का डोरा टूट जायेगा, इसलिये हार की अखण्डता नही रहेगी। उसी प्रकार जगत का प्रत्येक द्रव्य झूलता अर्थात् परिणमनशील है। अनादिअनन्त पर्यायरूप मोती क्रमवद्ध जमे हुए है, उसे न मानकर एक भी पर्याय का क्रम तोड़ने जाये तो गुण का और द्रव्य का क्रम टूट जायेगा, अर्थात् श्रद्धा ही मिथ्या हो जायेगी। मैं तो ज्ञायक हूँ, मैं निमित्त वनकर किसीकी पर्याय मे फेरफार कर दूँ—ऐसा मेरा स्वरूप नही है,—इस प्रकार ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति द्वारा अकर्तापना हो जाता है अर्थात् सम्यग्ज्ञान होता है, और वही जीव स्व-परप्रकाशक ज्ञान द्वारा इस क्रमवद्धपर्याय को यथार्थतया जानता है।—इसप्रकार अभी तो ज्ञान को सम्यक् करने की यह रीति है; इसे समझे विना सम्यग्ज्ञान नही हो सकता।

(४३) ज्ञायकभाव का परिणमन करे वही सच्चा श्रोता

इस क्रमवद्धपर्याय के विषय मे आजकल वडी गडवडी शुरू हुई है, इसलिये यहाँ उसका विशेष स्पष्टीकरण करते है। अभी तो जिसे इस बात के श्रवण का भी प्रेम न आये वह अन्तर में पात्र होकर परिणमित कहाँ से करेगा? और अकेले श्रवण का प्रेम करे किन्तु स्वच्छन्द टालकर अतर मे ज्ञायकभाव का परिणमन न करे तो उसने भी वास्तव मे यह बात नही सुनी है। यही बात समयसार की चौथी गाथा मे आचार्यदेव ने रखी है, वहाँ कहा है कि एकत्वविभक्त शुद्धात्मा का श्रवण जीव ने पहले कभी नही किया है, अनन्तबार साक्षात् तीर्थंकर भगवान के समवशरण मे जाकर दिव्यध्वनि सुन आया, तथापि आचार्य भगवान कहते हैं कि उसने भावभासनरूप शुद्धात्मा की बात का श्रवण किया ही नही, क्यो? क्योकि अन्तर मे उपादान जागृत करके उस शुद्धात्मा की रुचि नही की इसलिये उसके श्रवण मे निमित्तपना भी नही आया।

(४४) जहाँ स्वच्छन्द है वहाँ क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा नहीं है; साधक को ही क्रमबद्धपर्याय की सच्ची श्रद्धा है

प्रश्नः—क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा हो जाये, किन्तु पर्याय के क्रम में से स्वच्छन्द दूर न हो तो ?

उत्तरः—ऐसा हो ही नही सकता। भाई ! जो क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करे उसके पर्याय मे स्वच्छन्द का क्रम रह ही नहीं सकता; क्योंकि ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर उसने वह प्रतीति की है। ज्ञान-स्वभाव की पहिचान के पुरुषार्थ बिना अकेली क्रमबद्धपर्याय का नाम ले, उसकी यहाँ बात नही है, क्योंकि ज्ञानस्वभाव की पहिचान बिना वह क्रमबद्धपर्याय को भी नही समझा है। ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख होकर क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति की वहाँ तो अनन्तगुणों का अंश निर्मलरूप से परिणमित होने लगा है; श्रद्धा मे सम्यग्दर्शन हुआ, ज्ञान में सम्यग्ज्ञान हुआ, आनन्द के अंश का वेदन हुआ, वीर्य का अंश स्वोन्मुख हुआ,—इसप्रकार समस्त गुणों की अवस्था के क्रम में निर्मलता का प्रारम्भ हो गया। अभी जिसके श्रद्धा-ज्ञान सम्यक् नही हुए है, आनन्द का भान नही है, वीर्यबल अन्तर्स्वभावोन्मुख नहीं हुआ है, उसे क्रमबद्धपर्याय की सच्ची प्रतीति नही है। क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति के साथ तो स्वभाव की ओर का पुरुषार्थ है; श्रद्धा-ज्ञान सम्यक् हुए हैं, अतीन्द्रिय आनन्द और वीतरागता का अंश प्रगट हुआ है, इसलिये वहाँ स्वच्छन्द तो होता ही नहीं। साधकदशा मे अस्थिरता का राग आता है, किन्तु वहाँ स्वच्छन्द नही होता। और जो राग है उसका भी परमार्थतः तो वह ज्ञानी ज्ञाता ही है। इस प्रकार इसमें भेदज्ञान की बात है। सम्यग्दर्शन कहो, भेदज्ञान कहो या ज्ञायकभाव का पुरुषार्थ कहो, अथवा क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति कहो, वस्तुस्वभाव का निर्णय कहो—यह सब साथ ही हैं। क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धावाले को हठ भी नही रहती और स्वच्छन्द भी नही रहता। सम्यक्श्रद्धा होने के साथ ही उसे उसी क्षण चारित्र प्रगट करके मुनित्व धारण

कर लेना चाहिये—ऐसी हठ नही होती, और चाहे जैसा राग हो उसमे कोई हर्ज नही है—ऐसा स्वच्छन्द भी नहीं होता, ज्ञायकभावरूप मोक्षमार्ग का उद्यम उसके चलता ही रहता है। चारित्र की कमजोरी में अपना ही अपराध मानता है, किसी अन्य का दोप नही मानता।

(४५) यह समझे तो सब गुत्थियाँ सुलझ जायें

आजकल उपादान–निमित्त और निश्चय–व्यवहार की वडी उलझने चल रही हैं, यदि यह क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप वरावर समझे तो वे सारी गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं। "द्रव्य अपने क्रमवद्धपरिणाम-रूप से उत्पन्न होता है"–ऐसा कहा उसमें उस-उस पर्याय का क्षणिक उपादान आ जाता है। प्रत्येक समय की पर्याय अपने–अपने क्षणिक उपादान से ही क्रमवद्धरूप से नियमितरूप से उत्पन्न होती है, अपने परिणामों से ही अर्थात् उस समय की क्षणिक योग्यता से ही उत्पन्न होती है, निमित्त से उत्पन्न नही होती। प्रत्येक गुण में अपने–अपने क्षणिक उपादान से क्रमवद्ध परिणाम उत्पन्न होते हैं,—इस प्रकार अनन्त गुणो के अनन्त परिणाम एक समय मे उत्पन्न होते हैं। यह जो क्रमवद्धपना कहा जाता है वह "उद्धर्वता सामान्य" की अपेक्षा से अर्थात् कालप्रवाह की अपेक्षा से कहा जाता है।

(४६) वज्रभींत जैसा निर्णय

भाई! अपने ज्ञान को अतरोन्मुख करके एकवार वज्रभीत जैसा यथार्थ निर्णय तो कर। वज्रभीत जैसा निर्णय किये बिना मोक्षमार्ग की ओर तेरा वीर्य नही चलेगा। यह निर्णय करने से तेरी प्रतीति मे निरन्तर ज्ञान की अधिकता हो जायेगी और राग उस ज्ञान का ज्ञेय हो जायेगा। इसके अनुभवज्ञान विना अनादि से स्व-पर के स्वरूप को भूल कर पर का मैं करूँ और पर को वदल दूँ ऐसा मान रहा है—ऐसी बुद्धि तो संसारभ्रमण के कारणरूप है।

(४७) केवली की भाँति सर्व जीव ज्ञानस्वरूप हैं

आत्मा ज्ञानस्वभावी है, ज्ञान किसे वदलेगा? जिस प्रकार

केवलीभगवान जगत के ज्ञाता–दृष्टा ही हैं, उसी प्रकार यह आत्मा भी ज्ञाता–दृष्टापने का ही कार्य कर रहा है। भगवान एक समय में परिपूर्ण जानते हैं और यह जीव अल्प जानता है—इतना ही अन्तर है। किन्तु अपने ज्ञाता–दृष्टापने की प्रतीति न करके, अन्यथा मानकर जीव संसार में भटक रहा है। अल्प और अधिक ऐसे भेद को गौण कर डाले तो सर्व जीवों में ज्ञान का एक ही प्रकार है, समस्त जीव ज्ञानस्वरूप हैं और जानने का ही कार्य करते है, किन्तु ज्ञानरूप से अपना अस्तित्व है उसे प्रतीति मे न लेकर, ज्ञान के अस्तित्व में पर का अस्तित्व मिलाकर पर के साथ एकत्व मानता है, पर से लाभ–हानि मानता है वही दुःख और संसार है।

(४८) निमित्त वास्तव में कारक नहीं किन्तु अकर्ता है

"सर्वज्ञभगवान को तो परिपूर्ण ज्ञान विकसित हो गया है, वे तो 'ज्ञायक' है इसलिये वे पर में कुछ भी फेरफार नही करते, यह बात ठीक है, किन्तु यह जीव तो निमित्तरूप से कारक होकर अपनी इच्छानुसार पदार्थो मे फेरफार—उल्टासीधा कर सकता है ?"—ऐसा कोई कहे तो वह भी सत्य नही है। ज्ञायक हो या कारक हो, किन्तु पदार्थ की क्रमबद्धपर्याय को बदलकर कोई उल्टी–सीधी नही करता। प्रत्येक द्रव्य निरन्तर स्वयं ही अपना कारक होकर क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, निमित्तरूप दूसरा द्रव्य वास्तव मे कारक नही किन्तु अकारक है; अकारक को कारक कहना वह उपचारमात्र है; इसी प्रकार निमित्त अकर्ता है, उस अकर्ता को कर्ता कहना वह उपचार है–व्यवहार है—अभूतार्थ है।

(४९) ज्ञायक के निर्णय में ही सर्वज्ञ का निर्णय

भगवान सर्व के ज्ञायक हैं—ऐसा निर्णय किसने किया ? ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर स्वयं ज्ञायक हुआ तभी भगवान के ज्ञायकपने का यथार्थ निर्णय हुआ।

(५०) पर्याय में अनन्यपना होने से, पर्याय के बदलने पर द्रव्य भी बदलता है; चक्की के निचले पाट की भाँति वह सर्वथा कूटस्थ नहीं है

यहाँ ऐसा कहा है कि क्रमबद्धपरिणामरूप से द्रव्य उत्पन्न होता है—"दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं त तेहिं जाणसु अणण्णं" द्रव्य अपने जिन गुणो से जिन क्रमबद्धपरिणामोरूप उत्पन्न होता है उनमे उसे अनन्य जान। इसलिये, अकेली पर्याय ही पलटती है और द्रव्य गुण तो "चक्की के निचले पाट की भाँति" सर्वथा कूटस्थ ही रहते हैं—ऐसा नही है। पर्याय के बदलने से उस-उस पर्यायरूप से द्रव्य-गुण उत्पन्न होते हैं। पहले समय की पर्याय मे जो द्रव्य–गुण अनन्य थे वे दूसरे समय पलटकर दूसरे समय की पर्याय मे अनन्य हैं। पहले समय में पहली पर्याय का जो कर्ता था वह बदलकर दूसरे समय मे दूसरी पर्याय का कर्ता हुआ है। इसी प्रकार कर्ता की भाँति कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, और अधिकरण—इन सब कारको मे प्रतिसमय परिवर्तन होता है। पहले समय जैसा कर्तापना था वैसा ही कर्तापना दूसरे समय नही रहा; पर्याय के बदलने से कर्तापना आदि भी बदले हैं। कर्ता–कर्म आदि छह कारक पहले जिस स्वरूप मे थे उसी स्वरूप मे दूसरे समय नही रहे। पहले समय मे पहली पर्याय के साथ तद्रूप होकर उसका कर्तृत्व था, और दूसरे समय मे दूसरी पर्याय के साथ तद्रूप होकर उस दूसरी पर्याय का कर्तृत्व हुआ। इसप्रकार पर्याय अपेक्षा से, नई नई पर्यायो के साथ तद्रूप होता–होता सारा द्रव्य प्रतिसमय पलट रहा है; द्रव्य–अपेक्षा से ध्रुवता है। यह कुछ सूक्ष्म बात है।

प्रवचनसार की ९३ वी गाथा मे भी कहा है कि—"तेहिं पुणो पज्जाया......" द्रव्य तथा गुणो से पर्यायें होती हैं। द्रव्य के परिणमित होने से उसके अनन्त गुण भी क्रमबद्धपर्यायरूप से साथ ही परिणमित हो जाते हैं। पर्याय मे अनन्यरूप से द्रव्य उत्पन्न होता है—

ऐसा कहने से, पर्याय के परिणमित होने से द्रव्य भी परिणमित हुआ है—यह बात सिद्ध होती है; क्योंकि यदि द्रव्य सर्वथा ही परिणमित न हो तो पहली पर्याय से छूटकर दूसरी पर्याय के साथ वह कैसे तद्रूप होगा ? पर्याय के बदलने पर यदि द्रव्य न बदले तो वह अलग पड़ा रहेगा !—इसलिये दूसरी पर्याय के साथ उसकी तद्रूपता हो ही नहीं सकती। किन्तु ऐसा नही होता, पर्याय परिणमित होती रहे और द्रव्य अलग रह जाये ऐसा नही होता।

कोई ऐसा कहे कि—"पहले समय की जो पर्याय है वह स्वयं ही दूसरे समय की पर्यायरूप परिणमित हो जाती है, द्रव्य परिणमित नही होता"—तो यह बात असत्य है। पहली पर्याय में से दूसरी पर्याय नहीं आती, पर्याय में से पर्याय प्रगट होती है—ऐसा माननेवाले को तो "पर्यायमूढ" कहा है। पर्याय के पलटने पर उसके साथ द्रव्य, क्षेत्र और भाव भी (पर्याय अपेक्षा से) पलट गये है। यदि ऐसा न हो तो समय-समय की नई पर्याय के साथ द्रव्य का तद्रूपपना सिद्ध नही हो सकता। "सर्व द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है"—ऐसा कह कर आचार्यदेव ने अलौकिक नियम दिखा दिया है। श्री दीपचन्द जी कृत चिद्विलास में भी यह बात की है।

(५१) जीव का सच्चा जीवन

जीव अपने क्रमबद्धपरिणामरूप से उत्पन्न होता हुआ, उसमे तन्मयरूप से जीव ही है, अजीव नही है। अजीव के या राग के आश्रय से उत्पन्न हो ऐसा जीव का सच्चा स्वरूप नही है। और क्रमबद्ध-परिणाम न माने तो उसे भी वस्तुस्वरूप की खबर नही है। "जीवित जीव" तो अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से ही उत्पन्न होता है, उसके बदले अजीवादि निमित्त के कारण जीव उत्पन्न होता है—ऐसा माने, अथवा तो जीव निमित्त होकर अजीव को उत्पन्न करता है—ऐसा माने तो उसने जीव के जीवन को नही जाना है। जीव का जीवन तो ऐसा है कि पर के कारण-कार्य बिना ही स्वय अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है।

(५२) दृष्टि अनुसार क्रमबद्धपर्याय होती है

आत्मा ज्ञायकस्वरूप ... समभावी सूर्य है,—ऐसे स्वभाव को जो नही जानता और स्वच्छन्दी होकर मिथ्यात्व की विषमबुद्धि से कर्तृत्व मानता है—पर मे उलटा-सीधा करना चाहता है—उसने जीव को वास्तव मे माना ही नही है, ज्ञायकस्वरूप जीवतत्त्व को उसने जाना ही नही है। कर्तृत्व मानकर कही भी फेरफार करने गया वहाँ स्वयं ज्ञातारूप से नही रहा, और क्रमबद्धपर्याय ज्ञेयरूप है उसे नहीं माना; इसलिये अकर्ता साक्षीस्वरूप ज्ञायक जीवतत्त्व उसकी दृष्टि मे नही रहा। ज्ञायकस्वभाव पर जिसकी दृष्टि है वह ज्ञाता है—अकर्ता है और निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूप से वह उत्पन्न होता है। ज्ञातास्वभाव पर जिसकी दृष्टि नही है और पर के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पर ही जिसकी दृष्टि है उसे विपरीतदृष्टि मे क्रमबद्धपर्याय अशुद्ध होती है। इस प्रकार यह दृष्टि बदलने की बात है, पर की दृष्टि छोडकर ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि करने की यह बात है, ऐसी दृष्टि प्रगट किये बिना यह बात यथार्थरूप से समझ मे नही आ सकती।

(५३) ज्ञायक के लक्ष बिना एक भी न्याय सच्चा नहीं होता

पानी का जो प्रवाह है वह उलटा-सीधा नही होता, पहले का पीछे और पीछे का आगे—ऐसा नही होता, उसी प्रकार द्रव्य अपने अनादि-अनन्त पर्यायो के प्रवाहक्रम को द्रवित होता है—प्रवाहित होता है; उस प्रवाहक्रम मे जिस-जिस पर्याय को वह द्रवित होता है उस-उस पर्याय के साथ वह अनन्य है। जिस प्रकार मकान के खिड़की-दरवाजे नियत हैं; छोटे-बडे अनेक खिडकी-दरवाजो मे जिस स्थान पर जो खिडकी या दरवाजा लगाना हो वही बराबर बैठता है, बडा दरवाजा काटकर छोटे दरवाजे की जगह लगा दें तो उस बडे दरवाजे की जगह क्या लगायेंगे ? बडे दरवाजे की जगह कही छोटा दरवाजा फिट नही हो सकता, वहाँ तो बढई प्रत्येक खिड़की—दरवाजे पर नम्बर लिख रखता है। यदि उस नम्बर में गड़बड़ी हो

जायें तो खिड़की–दरवाजों का मेल टूट जाता है। उसीप्रकार आत्मा ज्ञायकस्वरूप है और पदार्थ उसके ज्ञेय हैं; उन पदार्थों की क्रमबद्ध-पर्याय में जिस पर्याय का जो स्थान (—स्वकाल) है वह आगे–पीछे नही होता। यदि एक भी पर्याय के स्थान को (प्रवाहक्रम को) बदलकर इधर–उधर करने जायें तो कोई व्यवस्था ही न रहे; क्योंकि एक पर्याय को बदलकर दूसरे स्थान पर रखा, तो दूसरे स्थान की पर्याय को बदलकर तीसरे स्थान पर रखना पड़ेगी–इसप्रकार सारा द्रव्य ही छिन्नभिन्न हो जायेगा,–अर्थात् उस जीव की दृष्टि में द्रव्य खण्ड–खण्ड होकर मिथ्यात्व हो जायेगा; सर्वज्ञता या ज्ञायकता तो सिद्ध ही नहीं होगी। "मैं ज्ञायक हूँ",–इस बात का जबतक लक्ष न हो तबतक एक भी सच्चा न्याय समझ में नही आ सकता। आत्मा ज्ञायक और सर्व पदार्थ ज्ञेय,—इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय दोनों व्यवस्थित हैं। जैसे पदार्थ है वैसा ही ज्ञान जानता है, और जैसा ज्ञान जानता है वैसे ही पदार्थ हैं, तथापि किसी के कारण कोई नही है—ऐसा वस्तु-स्वरूप है। ऐसा वस्तुस्वरूप जानकर जो ज्ञाता हुआ वह राग का भी ज्ञाता ही है और वह राग भी उसके ज्ञान का ज्ञेय होकर रहता है। पदार्थों की व्यवस्था का ज्ञायक न रहकर फेरफार करना मानता है उसे अपने ज्ञान का ही विश्वास नही है।

(५४) "पदार्थों का परिणमन व्यवस्थित या अव्यवस्थित ?"

भाई, तू ज्ञान है; ज्ञान क्या करता है ? वस्तु जैसी हो वैसी जानता है। तेरा स्वरूप जानने का है। तू विचार तो कर कि पदार्थों का परिणमन व्यवस्थित होता है या अव्यवस्थित ? यदि व्यवस्थित कहा जाये तो उसमे कही भी फेरफार करना नही रहता, ज्ञातृत्व ही रहता है; और यदि अव्यवस्थित कहा जाये तो ज्ञान ने जाना क्या ? पदार्थों का परिणमन अव्यवस्थित कहने से ज्ञान ही अव्यवस्थित सिद्ध होगा; क्योंकि अव्यवस्थित हो तो केवलीभगवान ने जाना क्या ? इसलिये न तो केवलज्ञान ही सिद्ध होगा और न आत्मा का ज्ञान-

स्वभाव ! ज्ञानस्वभाव की पहिचान के विना न तो मिथ्यात्व दूर होता है और न धर्म का अंग भी प्रगट होता है।

(५५) जीव या अजीव सबकी पर्याय क्रमबद्ध हैं, उसे जाननेवाला ज्ञानी तो ज्ञाताभावरूप से ही क्रमबद्ध उत्पन्न होता हैं

कोई कहे कि "कभी जीव क्रमवद्धपरिणामरूप से परिणमित होता है और कभी अक्रमरूप से भी, उसी प्रकार अजीव भी कभी क्रमवद्ध परिणमित होता है और कभी जीव उसे अक्रमरूप से भी परिणमित कर देता है।"—ऐसा नही है। भाई ! जीव या अजीव किसी का ऐसा स्वरूप नही है कि अक्रमरूप से परिणमित हो। केवलज्ञान चौथे गुणस्थान मे हो जाये और सम्यग्दर्शन तेरहवें गुणस्थान मे हो—ऐसा कभी नही होता, पहले केवलज्ञान हो जाये और फिर मुनिदशा ग्रहण करे—ऐसा भी कभी नही होता, ऐसा ही वस्तु के परिणमन का स्वभाव है। धर्मी के स्वभावदृष्टि में ज्ञायकभाव का पुरुपार्थ चालू ही है; ज्ञान मे धैर्य है, चारित्र मे अल्प राग होता है उसे भी जानते है; किन्तु उन्हे आकुलता नही है, उतावल नही है, हठ नही है; वह तो क्रमवद्ध अपने ज्ञाताभावरूप उत्पन्न होता हुआ उसमे तद्रूप है।

(५६) अजीव भी अपनी क्रमवद्धपर्यायरूप से स्वयं उत्पन्न होता है

जिसप्रकार जीव अपनी क्रमवद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, उसीप्रकार अजीव भी अपनी क्रमवद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, जीव उसका कर्ता नही है। यह शरीर हिले-डुले, भाषा वोली जाये, वह सब अजीव की क्रमवद्धपर्याये हैं। उसमे जिस समय जो पर्याय होती है वह उसके अपने से ही होती है, उस पर्यायरूप से वह अजीव स्वयं ही उत्पन्न होता है, जीव उसका कारण नही है, और न वह जीव का कार्य है। इस प्रकार अकार्यकारणपना जीव मे भी है, और अजीव मे भी है, इसलिये उन्हे परस्पर कोई भी कारणकार्यपना नही

है;—ऐसा वस्तुस्वरूप बतलाकर यहाँ आत्मा का ज्ञायकस्वभाव बतलाना है।

(५७) सर्व द्रव्यों में "अकार्यकारणशक्ति।"

सर्व द्रव्यों को अन्य द्रव्य के साथ उत्पादक—उत्पाद्यभाव का अभाव है, अर्थात् सर्व द्रव्यों को पर के साथ अकार्यकारणपना है। इसप्रकार "अकार्यकारणशक्ति" सभी द्रव्यों मे है। अज्ञानी कहते है कि "अकार्यकारणशक्ति तो सिद्ध में ही है और संसारी जीवो को तो पर के साथ कार्य-कारणपना है"—यह बात झूठ है।

(५८) पुद्गल में क्रमबद्धपर्याय होने पर भी......

पुद्गल मे कर्म आदि की अवस्था भी क्रमबद्ध है; पुद्गल में वह अवस्था होना नही थी और जीव ने विकार करके वह अवस्था उत्पन्न की ऐसा नही है। पुद्गलकर्म मे उपशम—उदीरणा—सक्रमण—क्षय इत्यादि जो अवस्थायें होती है उन अवस्थाओंरूप से पुद्गल स्वयं क्रमबद्धपर्याय से उत्पन्न होता है। ऐसा होने पर भी ऐसा नियम है कि ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से ज्ञाता होकर जीव जहाँ अकर्तारूप से परिणमित हुआ, वहाँ जगत मे ऐसी क्रमबद्धपर्याय की योग्यतावाले कोई परमाणु ही नही है कि जो उसे मिथ्यात्वप्रकृतिरूप से बँधें। मिथ्यात्वप्रकृति के साथ का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ही उसे ज्ञायक-दृष्टि में से छूट गया है।—यह बात आचार्यदेव अगली गाथाओं मे बड़ी अच्छी तरह समझायेंगे।

(५९) क्रमबद्धपर्याय को न समझनेवाले की कुछ भ्रमणायें

अजीव मे ज्ञान नही है, इसलिये उसकी अवस्था तो जैसी होना होती है वैसी क्रमबद्ध होती रहती है; किन्तु जीव की अवस्था क्रमबद्ध नहीं होती, वह तो अक्रमरूप भी होती है—ऐसा कोई माने तो वह बात असत्य है।

अजीव में ज्ञान नही है, इसलिये जीव उसकी अवस्था जैसी करना चाहे वैसी कर सकता है, इसलिये उसकी अवस्था क्रमबद्ध नहीं

है किन्तु अक्रम है; पानी भरा हो उसमें जैसा रंग डालोगे वैसे रंग का हो जायेगा—ऐसा कोई माने तो उसकी बात भी झूठ है।

क्रमबद्धपर्याय है इसलिये हमें कुछ भी पुरुषार्थ नही करना चाहिये—ऐसा कोई माने तो वह भी अज्ञानी है; क्योकि क्रमवद्धपर्याय के निर्णय मे ज्ञातामात्रपने का पुरुषार्थ आ जाता है उसे वह नही समझा है।

मैं ज्ञायक हूँ–ऐसे स्वभाव का पुरुषार्थ करने से सर्व द्रव्यो की क्रमबद्धपर्याय का भी निर्णय होता है, वह यथार्थ है। इस ओर आत्मा का ज्ञायकस्वभाव न माने तथा दूसरी ओर पदार्थों मे क्रमवद्धपरिणाम न माने और फेरफार करना माने तो वह जीव न तो वस्तुस्वरूप को जानता है, और न पंचपरमेष्ठी भगवन्तों को ही वास्तव मे मानता है।

(६०) जीव के कारण विना ही अजीव की क्रमवद्धपर्याय

शरीर की अवस्था भी अजीव से होती है। मैं उसकी अवस्था को बदलूँ अथवा तो अनुकूल आहार–विहार का बरावर ध्यान रखकर शरीर को अच्छा कर दूँ—ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। आहार के एक रजकण को भी बदलना वह जीव की क्रिया नही है। "दाने–दाने पर खानेवाले का नाम"—ऐसी एक पुरानी कहावत है, वह क्या बतलाती है?—कि जिसके पेट मे जो दाना आना है वही आयेगा; जीव उसका ध्यान रखकर शरीर की रक्षा कर दे—ऐसा नही है। जीव के कारण बिना ही अजीव अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है। आत्मा का स्वभाव अपने ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होने का है।

"अरे! इस शरीर का कोई अंग जिस तरह ऊँचा–नीचा करना हो वैसा हम कर सकते हैं, तो क्या हममें इतनी शक्ति नही है कि परमाणु को बदल सकें?"—ऐसी दलील अज्ञानी करते है।

ज्ञानी कहते हैं कि अरे भाई! क्या परमाणुओ मे ऐसी शक्ति नही है कि वे अपने क्रमबद्धपरिणामो से ऊँचे–नीचे हो? क्या

अजीव द्रव्यों में शक्ति ही नहीं है ? भाई ! अजीव में भी ऐसी शक्ति है कि तेरे कारणपने के बिना ही वह स्वयं अपनी हलन-चलनादि अवस्थारूप उत्पन्न होता है, अपनी अवस्था में वह तद्रूप है; उसमें कुछ भी फेरफार करने की शक्ति जीव में नही है ।—जीव में उसे जानने की शक्ति है । इसलिये तू अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय कर और अजीव के कर्तृत्व की बुद्धि छोड़ ।

❁ तीसरा प्रवचन ❁

[आश्विन कृष्णा १४, वीर सं० २४८०]

जिसे समझने से आत्मा का हित हो ऐसा उपदेश वह इष्टोपदेश है । यहाँ "योग्यता" कहकर समय-समय की पर्याय की स्वतन्त्रता बतलाई जाती है वही उपदेश इष्ट है; इसके सिवा पर के कारण कुछ होना बतलाये अर्थात् पराधीनता बतलाये वह उपदेश इष्ट नही है—हितकारी नही है—प्रिय नही हैं । समय-समय की क्रमबद्धपर्याय बतलाकर आत्मा को अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर ले जाये वह उपदेश इष्ट है ।

(६१) अधिकार की स्पष्टता

यह सर्वविशुद्ध-ज्ञान-अधिकार है; "सर्वविशुद्धज्ञान" यानी अकेला ज्ञायकभाव । ज्ञायकस्वरूप जीव कर्म का कर्ता नहीं है—यह बात यहाँ सिद्ध करना है । क्रमबद्धपर्याय के वर्णन मे आत्मा का ज्ञायक-स्वभाव सिद्ध करके उसे अकर्ता बतलाया है । आत्मा निमित्तरूप से भी जडकर्म का कर्ता नही है—ऐसा उसका स्वभाव है ।

(६२) क्रमबद्धपर्याय में शुद्धता का क्रम कब चालू होता है ?

प्रथम तो जीव की बात की है कि—जीव अपने अनन्त गुणों

के परिणामों से क्रमबद्ध नियमितरूप से उत्पन्न होता है, और उन परिणामों मे अनन्यरूप से वह जीव ही है, अजीव नहीं है। इसमें द्रव्य गुण और पर्याय तीनों आ गये। अपने अनादि-अनन्त परिणामों में क्रमबद्धरूप से उत्पन्न होता हुआ ज्ञायकस्वभावी जीव किसी पर के कार्य मे कारण नही है और कोई पर उसके कार्य में कारण नही है; किसीके कारण किसीकी अवस्था के क्रम मे फेरफार हो—ऐसा कभी नही होता। "मैं ज्ञायक हूँ"—ऐसी स्वभावसन्मुख दृष्टि होने से धर्मी को क्रमबद्धपर्याय निर्मलरूप से परिणमित होने लगती है, किन्तु पर्याय को आगे-पीछे करने पर उसकी दृष्टि नही है। इस प्रकार ज्ञायक-स्वभाव की दृष्टि का पुरुषार्थ होने से क्रमबद्धपर्याय मे शुद्धता का क्रम चालू हो जाता है।

(६३) अकर्तृत्व सिद्ध करने के लिये क्रमबद्धपर्याय की बात क्यों ली?

किसी को ऐसा प्रश्न उठे कि यहाँ तो आत्मा को अकर्ता सिद्ध करना है, उसमे यह क्रमबद्धपर्याय की बात क्यो की?—तो उसका कारण यह है कि जीव और अजीव समस्त द्रव्य स्वयं अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्याय से उत्पन्न होते हैं—यह बात जमे बिना, "मैं पर को बदल दूं"—ऐसी कर्ताबुद्धि नही छूटती और अकर्तृत्व नही होता। मैं ज्ञायकस्वभाव हूँ और प्रत्येक वस्तु की अवस्था क्रमबद्ध होती रहती है उसका मैं ज्ञाता हूँ किन्तु कर्ता नही हूँ—ऐसा निश्चय होने से कर्ताबुद्धि छूट जाती है और अकर्तृत्व अर्थात् साक्षीपना—ज्ञायकपना हो जाता है। स्वभाव से तो सर्व आत्मा अकर्ता ही है, किन्तु यह तो पर्याय मे अकर्तापना हो जाने की बात है।

(६४) क्रमबद्ध है, तो फिर उपदेश क्यों?

पर्याय तो क्रमबद्ध ही होती है, तो फिर शास्त्र मे इतना अधिक उपदेश क्यो दिया है?-ऐसा कोई पूछे, तो कहते है कि भाई! उस सब उपदेश का तात्पर्य तो ज्ञायकस्वभाव का निर्णय कराना है।

उपदेश की वाणी तो वाणी के कारण क्रमबद्ध निकलती है। इससमय ऐसी ही भाषा निकालकर मैं दूसरों को समझा दूँ—ऐसी कर्ताबुद्धि ज्ञानी के नही है।

(६५) वस्तुस्वरूप का एक ही नियम

सर्व द्रव्य अपने–अपने परिणाम के कर्ता हैं, किसी अन्य का हस्तक्षेप उसमें नही है। "ऐसा निमित्त आये तो ऐसा हो सकता है और दूसरा निमित्त आये तो वैसा हो जायेगा"—ऐसा वस्तुस्वरूप मे नही है। वस्तुस्वरूप का एक ही नियम है कि प्रत्येक द्रव्य क्रमबद्ध-पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ स्वयं ही अपनी पर्याय का कर्ता है, और दूसरे से वह निरपेक्ष है। वस्तु स्वयं अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होती है।—ऐसा न मानकर, दूसरा उसमे फेरफार कर सकता है—ऐसा जो मानता है उसे पर मे फेरफार करने की बुद्धि रहती है, इसलिये पर की ओर से हटकर वह अपने ज्ञायक स्वभाव की ओर उन्मुख नही होता, इसलिये उसे ज्ञातापना नही होता—अकर्तापना नही होता और कर्तृत्वबुद्धि नही छूटती यहाँ "प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, दूसरा कोई उसका कर्ता नही है"—इस नियम के द्वारा आत्मा का अकर्तृत्व समझाकर कर्ताबुद्धि को छुडाते है।

(६६) ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि प्रगट किये बिना, क्रमबद्धपर्याय की ओट लेकर बचाव करना चाहे वह महान स्वच्छन्दी है

इस क्रमबद्धपर्याय की ओट लेकर कोई स्वच्छन्द से ऐसा बचाव करे कि "हमें क्रोध होना था वह क्रमबद्ध हो गया, उसमे हम क्या करें?" तो उससे कहते है कि अरे मूढ़ जीव! अभी तुझे आत्मा के ज्ञायकपने की प्रतीति नही हुई तो तू क्रमबद्धपर्याय की बात कहाँ से लाया! ज्ञायकस्वभाव के निर्णय से ही क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय होता है। तेरी दृष्टि ज्ञायक पर है या क्रोध पर? यदि ज्ञायक

पर दृष्टि हो तो फिर ज्ञायक में क्रोध होना कहाँ से आया ? अपने ज्ञायकभाव का निर्णय करके पहले तू ज्ञाता हो, फिर तुझे क्रमवद्ध-पर्याय की खवर पड़ेगी। ज्ञायकस्वभाव की ओर उन्मुख होकर ज्ञायक को ज्ञान का ज्ञेय वनाना—उसीकी इसमें मुख्यता है, राग को ज्ञेय करने की मुख्यता नही है। ज्ञायकस्वभाव का निर्णय किया वहाँ ज्ञान की ही अधिकता रहती है—क्रोधादि की अधिकता कभी भी नही होती, इसलिये ज्ञाता को अनन्तानुवन्धी क्रोधादि होते ही नही, और उसीको क्रमवद्धपर्याय की प्रतीति हुई है।

क्रोध के समय जिसे ज्ञानस्वरूप का तो भास नही होता उसे क्रोध की ही रुचि है, और क्रमवद्धपर्याय की ओट लेकर वचाव करना चाहता है वह तो महान स्वच्छंदी है। क्रमवद्धपर्याय मे ज्ञायकभाव का परिणमन भासित न होकर, क्रोधादिकपाय का परिणमन भासित होता है यही उसकी विपरीतता है। भाई रे ! यह मार्ग तो छुट-कारे का है या वंधन का ? इसमे तो ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके छुटकारे की वात है, इस वात का यथार्थ निर्णय होने से ज्ञान पृ॰ क् का पृथक् रहता है। जो छुटकारे का मार्ग है उसके वहाने स्वच्छंद का पोष ग़ करता है उस जीव को टकारे का अवसर कव आयेगा !!

(६७) अजर प्याला !

यह तो अजर-अमर प्याला है; इस प्याले को पचाना दुर्लभ है। पात्र होकर जिसने यह प्याला पिया और पचाया वह अजर-अमर हो जाता है अर्थात् जन्म मरण रहित ऐसे सिद्धपद को प्राप्त होता है।

(६८) क्रमवद्धपर्याय में भूमिकानुसार प्रायश्चितादि का भाव होता है

"लगे हुए दोषोंका प्रायश्चित करने का वर्णन तो शास्त्र मे बहुत आता है, दोष हुआ वह पर्याय भी क्रमवद्ध है, तब फिर

उसका प्रायश्चितादि किसलिये ?"—ऐसी किसीको शंका हो तो उसका समाधान यह है कि—साधक को उस-उस भूमिका मे प्रायश्चितादि का वैसा विकल्प होता है उसका वहाँ ज्ञान कराया है। साधकदशा के समय क्रमबद्धपर्याय मे उस प्रकार के भाव आते हैं वह बतलाया है। "हमे क्रमबद्धपर्याय में दोष होना था वह हो गया, उसका प्रायश्चित क्या करें ?"—ऐसा कोई कहे तो वह मिथ्यादृष्टि स्वच्छदी है; साधक को ऐसा स्वच्छंद नही होता। साधकदशा तो परम विवेकवाली है; उसे अभी वीतरागता नही हुई है और स्वच्छंद भी नही रहा है, इसलिये दोषो के प्रायश्चितादि का शुभविकल्प आये—ऐसी ही वह भूमिका है।

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होने पर भी सम्यक्त्वी को चौथे गुणस्थान में ऐसा भाव आता है कि मैं चारित्रदशा लूँ; मुनि को ऐसा भाव आता है कि लगे हुए दोषों की गुरु के निकट जाकर सरलतापूर्वक आलोचना करूँ और प्रायश्चित लूँ—"कर्म तो जब खिरना होंगे तब खिरेंगे, इसलिये अपने को तप करने की क्या आवश्यकता है ?"—ऐसा विकल्प मुनि को नही आता; किन्तु ऐसा भाव आता है कि मैं तप द्वारा निर्जरा करूँ—शुद्धता बढाऊँ।—ऐसा ही उस-उस भूमिका के क्रम का स्वरूप है। "चारित्रदशा तो क्रमबद्धपर्याय मे जब आना होगी तब आ जायेगी"—ऐसा कहकर सम्यक्त्वी कभी स्वच्छंदी या प्रमादी नही होता; द्रव्यदृष्टि के बल मे उसका पुरुपार्थ चलता ही रहता है। वास्तव मे द्रव्यदृष्टिवाले को ही क्रमबद्धपर्याय यथार्थरूप से समझ मे आती है। क्रम बदलता नही है, तथापि पुरुपार्थ की धारा नही टूटती—यह बात ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि बिना नही हो सकती। शास्त्रों में प्रायश्चित आदि का वर्णन करके मध्यम भूमिका में कैसे-कैसे भाव होते हैं—उसका ज्ञान कराया है। वास्तव में तो ज्ञाता को ज्ञान की अधिकता मे उन प्रायश्चितादि का विकल्प भी ज्ञेयरूप ही है।

(६९) क्रम–अक्रम सम्बन्ध में अनेकान्त और सप्तभंगी

कोई ऐसा कहता है कि—"सभी पर्यायें क्रमवद्ध ही हैं–ऐसा कहने मे तो एकान्त हो जाता है, इसलिये कुछ पर्यायें क्रमवद्ध है और कुछ अक्रमबद्ध है—ऐसा अनेकान्त कहना चाहिये,"—तो ऐसा कहने-वाले को एकान्त अनेकान्त की खवर नही है। सभी पर्याये क्रमवद्ध ही "है" और अक्रमरूप "नही हैं"—ऐसा अनेकान्त है। अथवा क्रम-अक्रम का अनेकान्त लेना हो तो इसप्रकार है कि सर्व गुण द्रव्य मे एक साथ सहभावीरूप से वर्तते है, इसलिये उस अपेक्षा से द्रव्य अक्रम-रूप ही है और पर्याय–अपेक्षा से क्रमरूप ही है,–इसप्रकार ही कथञ्चित् क्रमरूप और कथञ्चित् अक्रमरूप–ऐसा अनेकान्त है, किन्तु कुछ पर्याये क्रमरूप और कुछ पर्याये अक्रमरूप–ऐसा मानना तो अनेकान्त नही किंतु वस्तुस्वरूप से विपरीत होने से मिथ्यात्व है।

पर्याय–अपेक्षा से तो क्रमवद्धपना ही है—यह नियम है, तथापि इसमे अनेकान्त और सप्तभगी आ जाती है। गुणो की अपेक्षा से अक्रमपना और पर्यायो की अपेक्षा से क्रमपना–ऐसा अनेकान्तस्वरूप है, वह ऊपर कहा जा चुका है। तथा वस्तु मे (१) स्यात् क्रमपना, (२) स्यात् अक्रमपना, (३) स्यात् क्रम-अक्रमपना, (४) स्यात् अव-क्तव्यपना, (५) स्यात् क्रम–अवक्तव्यपना, (६) स्यात् अक्रम–अवक्त-व्यपना, और (७) स्यात् क्रम-अक्रम-अवक्तव्यपना;—इसप्रकार क्रम–अक्रम सम्बन्ध मे सप्तभगी भी उतरती है, किस प्रकार ? वह कहा जाता है—

(१) पर्याये एक के बाद एक क्रमबद्ध होती हैं, इसलिये पर्यायो की अपेक्षा से कहने पर वस्तु क्रमरूप है।

(२) सर्व गुण एक साथ सहभावी हैं, इसलिये गुणो की अपेक्षा से कहने पर वस्तु अक्रमरूप है।

(३) पर्यायें तथा गुण–इन दोनो की अपेक्षा से (एक साथ) लेकर कहने पर वस्तु क्रम–अक्रमरूप है।

(४) एक साथ दोनों नही कहे जा सकते उस अपेक्षा से वस्तु अवक्तव्य है।

(५) वस्तु मे क्रमपना और अक्रमपना दोनो एक साथ होने पर भी क्रमरूप कहते समय अक्रमपने का कथन बाकी रह जाता है, उस अपेक्षा से वस्तु क्रम-अवक्तव्यरूप है।

(६) इसी प्रकार अक्रमरूप कहने से क्रमपने का कथन बाकी रह जाता है, उस अपेक्षा से वस्तु अक्रम-अवक्तव्यरूप है।

(७) क्रमपना और अक्रमपना दोनों अनुक्रम से कहे जा सकते है किन्तु एक साथ नही कहे जा सकते, उस अपेक्षा से वस्तु क्रम—अक्रम-अवक्तव्यरूप है।

—इसप्रकार क्रम-अक्रम सम्बन्ध मे सप्तभंगी समझना चाहिये।

(७०) अनेकान्त कहाँ और किसप्रकार लागू होता है? (सिद्ध का दृष्टान्त)

यथार्थ वस्तुस्थिति क्या है वह समझे बिना कई लोग अनेकांत के या स्याद्वाद के नाम से गप्पे हाँकते हैं। जिस प्रकार अस्ति-नास्ति मे वस्तु स्व-रूप से अस्तिरूप है और पर-रूप से नास्तिरूप है;—ऐसा अनेकान्त है, किन्तु वस्तु स्व-रूप से भी अस्तिरूप है और पर-रूप से भी अस्तिरूप है—ऐसा अनेकान्त नही है, वह तो एकान्तरूप मिथ्यात्व है। उसी प्रकार यहाँ क्रम—अक्रम मे भी समझना चाहिये। पर्यायें क्रमबद्ध है और गुण अक्रम हैं—ऐसा अनेकान्त है, किन्तु पर्यायें क्रमबद्ध है और पर्याये अक्रम भी है—ऐसा मानना वह कही अनेकान्त नही है, वह तो मिथ्यादृष्टि का एकान्त है। पर्यायें तो क्रमबद्ध ही है—अक्रम नही हैं ऐसा अनेकान्त है। पर्याय मे अक्रमपना तो है ही नही, इसलिये उसमें "कथंचित् क्रम और कथचित् अक्रम"—ऐसा अनेकान्त लागू नही होता। वस्तु में जो धर्म हों उनमे सप्त-भगी लागू होती है, किन्तु वस्तु मे जो धर्म ही न हो, उनमे सप्तभंगी लागू नही होती।

"सिद्धभगवन्त एकान्त सुखी ही है"—ऐसा कहनेपर कोई अज्ञानी पूछे कि—सिद्ध भगवान को एकान्त, सुख ही क्यो कहते हो ? कथञ्चित् सुख और कथञ्चित् दुःख–ऐसा अनेकान्त कहो न ? उसका समाधानः—भाई ! सिद्धभगवान को जो सुख प्रगट हुआ है वह एकान्त सुख ही है, उसमे दुःख किंचित्मात्र है ही नही, इसलिये उसमे तेरा कहा हुआ सुख–दुःख का अनेकान्त लागू नही होता। सिद्धभगवान को शक्ति मे या व्यक्ति मे किसी प्रकार दुःख नही है इसलिये वहाँ सुख–दुःखका ऐसा अनेकान्त या सप्तभगी लागू नही होती, किन्तु सिद्धभगवान को एकान्त सुख ही है और दुःख किंचित् नही है—ऐसा अनेकान्त लागू होता है। (देखो, पंचाध्यायी, गाथा ३३३–३४–३५) उसीप्रकार यहाँ पर्याय मे क्रमबद्धता है और अक्रमता नही है—ऐसा अनेकान्त लागू होता है, किन्तु पर्याय में क्रमता भी है और अक्रमता भी है। पर्याय से ही क्रमरूप और पर्याय से ही अक्रम-रूप—ऐसा क्रम–अक्रमरूप जीव का स्वरूप नही है, किन्तु पर्याय से क्रमवर्तीपना और गुण से अक्रमवर्तीपना—ऐसा क्रम–अक्रमरूप जीव का स्वरूप है।

(७१) ट्रेन के दृष्टान्त से शंका और उसका समाधान

शंकाः—एक आदमी ट्रेन के डिब्बे मे बैठा है और ट्रेन पूर्व-दिशा की ओर जा रही है, वहाँ ट्रेन के चलने से उस आदमी का भी पूर्व की ओर जो गमन हो रहा है वह तो क्रमबद्ध है, किन्तु वह आदमी डिब्बे मे खडा होकर पश्चिम की ओर चलने लगे तो उस गमन की अवस्था अक्रमरूप हुई न ?

समाधानः—अरे भाई ! तुझे अभी क्रमबद्धपर्याय की खबर नही है। पर्याय का क्रमबद्धपना कहा जाता है वह तो ऊर्ध्वप्रवाह की अपेक्षा से (—कालप्रवाह की अपेक्षा से) है क्षेत्र की अपेक्षा से नही है। वह आदमी पहले पूर्व में चले और फिर पश्चिम मे चलने लगे तो उससे कही उसकी पर्याय के काल का क्रम टूट नही गया है।

ट्रेन पूर्व में जा रही हो और डिब्बे में बैठा हुआ आदमी पश्चिम की ओर चलने लगे, तो उससे कहीं उसकी वह पर्याय अक्रमरूप नहीं हुई है। अरे ! ट्रेन पूर्व में जा रही हो और सारी ट्रेन पीछे पश्चिम की ओर चलने लगे तो वह भी क्रमबद्ध ही है। पर्यायों का क्रमबद्धपना द्रव्य के ऊर्ध्वप्रवाहक्रम की अपेक्षा से है। यह क्रमबद्धपर्याय की बात अनेक जीवों ने तो अभी तक सुनी ही नही है। क्रमबद्धपना क्या है और किस प्रकार है, तथा उसका निर्णय करनेवाले का ध्येय कहाँ जाता है—वह बात लक्ष मे लेकर समझे ही नही तो उसकी प्रतीति कहाँ से हो ? वस्तु मे अनंत गुण है, वे सब एकसाथ—बिछे हुए—तिर्यक्‌प्रचयरूप है इसलिये वे अक्रमरूप है, और पर्यायें एक के बाद एक—व्यतिरेकरूप—ऊर्ध्वप्रचयरूप है इसलिये वे क्रमरूप हैं।

(७२) क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता कौन है ?

देखो, क्रमबद्धपर्याय तो जीव और अजीव सभी द्रव्यों मे है; किन्तु यह बात कही अजीव को नही समझाते, यह तो जीव को समझाते हैं, क्योंकि जीव ही ज्ञाता है। ज्ञाता को अपने ज्ञायकस्वभाव का भान होने पर वह क्रमबद्धपर्याय का भी ज्ञाता हो जाता है।

(७३) भाषा का उत्पादक जीव नहीं है

पाँचो अजीव द्रव्य भी अपने-अपने गुणों से अपने क्रमबद्ध नियमित परिणामरूप से उत्पन्न होते हुए अजीव ही है—जीव नही हैं। अजीव द्रव्य—उनमे प्रत्येक परमाणु भी—अन्य कारको की अपेक्षा न रखकर स्वय अपने छह कारकरूप होकर अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से स्वयं उत्पन्न होते है; वे भी किसी अन्यके कर्ता नही है, और दूसरे का कार्य बनकर उसे अपना कर्ता बनायें ऐसा भी नही है। भाषा बोली जाती है वह अजीव की क्रमबद्धपर्याय है और उस पर्यायरूप से अजीवद्रव्य उत्पन्न होता है, जीव उसे उत्पन्न नही करता।

प्रश्नः—केवलीभगवान की वाणी तो इच्छा के विना ही सहजरूप से निकलती है इसलिये वह कमवद्धपर्याय है और उसे जीव

उत्पन्न नहीं करता—ऐसा भले ही कहो, किन्तु छद्मस्थ की वाणी तो इच्छापूर्वक है इसलिये छद्मस्थ तो अपनी इच्छानुसार भापा को परिणमित करता है न ?

उत्तरः—भाई ! ऐसा नही है। केवलीभगवान के या छद्मस्थ के जो वाणी निकलती है वह तो अजीव के अपने वैसे क्रमवद्धपरिणामों से ही निकलती है, जीव के कारण नही। छद्मस्थ को उस काल इच्छा होती है, किन्तु उस इच्छा ने वाणी को उत्पन्न नही किया है। और इच्छा है वह भी ज्ञाता का ज्ञेय है, ज्ञान की अधिकता मे धर्मी जीव उस इच्छा का भी ज्ञायक ही है।

(७४) ज्ञायक को ही जानने की मुख्यता

वास्तव मे तो, इच्छा को जानना भी व्यवहार है। ज्ञान को अन्तरोन्मुख करके ज्ञायक को जानना वह परमार्थ है। क्रमवद्धपर्याय के निर्णय मे राग को जानने की मुख्यता नही है किन्तु ज्ञायक को जानने की मुख्यता है। ज्ञान मे ज्ञायक की मुख्यता हुई तव राग को उसका व्यवहार–ज्ञेय कहा, ज्ञाता जागृत हुआ तव राग को रागरूप से जाना और तभी राग को व्यवहार कहा गया। इस प्रकार निश्चय-पूर्वक ही व्यवहार होता है, क्योंकि ज्ञान और राग दोनो एक साथ उत्पन्न होते हैं, धर्म शुरू होने मे पहले रागरूप व्यवहार और फिर निश्चय—ऐसा नही है। यदि राग को अर्थात् व्यवहार को पहले कहो तो ज्ञान के बिना (निश्चय के बिना) उस व्यवहार को जाना किसने ? व्यवहार स्वयं तो अधा है, उसे कही स्व-पर की खबर नही है राग और भेदरूप व्यवहार का पक्ष छोड़कर निश्चय का अवलम्बन करके स्व-परप्रकाशक ज्ञाता जागृत हुआ वही, ज्ञायक को जानते हुए राग को भी व्यवहार ज्ञेयरूप से जानता है। क्रमबद्धपर्याय के निर्णय मे निश्चय–व्यवहार दोनों एकसाथ है, पहले व्यवहार और फिर निश्चय–ऐसा माने, अर्थात् राग के अवलम्बन से ज्ञान होना माने, तो वह वास्तव मे क्रमबद्धपर्याय को समझा ही नही है।

(७५) "इष्टोपदेश" की बात :- कौन-सा उपदेश इष्ट है ?

द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है—ऐसा कहने से उसमें समय-समय की क्षणिक योग्यता की बात भी आ गई।

कोई कहे कि—"योग्यता की बात तो 'इष्टोपदेश' मे आई है, इसमे कहाँ आई ?" उसका उत्तर:- यह भी इष्ट-उपदेश की ही बात है। इष्ट उपदेश अर्थात् हितकारी उपदेश। जिसे समझने से आत्मा का हित हो—ऐसा उपदेश वह इष्टोपदेश है। यह "योग्यता" कहकर समय-समय की पर्याय की स्वतन्त्रता बतलाई जा रही है वही उपदेश इष्ट है, इसके सिवा पर के कारण कुछ-होना बतलाये अर्थात् पराधीनता बतलाये वह उपदेश इष्ट नही है—हितकारी नही है—प्रिय नही है। समय-समय की क्रमबद्धपर्याय बतलाकर आत्मा को अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर ले जाये वह उपदेश इष्ट है; किन्तु पर्याय मे फेरफार आगा-पीछा होना बतलाकर जो कर्ताबुद्धि का पोषण करे वह उपदेश इष्ट नहीं है अर्थात् सच्चा नही है, हितकारी नही है। "जो आत्मा को हितमार्ग मे प्रवर्तन कराये वह गुरु है; वास्तव मे आत्मा स्वयं ही अपनी योग्यता से अपने आत्माको हितमार्ग मे प्रवर्तित करता है इसलिये वह स्वय ही अपना गुरु है। निमित्तरूप से अन्य ज्ञानी गुरु होते हैं, किन्तु उस निमित्त के कारण इस आत्मा मे कुछ हो जायें—ऐसा नही हो सकता।" देखो, यह इष्ट उपदेश! इस प्रकार उपदेश हो तभी वह इष्ट है—हितकारी है—सत्य है, इससे विरुद्ध उपदेश हो तो वह इष्ट नही है—हितकारी नही है—सत्य नही है।

(७६) आत्मा का ज्ञायकत्व और पदार्थों के परिणमन में क्रमबद्धता

आत्मा ज्ञायक है, ज्ञातापना उसका स्वरूप है। जिसप्रकार केवली भगवान जगत के सर्व द्रव्य-गुण-पर्याय के ज्ञाता है, उसी प्रकार इस आत्मा का स्वभाव भी ज्ञाता है। ज्ञान ने जाना इसलिये पदार्थों में वैसी क्रमबद्धपर्याय होती है—ऐसा नहीं है, और पदार्थ वैसे हैं इस-

लिये उनका ज्ञान हुआ—ऐसा भी नही है। आत्मा का ज्ञायकस्वभाव और पदार्थों का क्रमबद्धपरिणमनस्वभाव है। "ऐसा क्यो ?"—ऐसा विकल्प ज्ञान मे नही है और पदार्थों के स्वभाव मे भी ऐसा नही है। "ऐसा क्यो ?"—ऐसा विकल्प करके जो पदार्थ को बदलना चाहता है उसने ज्ञान के स्वभाव को नही जाना है। ज्ञानस्वभाव का निर्णय करने से साधकजीव ज्ञाता हो जाता है, "ऐसा क्यो ?"—ऐसा मिथ्याबुद्धि का विकल्प उसे नही होता।

(७७) ऐसी है साधकदशा !—एक साथ दस बोल

ज्ञान को अन्तरोन्मुख करके जिसने ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया वह—

—क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ, (१)
—उसके ज्ञान में सर्वज्ञ की सिद्धि आई, (२)
—उसे भेदज्ञान और सम्यग्दर्शन हुआ, (३)
—उसे मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ प्रारम्भ हुआ, (४)
—उसे अकर्तृत्व हुआ, (५)
—उसने सर्व जैनशासन को जान लिया, (६)
—उसने देव-गुरु-शास्त्र को यथार्थरूपसे पहिचान लिया, (७)
—उसके निश्चय-व्यवहार दोनों एकसाथ आये, (८)
—उसकी पर्याय मे पाँचो समवाय आ गये, (९)
—"योग्यता ही वास्तविक कारण है" उसका उसे निर्णय हुआ इसलिये इष्ट-उपदेश भी उस मे आ गया। (१०)

(७८) यह लोकोत्तरदृष्टि की बात है, जो इससे विपरीत माने वह लौकिक-जन है

अहो, यह अलौकिक लोकोत्तर बात है। एक ओर ज्ञायक-स्वभाव और सामने क्रमबद्धपर्याय—उसका निर्णय करना वह लोकोत्तर है। मैं ज्ञायक हूँ और पदार्थों की पर्यायें क्रमबद्ध है—ऐसा न मानकर जो कुछ भी फेरफार करना मानता है वह लौकिकजन है;

लोकोत्तर जैनदृष्टि उसे नही रहती। अपने ज्ञायकस्वभाव सन्मुख दृष्टि रखकर आत्मा क्रमबद्ध ज्ञायकभावरूप ही उत्पन्न होता है और पदार्थो की क्रमबद्ध होनेवाली पर्यायों को जानता है—ऐसा जो लोकोत्तर-स्वभाव है, उसे जो नही मानता वह भले ही जैनसंप्रदाय में रहता हो, तथापि भगवान उसे अन्यमती—लौकिकमती—अर्थात् मिथ्यादृष्टि कहते है। "लौकिकमती" कहने से कई लोगों को यह बात कठिन मालूम होती है ? किन्तु भाई! समयसार मे आचार्यभगवान स्वयं कहते हैं कि—"ये त्वात्मानं कर्तारमेव पश्यंति ते लोकोत्तरिका अपि न लौकिकतामतिवर्तंते; लोकिकानां परमात्मा विष्णुः सुरनारकादि-कार्याणि करोति, तेषां तु स्वात्मा तानि करोतीत्यपसिद्धांतस्य सम-त्वात्। ततस्तेषामात्मनो नित्यकर्तृत्वाभ्युपगमात् लौकिकानामिव लोकोत्तरिकाणामपि नास्ति मोक्षः।" (गाथा ३२२–२३ टीका)

—जो आत्मा को कर्ता ही देखते है—मानते हैं, वे लोकोत्तर हों तो भी लौकिकता का अतिक्रमण नही करते; क्योंकि लौकिकजनों के मत में परमात्मा विष्णु देव–नारकादि कार्य करते हैं, और उनके (–लोक से बाह्य हो जानेवाले मुनियों के) मत मे अपना आत्मा वे कार्य करता है—ऐसे अपसिद्धांत की (मिथ्यासिद्धान्त की) दोनों के समानता है। इसलिये आत्मा के नित्यकर्तृत्व की उनकी मान्यता के कारण लौकिकजनों की भाँति, लोकोत्तर पुरुषों का (मुनियो का) भी मोक्ष नही होता।

उसके भावार्थ मे पं० जयचन्दजी भी लिखते हैं कि—

"जो आत्मा को कर्ता मानते हैं वे मुनि भी हों तो भी लौकिकजन सरीखे ही है, क्योंकि लोक ईश्वर को कर्ता मानते हैं और मुनियों ने भी आत्मा को कर्ता मान लिया, इस तरह इन दोनों का मानना समान हुआ। इस कारण जैसे लौकिकजनो के मोक्ष नही है उसी तरह उन मुनियो के भी मोक्ष नही है।"

देखो, इससे मूल सिद्धान्त है। दिगम्बर जैनसम्प्रदाय का

द्रव्यलिंगी साधु होकर भी, यदि "आत्मा पर का कर्ता है"—ऐसा माने, तो वह भी लौकिकजनो की भाँति मिथ्यादृष्टि ही है। अब, आत्मा पर का कर्ता है—ऐसा शायद सीधी तरह न कहे, किन्तु—

—निमित्त हो तदनुसार कार्य होता है ऐसा मानें, अथवा हम निमित्त होकर पर का कार्य कर दें–ऐसा मानें,

—अथवा राग के—व्यवहार के—अवलम्बन से निश्चय-श्रद्धा–ज्ञान होना मानें,—शुभरागरूप व्यवहार करते करते निश्चयश्रद्धादि होना मानें,

—मोक्षमार्ग मे पहले व्यवहार और फिर निश्चय ऐसा मानें,

—अथवा राग के कारण ज्ञान हुआ, अर्थात् राग कर्ता और ज्ञान उसका कार्य–ऐसा मानें,

तो वे सब भी वास्तव मे लौकिकजन ही हैं, क्योकि उनके लौकिकदृष्टि दूर नही हुई है। लौकिकदृष्टि अर्थात् मिथ्यादृष्टि।

"ज्ञायक" के सन्मुख दृष्टि करके क्रमबद्धपर्याय को जाननेवाले सम्यक्त्वी लोकोत्तर दृष्टिवान हैं, और उनसे विरुद्ध माननेवाले लौकिक दृष्टिवान हैं।

(७९) समझने के लिये एकाग्रता

यदि यह बात सुनकर समझे तो आनन्द आये ऐसी है, किन्तु इसे समझने के लिये ज्ञान को अन्यत्र से हटाकर कुछ एकाग्र करना चाहिये। अभी तो जिसके श्रवण मे भी एकाग्रता न हो और श्रवण के समय भी चित्त अन्यत्र भटकता हो, वह अन्तर मे एकाग्र होकर यह बात समझेगा कब ?

(८०) भीतर दृष्टि करने से सारा निर्णय होता है

प्रश्नः—आप तो बहुत से पक्ष (–पहलू) समझाते हैं, किन्तु हमारी बुद्धि अल्प है, उससे क्या–क्या समझें ?

उत्तरः—अरे भाई ! जो समझना चाहे उसे यह सब समझमे आ सकता है। दृष्टि बाह्य मे डाली है, उसे बदलकर अन्तर मे दृष्टि

करते ही यह सभी पक्ष समझ में आ सकते हैं। समझनेवाला स्वयं भीतर बैठा है या कही अन्यत्र गया है ? अन्तर में शक्तिरूप से परिपूर्ण ज्ञायकस्वभाव विद्यमान है; उसमें दृष्टि करे इतनी देर है। "मेरे नैनों की आलस से रे. मैं हरि को न नीरख्यो जरी .." इस प्रकार दृष्टि डालते ही निहाल कर दे ऐसा भगवान आत्मा भीतर बैठा है, किन्तु नयनों के आलस्य से अज्ञानी उसे नही देखता। अतर्मुख दृष्टि करते ही इन सब पक्षों का निर्णय हो जाता है।

(८१) ज्ञाता स्व-पर को जानता हुआ उत्पन्न होता है

ज्ञाताभाव की क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ धर्मी जीव अपने ज्ञानस्वभाव को भी जानता है; स्व-पर दोनों को जानता हुआ उत्पन्न होता है, किन्तु स्व-पर दोनों को करता हुआ उत्पन्न नही होता। कर्ता तो एक स्व का ही है, और स्व में भी वास्तव में ज्ञायकभाव की क्रमबद्धपर्याय को ही करता है; राग का कर्तृत्व धर्मी की दृष्टि मे नही है।

ज्ञान उत्पन्न होता हुआ स्व को और राग को भी जानता हुआ उत्पन्न होता है, किन्तु "राग को करता हुआ" उत्पन्न होता है—ऐसा नही है। ज्ञान उत्पन्न होता है और स्वयं अपने को जानता हुआ उत्पन्न होता है। उत्पन्न होना और जानना दोनो क्रियायें एकसाथ है, ज्ञान में वे दोनों क्रियायें एकसाथ होने में कोई विरोध नही है। "आत्मा स्वयं अपने को किस प्रकार जानता है—इस सम्बन्ध में प्रवचनसार की ३६ वीं गाथा मे आचार्यदेव ने शंका—समाधान किया है। एक पर्याय मे से दूसरी पर्याय की उत्पत्ति होने मे विरोध है, किन्तु ज्ञानपर्याय स्वय उत्पन्न हो और उसी समय वह स्व को जाने—ऐसी दोनो क्रियायें एकसाथ होने मे कोई विरोध नही है, क्योकि ज्ञान का स्वभाव ही स्व-पर को प्रकाशित करने का है। ज्ञान स्वयं अपने को नही जानता—ऐसा जाननेवाले ने वास्तव मे ज्ञान को ही नही माना है। यहाँ तो कहते है कि ज्ञानी स्वयं अपने को जानता हुआ क्रमबद्ध ज्ञायकभावरूप ही उत्पन्न होता है। यह बात बराबर समझने योग्य है।

(८२) लोकोत्तरदृष्टि की बात समझने के लिये ज्ञान की एकाग्रता

कालेज के बड़े–बडे प्रोफेसरो के भाषण की अपेक्षा भी यह तो अलग प्रकार की बात है; वहाँ तो समझने के लिये ध्यान रखता है, तथापि जितना पूर्व का विकास हो तदनुसार ही समझ में आता है; और समझने पर भी उसमें आत्मा का कल्याण तो होता नही है। और यह तो लोकोत्तर दृष्टि की बात है, इसमे ध्यान रखकर समझने के लिये ज्ञान को एकाग्र करें तो वर्तमान मे भी नया–नया विकास होता जाये और अन्तर मे एकाग्र होकर समझे उसका तो अपूर्व कल्याण हो जाये।

(८३) सम्यक्त्वी जीव निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूप से ही उत्पन्न होता है

जीव अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होने से, उसके अनत गुण एकसाथ परिणमित होते हैं, ज्ञायकस्वभाव की ओर झुकाव हुआ वहाँ श्रद्धा–ज्ञान–चारित्रादि सर्व गुणो के परिणमन मे निर्मलता के अंश का प्रारम्भ हो जाता है, फिर भले ही उसमे अल्प-अधिक अंश व्यक्त हो। चौथे गुणस्थान मे क्षायिक श्रद्धा हो जाये तथापि ज्ञान–चारित्र पूरे नही हो जाते, किन्तु उनका अश तो प्रगट हो जाता है। इसप्रकार सम्यक्त्वी को निर्मल पर्यायरूप से उत्पन्न होने की ही मुख्यता है; अस्थिरता के जो रागादिभाव होते हैं वे उसकी दृष्टि मे गौण हैं, अभूतार्थ है। ज्ञायकभाव पर दृष्टि रखकर सम्यक्त्वी निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूप ही उत्पन्न होता है—रागादिरूप से वह वास्तव में उत्पन्न ही नही होता।

(८४) क्रमबद्धपरिणाम में छह–छह कारक

आचार्यदेव कहते हैं कि "जीव अपने क्रमबद्धपरिणामरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नही है," उसमें छहों कारक लागू होते हैं वह इसप्रकार हैं:—

१—जीव स्वय अपनी पर्याय के कर्तारूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव का कर्ता नही है।

२—जीव स्वयं अपने कर्मरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव का कर्म नही है।

३—जीव स्वयं अपने करणरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव का करण नही है।

४—जीव स्वयं अपने सम्प्रदानरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव का सम्प्रदान नही है।

५—जीव स्वयं अपने अपादानरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव का अपादान नहीं है।

६—जीव स्वयं अपने अधिकरणरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव का अधिकरण नही है।

और इसीप्रकार अन्य छह कारक भी निम्नानुसार समझना चाहिये:—

१—जीव अपनी पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव को अपना कर्ता नहीं बनाता।

२—जीव अपनी पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव को अपना कर्म नही बनाता।

३—जीव अपनी पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव को अपना करण नही बनाता।

४—जीव अपनी पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव को अपना सम्प्रदान नहीं बनाता

५—जीव अपनी पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव को अपना अपादान नही बनाता।

६—जीव अपनी पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव को अपना अधिकरण नही बनाता।

उसी प्रकार, अजीव भी अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न

अहो ..? रंग के परमाणु पृथक् और पानी के परमाणु भी पृथक्; इसलिये रंग का निमित्त आने से पानी के परमाणुओ का रंग बदला ऐसा भी नही है; परन्तु पानी के परमाणु ही स्वयं अपनी वैसी रंग–अवस्थारूप से परिणमित हुए हैं।

आटे के परमाणुओं मे से रोटी की अवस्था होशियार स्त्री ने की है—ऐसा नही है, किन्तु स्वयं वे परमाणु ही उस अवस्थारूप से उत्पन्न हुए हैं।—यह बात भी ऊपर के दृष्टात अनुसार समझ लेना चाहिये।

स्कंध में रहनेवाला प्रत्येक परमाणु स्वतत्ररूप से अपनी क्रमबद्ध योग्यता से परिणमित होता है, स्कंध के अन्य परमाणुओ के कारण वह स्थूलरूप परिणमित हुआ—ऐसा नही है, किन्तु उसीमें स्थूलरूप से परिणमित होने की स्वतंत्र योग्यता हुई है। देखो, एक परमाणु पृथक् हो तब उसमे स्थूल परिणमन नही होता, किन्तु उसके स्कंध मे मिलता है तब उसमे स्थूल परिणमन होता है, तो उसके परिणमन मे इतना फेरफार हुआ या नही ?—हाँ, फेरफार तो हुआ है, किन्तु वह किसके कारण ?–तो कहते है कि अपनी ही क्रमबद्ध-पर्याय के कारण, पर के कारण नही। एक पृथक् परमाणु स्थूल स्कंध मे मिला, वहाँ वह जैसा पृथक् या वैसा ही स्कंध मे नही रहा किन्तु सूक्ष्म मे से स्थूलस्वभावरूप से उसका परिणमन हुआ है। उसमे सर्वथा फेरफार नही हुआ—ऐसा भी नही है, और पर के कारण फेरफार हुआ—ऐसा भी नही है। उसकी अपनी योग्यता से ही उसमें फेरफार अर्थात् सूक्ष्मता मे से स्थूलतारूप परिणमन हुआ है। जिस प्रकार एक पृथक् परमाणु मे स्थूलतारूप परिणमन नही होता, उसी प्रकार स्थूल स्कध मे भी यदि उसका स्थूल परिणमन न होता हो तो यह शरीरादि नोकर्म इत्यादि कुछ सिद्ध ही नही होगे। पृथक् परमाणु स्थूल स्कन्ध मे मिलने से उसमे स्थूलतारूप परिणमन तो होता है, किन्तु वह परके कारण नही होता, उसकी अपनी योग्यता से होता है।

(८९) क्रमबद्ध का निर्णय करनेवाले को "अभाग्य" होता ही नहीं

"अभाग्य से कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र का निमित्त बन जाये तो उल्टा अतत्त्वश्रद्धान पुष्ट हो जाता है"—ऐसा मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है, किन्तु वहाँ भी वैसे निमित्तों के सेवन का विपरीत भाव कौन करता है ? वास्तव में तो अपना जो विपरीत भाव है वही अभाग्य है। आत्मा के ज्ञायकस्वभाव की ओर झुककर जिसने क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किया उसके ऐसा अभाग्य होता ही नही—अर्थात् कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का सेवन उसके होता ही नही।

आत्मा ज्ञायक है और वस्तु की पर्याय क्रमबद्धरूप से स्वयं होती है—ऐसे वस्तुस्वरूप को जो नहीं जानता उसका ज्ञान सच्चा नही होता, और सच्चे ज्ञान बिना निर्मलपर्याय अर्थात् शांति या धर्म नही होता।

(९०) स्वाधीनदृष्टि से देखनेवाला—ज्ञाता

आइस ('बर्फ') डालने से पानी की ठण्डी अवस्था हुई—ऐसा नही है; पानी में शक्कर डाली इसलिये उस शक्कर के कारण पानी के परमाणुओं में मीठी अवस्था हुई—ऐसा नही है; वे परमाणु स्वाधीन-रूप से वैसी अवस्थारूप परिणमित हुए है। अपने आत्मा को स्वाधीन-दृष्टि से ज्ञायकभाव से परिणमित देखनेवाला जगत के समस्त पदार्थों को भी स्वाधीन परिणमित देखता है; इसलिये वह ज्ञाता ही है, अकर्ता ही है। आत्मा तो अजीव के कार्य को नही करता, किन्तु एक स्कन्ध में रहनेवाले अनेक परमाणुओं में भी एक परमाणु दूसरे परमाणु का कार्य नही करता।—ऐसी स्वतन्त्रता है।

(९१) संस्कार की सार्थकता, तथापि पर्याय की क्रमबद्धता

प्रश्नः—प्रवचनसार के ४७ नयों मे तो कहा है कि अस्वभाव-नय से आत्मा संस्कार को सार्थक करनेवाला है; जिसप्रकार लोहे के

तीर में संस्कार डालकर लुहार नई नोक निकालता है, उसीप्रकार आत्मा की पर्याय मे नये संस्कार पड़ते है;—ऐसा है तो फिर पर्याय की क्रमवद्धता का नियम कहाँ रहा ?

उत्तर:—पर्याय निरन्तर नई नई होती है, आत्मा अपनी पर्याय में जैसे संस्कार डालते हैं वैसी पर्याय होती है। अनादि से पर्याय मे मिथ्याश्रद्धा–ज्ञान थे, उनके वदले अव ज्ञायकस्वभाव की ओर ढलने से वे मिथ्याश्रद्धा–ज्ञान दूर होकर, सम्यक्श्रद्धा–ज्ञान के अपूर्व संस्कार पड़े, इसलिये पर्याय मे नये संस्कार कहे। तथापि वहाँ क्रमवद्धपर्याय का नियम नही टूटा है। क्या सर्वज्ञभगवान ने वैसा नही देखा था और हो गया ? अथवा क्या क्रमवद्धपर्याय मे वैसा नही था और हो गया ?—ऐसा नही है। स्वयं अपने ज्ञायकस्वभाव सन्मुख के पुरुषार्थ द्वारा निर्मलपर्यायरूप उत्पन्न हुआ वहाँ, केवलीभगवान ने क्रमवद्धपर्याय मे जो निर्मलपर्याय होना देखा था वही पर्याय आकर उपस्थित हो गई। इसप्रकार, ज्ञायकस्वभाव का पुरुषार्थ करनेवाले को पर्याय मे मिथ्यात्व दूर होकर सम्यग्दर्शन के अपूर्व नये संस्कार पडे विना नही रहते, और क्रमबद्धपर्याय का क्रम भी नही टूटता।—ऐसा मेल ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि के बिना समझ मे नही आयेगा।

(९२) क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता कौन ?

जिसे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं है और क्रमवद्धपर्याय मे आगा–पीछा करना मानता है उसे जीव-अजीव द्रव्यो की खबर नही है इसलिये मिथ्याज्ञान है। जो परका कर्तृत्व मानता है उसे तो अभी परसे भिन्नत्व का भी भान नही है; परसे भिन्नत्व को जाने बिना अन्तर मे ज्ञान और राग की भिन्नता उसके ख्याल मे नही आ सकेगी। यहाँ तो ऐसी बात है कि जो अपने ज्ञानस्वभाव की ओर ढला वह क्रमवद्धपर्याय का ज्ञाता है, राग को भी वह ज्ञान से भिन्न ज्ञेयरूप जानता है। ऐसा ज्ञाता रागादि का अकर्ता ही है।

★

❋ चौथा प्रवचन ❋

[आश्विन कृष्णा ३०, वीर सं. २४८०]

क्रमबद्धपर्याय का निर्णय भी ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि द्वारा ही होता है, इसलिये उसमें जैनशासन आ जाता है। जो अबद्धस्पृष्ट आत्मा को देखता है वह समस्त जिनशासन को देखता है—ऐसा पन्द्रहवी गाथा में कहा है; और यहाँ—"जो ज्ञायकदृष्टि से क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करता है वह समस्त जिनशासन को देखता है"—ऐसा कहा जाता है,—उन दोनो का तात्पर्य एक ही है। दृष्टि को अन्तरोन्मुख करके जहाँ ज्ञा....य....क पर दृष्टि स्थिर की वहाँ सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान के साथ चारित्र, आनन्द, वीर्यादि का भी शुद्धपरिणमन होने लगा, यही जैनशासन है।

(९३) क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में सात तत्त्वों की श्रद्धा

जीव और अजीव दोनो की अवस्था उस-उस काल क्रमबद्ध स्वतन्त्र होती है, उन्हे एक-दूसरे के साथ कार्यकारणपना नही है। जीव का ज्ञायकस्वभाव है, उस ज्ञायक को जानने की मुख्यतापूर्वक क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता है।—ऐसी प्रतीति मे सातो तत्त्वो की श्रद्धा भी आ जाती है इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन इसमे आ जाता है। सातो तत्त्वों की श्रद्धा किसप्रकार आती है वह कहते हैं:—

(१-२) अपने ज्ञानादि अनन्त गुणों को ज्ञेय बनाकर क्रमबद्ध ज्ञाता-दृष्टा परिणामरूप से मैं उत्पन्न होता हूँ और उसमें मैं तन्मय हूँ ऐसी स्वसन्मुख प्रतीति में जीवतत्त्व की प्रतीति आ गई, ज्ञाता-दृष्टारूप से उत्पन्न होता हुआ मै जीव हूँ, अजीव नही हूँ,—इस प्रकार अजीव से भिन्नत्व का-कर्म के अभाव आदि का—ज्ञान भी आ गया; इसलिये अजीवतत्त्व की प्रतीति हो गई।

(३-४-५-६) ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से श्रद्धा-ज्ञान निर्मल हुए है, चारित्र मे भी अशतः शुद्धता प्रगट हुई है और अभी

साधकदशा होने से अमुक रागादि भी होते है। वहाँ श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र का जितना निर्मल परिणमन है उतने ही संवर–निर्जरा हैं, और जितने रागादि होते हैं उतने ही अंश मे आस्रव–बन्ध है। साधक को उस शुद्धता और अशुद्धता दोनो का ज्ञान रहता है इसलिये उसे आस्रव–बन्ध–संवर–निर्जरा तत्त्वों की प्रतीति भी आ गई।

(७) परका अकर्ता होकर ज्ञायकस्वभाव मे एकाग्र होने से क्रमवद्धपर्याय में अंशतः शुद्धता प्रगट हुई है और अब इसी क्रम से ज्ञायकस्वभाव मे पूर्ण एकाग्र होने से पूर्ण ज्ञाता–दृष्टापना (केवलज्ञान) प्रगट हो जायेगा और मोक्षदशा हो जायेगी,—ऐसी श्रद्धा होने से मोक्षतत्त्व की प्रतीति भी उसमे आ गई।

इसप्रकार, ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख होकर क्रमवद्धपर्याय की प्रतीति करने से उसमें "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" भी आ जाता है।

(९४) सदोष आहार छोड़ने का उपदेश और क्रमवद्धपर्याय–उसका मेल

प्रश्नः—यदि पर्याय क्रमबद्ध ही होती है, आहार भी जो आना हो वही आता है, तो फिर—"मुनियो को सदोष आहार छोड़कर निर्दोष आहार लेना चाहिये"—ऐसा उपदेश किसलिये ?

उत्तरः—वहाँ ऐसी पहचान कराई है कि जहाँ मुनिदशा हुई हो वहाँ इसप्रकार का सदोष आहार लेने का भाव होता ही नही, उस भूमिका का क्रम ही ऐसा है कि वहाँ सदोष आहार लेने की वृत्ति ही नही होती। ऐसा आहार लेना चाहिए और ऐसा छोडना चाहिए—यह तो निमित्त का कथन है। किन्तु कोई ऐसा कहे कि—"भले ही सदोष आहार आना होगा तो सदोष आयेगा, किन्तु हमे उसके ग्रहण की वृत्ति नही है"—तो वह स्वच्छन्दी है, उसकी दृष्टि तो आहार पर है, ज्ञायक पर उसकी दृष्टि नही है। मुनियो के तो ज्ञान मे इतनी अधिक सरलता हो गई है कि—"यह आहार मेरे लिये बनाया होगा !" इतनी वृत्ति उठे तो भी (–फिर भले ही वह आहार उनके लिये किया हुआ न

हो और निर्दोष हो तो भी–) वह आहार लेने की वृत्ति छोड़ देते है। और कदाचित् उद्देशिक (–मुनि के लिये बनाया हुआ) आहार हो, किन्तु यदि स्वय को शंका की वृत्ति न उठे और वह आहार ले लें तो भी मुनि को वहाँ कुछ भी दोष नही लगता। इस क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करनेवाले का जोर अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर जाता है, पुरुषार्थ का जोर ज्ञायकस्वभाव की ओर ढले बिना क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय हो ही नहीं सकता।

(६५) क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में जैनशासन

देखो, अपने ज्ञाता–दृष्टा स्वभाव की प्रतीतिपूर्वक इस क्रमबद्ध-पर्याय का निर्णय किया वहाँ अपनी क्रमबद्धपर्याय में ज्ञातापने की ही अधिकता हुई, और राग का भी ज्ञाता ही रहा। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय भी ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि द्वारा ही होता है, इसलिये उसमें जैनशासन आ जाता है। जो अबद्धस्पृष्ट आत्मा को देखता है वह समस्त जिनशासन को देखता है—ऐसा पन्द्रहवीं गाथा में कहा, और यहाँ—"जो ज्ञायकदृष्टि से क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करता है वह समस्त जिनशासन को देखता है"—ऐसा कहा जाता है; उन दोनों का तात्पर्य एक ही है। दृष्टि को अन्तरोन्मुख करके जहाँ ज्ञा .य क पर दृष्टि स्थिर की वहाँ सम्यक्श्रद्धा–ज्ञान के साथ चारित्र, आनन्द, वीर्यादि का भी शुद्ध परिणमन होने लगा, यही जैनशासन है, फिर वहाँ साधकदशा में चारित्र की अस्थिरता का राग और कर्म का निमित्तादि कैसे होते हैं वह भी स्व–परप्रकाशक ज्ञान मे ज्ञेयरूप से ज्ञात हो जाता है।

जिस जीव मे या अजीव में, जिस समय जिस पर्याय की योग्यता का काल है उस समय उस पर्यायरूप से वह स्वय परिणमित होता है, किसी अन्य निमित्त के कारण वह पर्याय नही होती। ऐसे वस्तुस्वभाव का निर्णय करनेवाला जीव अपने ज्ञायकभाव का आश्रय करके ज्ञाता–दृष्टाभावरूप से ही उत्पन्न होता है, किन्तु अजीव के

आश्रय से उत्पन्न नही होता। साधक होने से भले ही अधूरी दशा है, तथापि ज्ञायकस्वभाव के आश्रय की मुख्यता से ज्ञायकरूप ही उत्पन्न होता है, रागादि की मुख्यतारूप उत्पन्न नही होता। जिसने ज्ञायक-स्वभाव की दृष्टि से क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किया वही वास्तव में सर्वज्ञ को जानता है, वही जैनशासन को जानता है, वही उपादान–निमित्त और निश्चय–व्यवहार को यथार्थरूप से पहिचानता है। जिसे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नही है उसे वह कुछ भी यथार्थ—सच्चा नही होता।

(९६) आचार्यदेव के अलौकिक मंत्र

अहो ! यह तो कुन्दकुन्दाचार्यदेव के और अमृतचन्द्राचार्यदेव के अलौकिक मन्त्र हैं। जिसे आत्मा की परिपूर्ण ज्ञानशक्ति का विश्वास आ जाये उसीको यह क्रमबद्धपर्याय समझ मे आ सकती है। समयसार मे आचार्यदेव ने जगह–जगह यह बात रखी है—

मंगलाचरण मे ही सबसे पहले कलश मे शुद्धात्मा को नमस्कार करते हुए कहा था कि—"सर्वभावांतरच्छिदे" अर्थात् शुद्धात्मा अपने से अन्य सर्व जीवाजीव, चराचर पदार्थों को सर्व क्षेत्रकाल सम्बन्धी सर्व विशेषणो सहित, एक ही समय मे जाननेवाला है। यहाँ सर्व क्षेत्रकाल सम्बन्धी जानना कहा उसमे क्रमबद्धपर्याय होना आ ही गया। ("स्वानुभूत्या चकासते" अर्थात् अपनी अनुभवनक्रिया से प्रकाशित होता है—ऐसा कहकर उसमे स्व–परप्रकाशकपना भी बतलाया है।)

फिर दूसरी गाथा मे जीव के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि—"क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तित अनेक भाव जिसका स्वभाव होने से जिसने गुण–पर्यायें अगीकार की हैं।"—उसमे क्रमबद्धपर्याय की बात आगई।

तत्पश्चात् "अनुक्रम से आविर्भाव और तिरोभाव प्राप्त करती हुईं वे–वे व्यक्तियाँ ..." इसप्रकार ६२ वी गाथा मे कहा, उसमे भी क्रमवद्धपर्याय की बात समा गई।

तत्पश्चात् कर्ता–कर्म अधिकार की गाथा ७६–७७–७८ मे "प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य" ऐसे कर्म की बात की; वहाँ कर्ता, जो नवीन उत्पन्न नही करता तथा विकार करके अर्थात् फेरफार करके भी नही करता, मात्र जिसे प्राप्त करता है वह कर्ता का प्राप्य कर्म है,—ऐसा कहा उसमे भी पर्याय का क्रमबद्धपना आ गया। द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्याय को प्रतिसमय प्राप्त करता है—पहुँच जाता है।

तत्पश्चात् पुण्य–पाप अधिकार की गाथा १६० "सो सव्वणाण-दरिसी.." में कहा है कि आत्मद्रव्य स्वयं ही "ज्ञान" होने के कारण विश्व को (सर्व पदार्थों को) सामान्य–विशेषरूप से जानने के स्वभाववाला है. .किन्तु अपने पुरुषार्थ के अपराध से सर्व प्रकार से सम्पूर्ण ऐसे अपने को (अर्थात् सर्व प्रकार से सर्व ज्ञेयों को) जाननेवाले ऐसे अपने को नही जानता इसलिये अज्ञानभाव से वर्तता है। यहाँ "विश्व को सामान्य–विशेषरूप से जानने का स्वभाव" कहने से उसमे क्रमबद्धपर्याय की बात भी समा गई। जीव अपने सर्वज्ञस्वभाव को नही जानता इसीलिये अज्ञानी है। यदि अपने सर्वज्ञस्वभाव को जाने तो उसमें क्रमबद्धपर्याय का भी निर्णय हो जाये और अज्ञान न रहे।

आस्रव अधिकार में गाथा १६६ मे "स्वयं ज्ञानस्वभाववाला होकर, केवल जानता ही है"—ऐसा कहा, वहाँ ज्ञेयो का क्रमबद्धपना आ गया।

तत्पश्चात् संवर अधिकार मे "उपयोग उपयोग में ही है, क्रोध मे या कर्म–नोकर्म मे उपयोग नही है"—ऐसा कहा, वहाँ उपयोग के स्व-परप्रकाशकस्वभाव मे क्रमबद्धपर्याय की बात भी सिद्ध हो जाती है।

फिर निर्जरा अधिकार गाथा २१६ मे वेद्य और वेदक दोनो भावों की क्षणिकता बतलाई है, वे दोनों भाव कभी इकट्ठे नही होते—ऐसा होकर उनकी क्रमबद्धता बतलाई है। समय–समय की उत्पन्न–ध्वंसीपर्याय पर ज्ञानी की दृष्टि नही है किन्तु ध्रुव ज्ञायक-

स्वभाव पर उसकी दृष्टि है, ध्रुव ज्ञायक पर दृष्टि रखकर वह क्रमबद्ध-पर्याय का ज्ञाता है।

पश्चात् बंध अधिकार में १६८ वें कलश (सर्वं सदैव नियतं .) मे कहा है कि—इस जगत मे जीवो को मरण, जीवित, दुःख, सुख —सब सदैव नियम से अपने कर्म के उदय से होता है, "दूसरा पुरुष दूसरे के मरण, जीवन, दुःख, सुख करता है,—ऐसा जो मानना है वह तो अज्ञान है।" इसलिये आत्मा उस क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता है, किन्तु उसका बदलनेवाला नही है—यह बात उसमे आ गई।

मोक्ष अधिकार में भी गाथा २९७–९८–९९ मे छह कारकों का वर्णन करके, आत्मा को "सर्वविशुद्धचिन्मात्रभाव" कहा। 'सर्व-विशुद्धचिन्मात्र' कहने से सामनेवाले ज्ञेय पदार्थों के परिणाम भी क्रमबद्ध हैं—ऐसा उसमे आ गया।

इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार की चलती हुई (३०८से३११वी) गाथाओं में भी क्रमबद्धपर्याय की स्पष्ट बात की है।

दूसरे शास्त्रो मे भी अनेक स्थानो पर यह बात की है। पं० बनारसीदासजी ने श्री जिनेन्द्र भगवान के १००८ नामो मे "क्रमवर्ती" —ऐसा भी एक नाम दिया है।

(९७) स्पष्ट और मूलभूत बात—"ज्ञानशक्ति का विश्वास"

यह तो सीधी और स्पष्ट बात है कि आत्मा ज्ञान है, सर्वज्ञता का उसमे सामर्थ्य है, सर्वज्ञता मे क्या जानना शेष रह गया? सर्वज्ञता के सामर्थ्य पर जोर न आये तो क्रमबद्धपर्याय समझ मे नही आ सकती। इधर सर्वज्ञता के सामर्थ्य को प्रतीति मे लिया वहाँ ज्ञेयों मे क्रमबद्धपर्यायें हैं उसका निर्णय भी हो गया। इस प्रकार यह आत्मा के मूलभूत ज्ञायकस्वभाव की बात है। इसका निर्णय न करे तो सर्वज्ञ की भी सच्ची श्रद्धा नही होती। जिसे आत्मा की ज्ञान-शक्ति का ही विश्वास न आये उसे जैनशासन की एक भी बात समझ मे नही आ सकती।

सम्यक्त्वी अपने ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करके ज्ञातापने के क्रमबद्धपरिणामरूप उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, किन्तु कर्म का आश्रय करके उत्पन्न नही होता इसलिये अजीव नही है।

तत्पश्चात् स्वरूप मे विशेष एकाग्रता द्वारा छट्ठे—सातवें गुणस्थानरूप मुनिदशा प्रगट हुई, उस मुनिदशारूप भी जीव स्वयं ही अपने क्रमबद्धपरिणाम से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, किन्तु निर्दोष आहारादि के आश्रय से उस पर्यायरूप से उत्पन्न नही होता इसलिये अजीव नहीं है।

फिर केवलज्ञानदशा हुई, उसमे भी जीव स्वयं ही क्रमबद्ध-परिणमित होकर उस अवस्थारूप से उत्पन्न हुआ है, इसलिये वह जीव ही है, किन्तु चौथा काल या शरीर का संहनन आदि अजीव के कारण वह अवस्था उत्पन्न नही हुई, तथा जीव ने उस अजीव की अवस्था नही की, इसलिये वह अजीव नही है।

(९८) अहो! ज्ञाता की क्रमबद्धधारा!

देखो, यह ज्ञाता की क्रमबद्धपर्याय! इसमे तो केवलज्ञान का समावेश होता है, मोक्षमार्ग आ जाता है, सम्यग्दर्शन आ जाता है। और इससे विरुद्ध माननेवाला अज्ञानी कैसा होता है उसका ज्ञान भी आ जाता है। जीव और अजीव सभी तत्त्वों का निर्णय इसमे आ जाता है।

देखो, यह सत्य की धारा!—ज्ञायकभाव का क्रमबद्धप्रवाह!! ज्ञानी को अपने ज्ञायकस्वभाव मे एकता द्वारा सम्यग्दर्शन से प्रारम्भ करके ठेठ केवलज्ञान तक अकेले ज्ञायकभाव की क्रमबद्धधारा चली जाती है।

शास्त्र मे उपदेशकथन अनेक प्रकार के आते हैं। उस—उस काल संतों को वैसे विकल्प उठनेसे उस प्रकार की उपदेशवाणी निकली; वहाँ ज्ञाता तो अपने ज्ञायकभाव की धारारूप से उत्पन्न होता हुआ

उस वाणी और विकल्प का ज्ञाता ही है, किन्तु उसमे तन्मय होकर उसरूप उत्पन्न नहीं होता।

जगत का कोई पदार्थ बीच मे आकर जीव की क्रमबद्ध-पर्याय को बदल दे—ऐसा तीनकाल मे नही होता; जीव अपनी क्रमबद्ध-पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, इसी प्रकार अजीव भी उसकी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है। जो जीव ऐसा निर्णय और भेदज्ञान नही करता वह अज्ञानरूप से भ्राति मे भ्रमण कर रहा है।

(९९) ज्ञान के निर्णय में क्रमबद्ध का निर्णय

प्रश्नः—तीनकाल की पर्याय क्रमबद्ध है, तथापि कल की बात भी ज्ञात क्यो नही होती?

उत्तरः—उसका जाननेवाला ज्ञायक कौन है उसका तो पहले निर्णय करो। ज्ञाता का निर्णय करने से तीनकाल की क्रमबद्धपर्याय का भी निर्णय हो जायेगा। और देखो, गई कल को शनिवार था और कल सोमवार ही आयेगा, उसके बाद मंगलवार ही आयेगा,—इस प्रकार सातो वारो की क्रमबद्धता जानी जा सकती है या नही? 'बहुत समय बाद कभी सोमवार के पश्चात् शनिवार आ जायेगा तो? अथवा रविवार के बाद बुधवार आ जायेगा तो? ऐसी शका कभी नही होती क्योकि उस प्रकार का क्रमबद्धताका निर्णय हुआ है। उसी प्रकार आत्मा के केवलज्ञान स्वभाव की प्रतीति करने से समस्त द्रव्यो की क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हो जाता है। यहाँ तो "क्रमबद्ध-पर्याय" कहने से ज्ञायक का निर्णय करने का प्रयोजन है। ज्ञाता अपने स्वभावसन्मुख होकर परिणमित हुआ वहाँ स्वय स्वकाल मे क्रमबद्धपरिणमित होता है, और उसका स्व-परप्रकाशकज्ञान विकसित हुआ वह पर को भी क्रमबद्धपरिणमित जानता है, इसलिये उनका वह कर्ता नही होता।

(१००) "निमित्त न आये तो ?"—ऐसा कहनेवाला निमित्त को नहीं जानता

प्रश्नः—यदि वस्तु की क्रमबद्धपर्याय अपने आप निमित्त के बिना हो जाती हो तो, यह पीछी यहाँ पडी है उसे हाथ के निमित्त बिना ऊपर उठा दीजिये !

उत्तरः—अरे भाई ! पीछी की अवस्था पीछी में और हाथ की अवस्था हाथ मे,—उसमे तू क्या कर सकता है ? पीछी उसके क्षेत्रान्तर की क्रमबद्धपर्याय से ही ऊपर उठती है, और उस समय हाथ आदि निमित्त भी अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से होते ही है, न हों ऐसा नही होता। इस प्रकार निमित्त का अस्तित्व होने पर भी उसे जो नही मानता, और "निमित्त न आये तो. . ." ऐसा तर्क करता है वह क्रमबद्धपर्याय को या उपादान-निमित्त को समझा ही नही है। "है" फिर न हो तो ."यह प्रश्न ही कहाँ से आया ?

(१०१) "निमित्त बिना कार्य नहीं होता"-इसका आशय क्या ?

उपादान-निमित्त की स्पष्टता का प्रचार होने से अब कुछ लोग ऐसी भाषा का उपयोग करते है कि—"निमित्त भले ही कुछ नही करता, किन्तु उसके बिना तो कार्य नही होता न !" किन्तु गहराई से तो उनके भी निमित्ताधीन दृष्टि ही पड़ी है। निमित्त होता है उसे प्रसिद्ध करने के लिये शास्त्र मे भी ऐसा कहा जाता है कि "निमित्त के बिना नही होता," किन्तु "कार्य होना हो, और निमित्त न आये तो नही हो सकता"—ऐसा उसका अर्थ नही है। देवसेनाचार्य नयचक्र पृष्ठ ५२-५३ में कहते है कि—"यद्यपि मोक्षरूपी कार्य मे भूतार्थ से जाना हुआ आत्मा आदि उपादान कारण हैं, तथापि वह सहकारीकारण बिना सिद्ध नही होता, इसलिये सहकारीकारण की प्रसिद्धि के लिये निश्चय और व्यवहार का अविनाभाव सम्वन्ध वतलाते है।" इसमे तो, क्रमवद्धपर्याय मे उपादान की योग्यता के समय उस-

प्रकार का निमित्त होता ही है—ऐसा ज्ञान कराया है; कोई अज्ञानी, निमित्त को सर्वथा न मानता हो तो, "निमित्त विना नही होता"—ऐसा कहकर निमित्त की प्रसिद्धि कराई है अर्थात् उसका ज्ञान कराया है। किन्तु उससे निमित्त आया इसलिये कार्य हुआ और निमित्त न होता तो वह पर्याय नही होती"—ऐसा उसका सिद्धान्त नही है। "निमित्त बिना नही होता"—इसका आशय इतना ही है कि जहाँ-जहाँ कार्य होता है वहाँ वह होता है, न हो ऐसा नही हो सकता। निमित्त का ज्ञान कराने के लिये निमित्त की मुख्यता से कथन होता है परन्तु निमित्त की मुख्यता से कही पर कार्य नही होता, शास्त्रो मे तो निमित्त के और व्यवहार के अनेक लेख भरे है, किन्तु स्व-पर-प्रकाशक जागृत हुए बिना उनका आशय स्पष्ट कौन करेगा ?

(१०२) शास्त्रों के उपदेश के साथ क्रमबद्धपर्याय की सन्धि

कुन्दकुन्दाचार्यदेव की आज्ञा से वसुविन्दु अर्थात् जयसेनाचार्य देव ने दो दिन मे ही एक प्रतिष्ठापाठ की रचना की है, उसमे जिनेन्द्र प्रतिष्ठा सम्बन्धी क्रियाओ का प्रारम्भ से लेकर अन्त तक का वर्णन किया है। प्रतिमाजी के लिये ऐसा पाषाण लाना चाहिये, ऐसी विधि से लाना चाहिये, ऐसे कारीगरो के पास ऐसी प्रतिमा बनवाना चाहिये तथा अमुक विधि के लिये मिट्टी लेने जाये वहाँ जमीन खोदकर मिट्टी ले ले और फिर बढी हुई मिट्टी से वह गड्ढा पूरने पर यदि मिट्टी बढे तो उसे शुभ शकुन समझना चाहिये।—इत्यादि अनेक विधियो का वर्णन आता है, किन्तु आत्मा का ज्ञायकपना रखकर वह सब बात है। ज्ञायकपने से च्युत होकर या क्रमबद्धपने को तोडकर वह बात नही है। प्रतिष्ठा करानेवाले को उस प्रकार का विकल्प होता है और मिट्टी आदि की वैसी क्रमबद्धपर्याय होती है—उसकी वहाँ पहिचान कराई है, किन्तु ऐसा नही बतलाया है कि अजीव की पर्याय जीव कर देता है। प्रतिष्ठा मे "सिद्धचक्रमण्डलविधान" और "यागमण्डलविधान" आदि के बडे बडे रंगबिरगे मण्डल रचे जाते है, और शास्त्र मे भी उनका उपदेश आता है, तथापि वह सब क्रमबद्ध ही है, शास्त्र मे

उसका उपदेश दिया इसलिये उसकी क्रमबद्धता मिट गई या जीव उसका कर्ता हो गया—ऐसा नही है। ज्ञाता तो अपने को जानता हुआ उसे भी जानता है, और क्रमबद्धपर्याय से स्वयं अपने ज्ञायकभावरूप उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार मुनि को समिति के उपदेश मे भी "देखकर चलना, विचारकर बोलना, वस्तु को यत्नपूर्वक उठाना–रखना"—इत्यादि कथन आता है, किन्तु उसका आशय यह बतलाने का नही है कि शरीर की क्रिया को जीव कर सकता है। मुनिदशा में उस–उस प्रकार का प्रमादभाव होता ही नही, हिंसादि का अशुभभाव होता ही नही–ऐसा ही मुनिदशा की क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप है—वह बतलाया है। निमित्त से कथन करके समझायें, तो उससे कही क्रमबद्धपर्याय का सिद्धान्त नही टूट जाता।

(१०३) स्वयंप्रकाशीज्ञायक

शरीरादि का प्रत्येक परमाणु स्वतंत्ररूप से अपनी क्रमवद्धपर्यायरूप परिणमित हो रहा है, उसे कोई दूसरा अन्यथा बदल दे—ऐसा तीनकाल मे नही हो सकता। अहो ! भगवान आत्मा तो स्वयं प्रकाशी है, अपने क्षायिकभाव द्वारा वह स्व-पर का प्रकाशक ही है, किन्तु अज्ञानी को उस ज्ञायकस्वभाव की बात नही जमती। मैं ज्ञायक, क्रमबद्धपर्यायों को यथावत् जाननेवाला हूँ;—सदा जाननेवाला ही हूँ किन्तु किसीको बदलनेवाला नही हूँ—ऐसी स्वसन्मुख प्रतीति न करके अज्ञानीजीव कर्ता होकर पर को बदलना मानता है, वह मिथ्या–मान्यता ही ससार परिभ्रमण का मूल है।

सर्व जीव स्वयंप्रकाशीज्ञायक हैं; उसमे—

(१) केवली भगवान "पूर्ण ज्ञायक" है; (उनके ज्ञायकपना पूर्णव्यक्त हो गया है।)

(२) सम्यक्त्वी—साधक "अपूर्ण ज्ञायक" हैं; (उनके पूर्ण ज्ञायकपना प्रतीति में आ गया है, किन्तु अभी पूर्ण व्यक्त नही हुआ।)

विकल्प के कारण बाह्यकार्य होते हैं—ऐसा नहीं है। और विकल्प होता है उसपर भी ज्ञानी की दृष्टि का वल नही है।

(१०६) "ज्ञानी क्या करते हैं"—वह अन्तर्दृष्टि के विना नहीं जाना जा सकता

प्रश्नः—शरीर में रोग का होना या मिटना वह सब अजीव की क्रमवद्धपर्याय है—ऐसा ज्ञानी जानते हैं, तो भी वे दवा तो करते हैं, खाने-पीने मे भी परहेज रखते हैं—सब करते हैं!

उत्तरः—तुझे ज्ञायकभाव की खवर नही है, इसलिये अपनी बाह्यदृष्टि से तुझे ज्ञानी सब करते दिखाई देते हैं, किन्तु ज्ञानी तो अपने ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से ज्ञायकभाव मे ही तन्मयरूप से परिणमित हो रहे हैं, राग मे तन्मय होकर भी वे परिणमित नही होते, और पर की कर्ताबुद्धि तो उनके स्वप्न मे भी नही रही है। अन्तर्दृष्टि के बिना तुझे ज्ञानी के परिणमन की खवर नही पड सकती। ज्ञानी को अभी पूर्ण वीतरागता नही हुई है इसलिये अस्थिरता मे अमुक रागादि होते हैं, उन्हे वे जानते हैं, किन्तु अकेले राग को जानने की भी प्रधानता नही है। ज्ञायक को जानने की मुख्यतापूर्वक राग को भी जानते हैं; और अनन्तानुवन्धी रागादि उनके होते ही नही, तथा ज्ञायकदृष्टि मे स्वसन्मुख पुरुषार्थ भी चालू ही है। जो स्वच्छन्द का पोषण करें—ऐसे जीवो के लिये यह वात नही है।

(१०७) दो पंक्तियों में अद्भुत रचना!

अहो! दो पक्तियो की टीका मे तो आचार्यदेव ने जगत के जीव और अजीव समस्त द्रव्यो की स्वतत्रता का नियम रखकर अद्भुत रचना की है। जीव अपने क्रमबद्धपरिणामो से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नही है; इसीप्रकार अजीव भी अपने क्रमबद्धपरिणामो से उत्पन्न होता अजीव ही है, जीव नही है। जीव अजीव की पर्याय को करता है या अजीव जीव की पर्याय को करता है;—ऐसा जो माने

उसे जीव अजीव के भिन्नत्व की प्रतीति नहीं रहती अर्थात् मिथ्याश्रद्धा हो-जाती है।

(१०८) 'अभाव' है वहाँ 'प्रभाव' कैसे पाड़े ?

प्रश्नः—एक–दूसरे का कुछ कर नही सकते, किन्तु परस्पर निमित्त होकर प्रभाव तो पाड़ते हैं न ?

उत्तर:—किस प्रकार प्रभाव पाड़ते है ? क्या प्रभाव पाड़कर पर की अवस्था को कोई बदल सकता है ? कार्य हुआ उसमें निमित्त का तो अभाव है, तब फिर उसने प्रभाव कैसे पाड़ा ? जीव अपने स्वद्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव की अपेक्षा से सत् है, किन्तु परवस्तु के द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव की अपेक्षा से वह असत् है, इसलिये परद्रव्य की अपेक्षा से वह अद्रव्य है, परक्षेत्र की अपेक्षा से वह अक्षेत्र है, परकाल की अपेक्षा से वह अकाल है, और परवस्तु के भाव की अपेक्षा से वह अभावरूप है; तथा इस जीव के द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव की अपेक्षा से अन्य सर्व वस्तुये अद्रव्य–अक्षेत्र–अकाल और अभावरूप है। तब फिर कोई किसी मे प्रभाव पाडे यह बात नही रहती। द्रव्य, क्षेत्र और भाव को तो स्वतत्र कहे, किन्तु काल अर्थात् स्वपर्याय पर के कारण (निमित्त के कारण) होती है—ऐसा माने वह भी स्वतंत्र वस्तुरूप को नही समझा है। प्रत्येक वस्तु प्रतिसमय अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होती है अर्थात् उसका स्वकाल भी अपने से—स्वतंत्र है।

एक पण्डितजी ऐसा कहते हैं कि—"अमुक–अमुक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव मे ऐसी शक्ति है कि निमित्त होकर दूसरे पर प्रभाव डालते है"—किन्तु यदि निमित्त प्रभाव डालकर पर की पर्याय को बदल देता हो तो दो वस्तुओं की भिन्नता ही कहाँ रही ? प्रभाव डालना कहना तो मात्र उपचार है। यदि पर के द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव से अपनी पर्याय होना माने तो, अपने द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव से स्वयं नही है—ऐसा हो जाता है इसलिये अपनी नास्ति हो जाती है। इसी प्रकार स्वयं निमित्त होकर पर की अवस्था को करे तो सामने-

वाली वस्तु की नास्ति हो जाती है। और, कोई द्रव्य पर का कार्य करे तो वह द्रव्य पररूप है—ऐसा हो गया, इसलिये अपने रूप नही रहा। जीव के स्वकाल मे जीव है और अजीव के स्वकाल मे अजीव है; कोई किसी का कर्ता नही है।

पुनश्च, निमित्त की वलवानता वतलाने के लिये सूकरी के दूध का दृष्टान्त देते हैं कि—सूकरी के पेट में दूध तो वहुत भरा है, किन्तु दूसरा कोई उसे नही निकाल सकता; उसके छोटे-छोटे वच्चो के आकर्षक मुँह का निमित्त पाकर वह दूध झट उनके गले मे उतर जाता है।—इसलिये देखो, निमित्त का कितना सामर्थ्य है!—ऐसा कहते हैं किन्तु भाई! दूध का प्रत्येक रजकरण अपने स्वतन्त्र क्रमवद्धभाव से ही परिणमित हो रहा है। इसी प्रकार "हल्दी और चूने के मिलने से लाल रंग हुआ तो वहाँ एक–दूसरे पर प्रभाव डालकर नई अवस्था हुई या नही?"—ऐसा भी कोई कहते हैं, किन्तु वह वात सच्ची नही है। हल्दी और चूने के रजकरण एकमेक हुए ही नही हैं, उन दोनो का प्रत्येक रजकरण स्वतन्त्ररूप से अपने-अपने क्रमबद्धपरिणाम से ही उस अवस्थारूप उत्पन्न हुआ है, किसी दूसरे के कारण वह अवस्था नही हुई। जिस प्रकार हार मे अनेक मोती गुँथे हैं, उसी प्रकार द्रव्य में अनादि–अनन्त पर्यायो की माला है, उसमे प्रत्येक पर्यायरूपी मोती क्रमानुसार लगा है।

(१०९) प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्याय के साथ तद्रूप है

पहले तो आचार्यदेव ने मूल नियम बतलाया कि जीव और अजीव दोनो द्रव्य अपनी–अपनी क्रमवद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं; अब दृष्टान्त और उसका हेतु देते है। यहाँ दृष्टान्त भी "सुवर्ण" का दिया है;—जिसप्रकार सुवर्ण को कभी जग नही लगती, उसी प्रकार यह मूलभूत नियम कभी नही फिरता। जिस प्रकार कंकनादि पर्यायोरूप से उत्पन्न होनेवाले सुवर्ण का अपने ककनादिपरिणामो के साथ तादात्म्य है, उसी प्रकार सर्व द्रव्यो का अपने परिणामो के साथ

तादात्म्य है। सुवर्ण में चूड़ी आदि जो अवस्था हुई, उस अवस्थारूप से वह स्वयं ही उत्पन्न हुआ है, स्वर्णकार नहीं; यदि स्वर्णकार वह अवस्था करता हो तो उसमें वह तद्रूप होना चाहिये; किन्तु स्वर्णकार और हथौड़ी तो एक ओर पृथक् रहने पर भी वह कंकनपर्याय तो रहती है, इसलिये स्वर्णकार या हथौड़ी उसमें तद्रूप नही हैं—सुवर्ण ही अपनी कंकनादिपर्याय मे तद्रूप है। इस प्रकार सर्व द्रव्यों का अपने-अपने परिणामों के साथ ही तादात्म्य है—पर के साथ नही।

देखो, यह मेज पर्याय है, इसमे उस लकडी के परमाणु ही तद्रूप होकर उत्पन्न हुए है; बढई या आरी के कारण यह अवस्था हुई है—ऐसा नही है। यदि बढई के द्वारा यह मेजरूप अवस्था हुई हो तो बढ़ई इसमें तन्मय होना चाहिये; किन्तु इस समय बढई या आरी निमित्तरूप से न होने पर भी उन परमाणुओं मे मेज़पर्याय वर्त रही है, इसलिये निश्चित् होता है कि यह बढई का या आरी का काम नही है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु का—उत्पन्न होती हुई अपनी क्रमबद्ध-पर्यायों के साथ ही तादात्म्यपना है, किन्तु साथ में सयोगरूप से रहनेवाली अन्य वस्तुओ के साथ उसका तादात्म्यपना नही है।—ऐसा होने से जीव को अजीव के साथ कार्य-कारणपना नही है, इसलिये जीव अकर्ता है—यह बात आचार्यदेव युक्तिपूर्वक सिद्ध करेगे।

❁ पाँचवाँ प्रवचन ❁

[आश्विन शुक्ला १, वीर स० २४८०]

देखो, इस क्रमबद्धपर्याय में वास्तव में तो ज्ञानस्वभावी आत्मा की बात है; क्योकि क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता कौन ? "ज्ञायक" को जाने बिना क्रमबद्धपर्याय को जानेगा कौन ? ज्ञायकस्वभाव की ओर उन्मुख होकर जो ज्ञायकभावरूप से परिणमित हुआ वह ज्ञायक हुआ अर्थात् अकर्ता हुआ, और वही क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ।

---

(११०) क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होनेवाला ज्ञायक पर का अकर्ता है

यह सर्वविशुद्धज्ञान–अधिकार है; सर्वविशुद्धज्ञान अर्थात् शुद्धज्ञायकभाव, वह पर का अकर्ता है—यह बात यहाँ सिद्ध करना है।

अपने ज्ञायकभाव की क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव पर का कर्ता नही है और पर उसका कार्य नही है। पर्याय नई होती है उस अपेक्षा से वह "उत्पन्न होता है"—ऐसा कहा है। पहले वह पर्याय नही थी और नई प्रगट हुई—इसप्रकार पहले की अपेक्षा से वह नई उत्पन्न हुई कहलाती है; किन्तु उस पर्याय को निरपेक्षरूप से देखें तो प्रत्येक समय की पर्याय उस-उस समय का सत् है, उसकी उत्पत्ति और विनाश—वह तो पहले के और बाद के समय की अपेक्षा से है।

"द्रव्य के बिना पर्याय नही होती, अर्थात् द्रव्य और पर्याय–इन दो वस्तुओ के बिना कर्ताकर्मपना सिद्ध नही होता"—यह दलील तो तब आती है जब कर्ताकर्मपना सिद्ध करना हो; किन्तु "पर्याय भी निरपेक्ष सत् है"—ऐसा सिद्ध करना हो वहाँ यह बात नही आती। प्रत्येक समय की पर्याय भी स्वयं अपने से सत् होने से "द्रव्य से नही आलिंगित ऐसी शुद्धपर्याय है," पर्याय द्रव्य से आलिंगित नही है अर्थात् निरपेक्ष है। (देखो, प्रवचनसार गाथा १७२, टीका) यहाँ यह बात सिद्ध करना है कि अपनी निरपेक्ष क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव उसमे तद्रूप है। द्रव्य अपनी पर्याय के साथ तद्रूप—एकमेक है, किन्तु पर की पर्याय के साथ तद्रूप नही है, इसलिये उसका पर के साथ कर्ताकर्मपना नही है,—इसप्रकार ज्ञायक आत्मा अकर्ता है। यह कर्ताकर्म–अधिकार नही है किन्तु सर्वविशुद्धज्ञान–अधिकार है, इसलिये यहाँ ज्ञायकभाव पर का अकर्ता है—ऐसा अकर्तापना सिद्ध करना है।

जीव अपने क्रमबद्ध परिणामो से उत्पन्न होता हुआ जीव ही

है—अजीव नही है। "उत्पन्न होता है"—कौन उत्पन्न होता है ? जीव स्वयं। जीव स्वयं जिस परिणामरूप से उत्पन्न होता है उसके साथ उसे अनन्यपना—एकपना है, अजीव के साथ उसे अनन्यपना नही है इसलिये उसे अजीव के साथ कार्यकारणपना नही है। प्रत्येक द्रव्य को—स्वयं जिस परिणामरूप से उत्पन्न होता है—उसीके साथ अनन्यपना है, दूसरे के परिणामों के साथ उसे अनन्यपना नही है। इसलिये वह अकर्ता है। आत्मा भी अपने ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होता हुआ उसके साथ तन्मय है; वह अपने ज्ञानपरिणाम के साथ एकमेक है, किन्तु पर के साथ एकमेक नही है, इसलिये वह पर का अकर्ता है। ज्ञायकरूप उत्पन्न होते हुए जीव को कर्म के साथ एकपना नही है, इसलिये वह कर्म का कर्ता नही है; ज्ञायकदृष्टि मे वह नये कर्मबन्धन को निमित्त भी नही होता इसलिये वह अकर्ता ही है।

(१११) कर्म के कर्तापने का व्यवहार किसे लागू होता है ?

प्रश्नः—यह तो निश्चय की बात है, किन्तु व्यवहार से तो आत्मा कर्म का कर्ता है न ?

उत्तर—ज्ञायकस्वरूप आत्मा पर जिसकी दृष्टि नही है और कर्म पर दृष्टि है, ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव ही कर्म का व्यवहार से कर्ता है—यह बात आचार्यदेव अगली गाथाओ मे कहेगे। इसलिये जिसे अभी कर्म के साथ का सम्बन्ध तोड़कर ज्ञायकभावरूप परिणमित नही होना है किन्तु कर्म के साथ कर्ताकर्मपने का व्यवहार रखना है, वह तो मिथ्यादृष्टि ही है। मिथ्यात्वादि जडकर्म के कर्तापना का व्यवहार अज्ञानी को ही लागू होता है।

प्रश्नः—तो फिर ज्ञानी को कौन-सा व्यवहार ?

उत्तरः—ज्ञानी के ज्ञान मे तो अपने ज्ञायकस्वभाव को जानने की मुख्यता है, और मुख्य वह निश्चय है, इसलिये अपने ज्ञायकस्वभाव को जानना वह निश्चय है, और साधकदशा मे बीच में जो राग रहा है उसे जानना वह व्यवहार है। ज्ञानी को ऐसे निश्चय-व्यवहार एकसाथ

वर्तते हैं। किन्तु, मिथ्यात्वादि कर्मप्रकृति के बन्धन में निमित्त हो या व्यवहार से कर्ता हो—ऐसा व्यवहार ज्ञानी के होता ही नही। उसे ज्ञायकदृष्टि के परिणमन मे कर्म के साथ का निमित्त–नैमित्तिक–संबंध टूट गया है। अगली गाथाओं मे आचार्यदेव यह बात विस्तारपूर्वक समझायेंगे।

(११२) वस्तु का कार्यकाल

कार्यकाल कहो या क्रमबद्धपर्याय कहो; जीव का जो कार्यकाल है उसमें उत्पन्न होता हुआ जीव उससे अनन्य है, और अजीव के कार्यकाल से वह भिन्न है। जीव की जो पर्याय हो उसमें अनन्यरूप से जीवद्रव्य उत्पन्न होता है। उस समय जगत के अन्य जीव-अजीव द्रव्य भी सब अपने–अपने कार्यकाल मे—क्रमबद्धपर्याय से—उत्पन्न होते हैं, किन्तु उन किसी के साथ इस जीव की एकता नही है।

उसी प्रकार, अजीव का जो कार्यकाल है उसमे उत्पन्न होता हुआ अजीव उससे अनन्य है, और जीव के कार्यकाल से वह भिन्न है। अजीव के एक–एक परमाणु की जो पर्याय होती है उसमे अनन्यरूप से वह परमाणु उत्पन्न होता है, उसे दूसरे के साथ एकता नही है। शरीर का हलन–चलन हो, भाषा बोली जाये,—इत्यादि पर्यायोरूप से अजीव उत्पन्न होता है, वह अजीव की क्रमबद्धपर्याय है, जीव के कारण वह पर्याय नही होती।

(११३) निषेध किसका ? निमित्तका, या निमित्ताधीनदृष्टि का ?

प्रश्नः—आप क्रमबद्धपर्याय होना कहते हैं, उसमे निमित्त का तो निषेध हो जाता है।

उत्तरः—क्रमबद्धपर्याय मानने से निमित्त का सर्वथा निषेध नही हो जाता, किन्तु निमित्ताधीनदृष्टि का निषेध हो जाता है। पर्याय मे अमुक निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध भले हो, किन्तु यहाँ ज्ञायकदृष्टि मे उसकी बात नही है। क्रमबद्धपर्याय मानने से निमित्त होने का

सर्वथा निषेध भी नही होता, तथा निमित्त के कारण कुछ होता है—यह बात भी नही रहती। निमित्त पदार्थ उसके क्रमबद्ध स्वकाल से अपने मे उत्पन्न होता है और नैमित्तिक पदार्थ भी उसके स्वकाल से अपने मे उत्पन्न होता है; इस प्रकार दोनों का भिन्न–भिन्न अपने में परिणमन हो ही रहा है। "उपादान में पर्याय होने की योग्यता तो है, किन्तु यदि निमित्त आये तो होती है, और न आये तो नहीं होती"—यह मान्यता मिथ्यादृष्टि की है। पर्याय होने की योग्यता हो और पर्याय न हो—ऐसा हो ही नही सकता। उसी प्रकार, यहाँ क्रमबद्ध-पर्याय होने का काल हो और उस समय उसके योग्य निमित्त न हो—ऐसा भी हो ही नही सकता। यद्यपि निमित्त तो परद्रव्य है, वह कही उपादान के आधीन नही है, किन्तु वह परद्रव्य उसके अपने लिये तो उपादान है, और उसका भी क्रमबद्धपरिणमन हो ही रहा है। यहाँ, आत्मा को अपने ज्ञायकस्वभावसन्मुख के क्रमबद्धपरिणमन से छट्ठे—सातवें गुणस्थान की भावलिंगी मुनिदशा प्रगट हो, वहाँ निमित्त में द्रव्यलिंगरूप से शरीर की दिगम्बर दशा ही होती है—ऐसा उसका क्रम है। कोई मुनिराज ध्यान मे बैठे हों और कोई अज्ञानी आकर उनके शरीर पर वस्त्र डाल जाये तो वह कही परिग्रह नही है, वह तो उपसर्ग है। सम्यग्दर्शन हुआ वहाँ कुदेवादि को माने ऐसा क्रमबद्ध-पर्याय मे नही होता, और मुनिदशा हो वहाँ वस्त्र-पात्र रखे ऐसा क्रमबद्धपर्याय मे नही होता,—इस प्रकार सर्व भूमिकाओं को समझ लेना चाहिये।

(११४) योग्यता और निमित्त (सर्व निमित्त धर्मास्तिकायवत् हैं)

'इष्टोपदेश' में (३५ वी गाथा मे) कहा है कि कोई भी कार्य होने में वास्तविक रूप से उसकी अपनी योग्यता ही साक्षात् साधक है, अर्थात् प्रत्येक वस्तु की अपनी योग्यता से ही कार्य होता है, वहाँ दूसरी वस्तु तो धर्मास्तिकायवत् निमित्तमात्र है। जिस प्रकार अपनी योग्यता से स्वयं गति करनेवाले पदार्थों को धर्मास्तिकाय तो सर्वत्र बिछा हुआ निमित्त है, वह कही किसीको गति नही कराता, उसी

प्रकार प्रत्येक वस्तु में अपनी क्रमबद्धपर्याय की योग्यता से ही कार्य होता है, उसमे जगत की दूसरी वस्तुये तो मात्र धर्मास्तिकायवत् हैं। देखो, यह इष्ट–उपदेश। ऐसी स्वाधीनता का उपदेश ही इष्ट है, हितकारी है, यथार्थ है। इससे विपरीत मान्यता का उपदेश हो तो वह इष्ट–उपदेश नही है किन्तु अनिष्ट है। जैनदर्शन का उपदेश कहो . आत्मा के हित का उपदेश कहो...इष्ट उपदेश कहो यथार्थ उपदेश कहो.. सत्य का उपदेश कहो ..अनेकान्त का उपदेश कहो या सर्वज्ञ-भगवान का उपदेश कहो.. वह यह है कि–जीव और अजीव प्रत्येक वस्तु मे अपनी–अपनी क्रमवद्धयोग्यता से ही कार्य होता है, पर से उसमे कुछ भी नही होता। वस्तु अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप अपनी योग्यता से ही स्वयं परिणमित हो जाता है, दूसरी वस्तु तो धर्मास्ति-कायवत् निमित्तमात्र है। यहाँ धर्मास्तिकाय का उदाहरण देकर पूज्यपादस्वामी ने निमित्त का स्वरूप बिलकुल स्पष्ट कर दिया है।

धर्मास्तिकाय तो समस्त लोक मे सदैव ज्यो का त्यो स्थित है; जो जीव या पुद्गल स्वयं अपनी योग्यता से ही गति करते हैं, उन्हे वह निमित्तमात्र है। गतिरूप से 'स्वयं परिणमित को' ही निमित्त है, स्वय परिणमित न होनेवाले को वह परिणमित नही कराता, और न निमित्त भी होता है।

"योग्यता के समय निमित्त न हो तो ?" ऐसी शंका करने-वाला वास्तव मे योग्यता को या निमित्त के स्वरूप को नही जानता। जिसप्रकार कोई पूछता है कि—"जीव–पुद्गल मे गति करने की योग्यता तो है, किन्तु धर्मास्तिकाय न हो तो ?"—तो ऐसा पूछनेवाला वास्तव मे जीव–पुद्गल की योग्यता को या धर्मास्तिकाय को भी नही जानता है, क्योकि गति के समय सदैव धर्मास्तिकाय निमित्तरूप से होता ही है, जगत मे धर्मास्तिकाय न हो ऐसा कभी होता ही नही।

"योग्यता के समय निमित्त न हो तो ?"
"गति की योग्यता के समय धर्मास्तिकाय न हो तो ?"

"पानी गर्म होने की योग्यता के समय अग्नि न हो तो ?"

"मिट्टी मे घड़ा होने की योग्यता के समय कुम्हार न हो तो?"

"जीव मे मोक्ष होने की योग्यता हो, किन्तु वज्रर्षभनाराच-संहनन न हो तो ?"

—यह सब प्रश्न एक ही प्रकार के—निमित्ताधीन दृष्टिवाले के—है। इसी प्रकार गुरु-शिष्य, क्षायकसम्यक्त्व और केवली-श्रुत-केवली-आदि सभी मे समझ लेना चाहिये। जगत में जीव या अजीव प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने नियमित स्वकाल की योग्यता से ही परिणमित होता है, उस समय दूसरी वस्तु निमित्तरूप हो वह "गतेः धर्मास्तिकायवत्" है। कोई भी कार्य होने मे वस्तु की "योग्यता ही" निश्चयकारण है, दूसरा कारण कहना वह "गति मे धर्मास्तिकायवत्" उपचारमात्र है, अर्थात् वास्तव मे वह कारण नहीं है। अपनी क्रम-बद्धपर्यायरूप से वस्तु स्वय ही उत्पन्न होती है—यह नियम समझे तो निमित्ताधीनदृष्टि की सब गुत्थियाँ सुलझ जायें। वस्तु एक समय मे उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप है। एक समय मे अपनी क्रमबद्धपर्याय-रूप से उत्पन्न होती है, उसी समय पूर्व पर्याय से व्यय को प्राप्त होती है, और उसी समय अखण्डतारूप से ध्रुव स्थिर रहती है—इस प्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप वस्तु स्वयं वर्तती है; एक वस्तु के उत्पाद-व्यय-ध्रुव मे बीच मे कोई दूसरा द्रव्य घुस जाये—ऐसा नही होता।

जिस प्रकार वास्तव मे मोक्षमार्ग तो एक ही है, किन्तु उसका निरूपण दो प्रकार से है; निश्चयरत्नत्रय को मोक्षमार्ग कहना वह तो वास्तव मे मोक्षमार्ग है, और शुभरागरूप व्यवहाररत्नत्रय को मोक्ष-मार्ग कहना वह वास्तव मे मोक्षमार्ग नही है, किन्तु उपचारमात्र है।

उसी प्रकार कार्य का कारण वास्तव मे एक ही है। वस्तु की योग्यता ही सच्चा कारण है, और निमित्त को दूसरा कारण कहना वह सच्चा कारण नही है किन्तु उपचारमात्र है।

इसी प्रकार कार्य का कर्ता भी एक ही है, दो कर्ता नही हैं। दूसरे को कर्ता कहना वह उपचारमात्र है।

(११५) प्रत्येक द्रव्य का स्वतंत्र परिणमन जाने बिना भेदज्ञान नहीं होता

यहाँ कहते हैं कि द्रव्य उत्पन्न होता हुआ अपने परिणाम से अनन्य है; इसलिये उस परिणमन के कर्ता दो नही होते। एक द्रव्य के परिणाम मे दूसरा द्रव्य तन्मय नही होता, इसलिये दो कर्ता नही होते; उसी प्रकार एक द्रव्य दो परिणाम मे (अपने और पर के—दोनों के परिणाम में) तन्मय नही होता, इसलिये एक द्रव्य दो परिणाम नही करता। नाटक–समयसार मे पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि—

करता परिनामी दरव,
करमरूप परिनाम।
किरिया परजय की फिरनी
वस्तु एक त्रय नाम ॥ ७ ॥

अर्थात्—अवस्थारूप से जो द्रव्य परिणमित होता है वह कर्ता है; जो परिणाम होते हैं वह उसका कर्म है, और अवस्था से अवस्थान्तर होना वह क्रिया है। यह कर्ता, कर्म और क्रिया वस्तुरूप से भिन्न नही हैं, अर्थात् वे भिन्न–भिन्न वस्तु मे नही रहते। पुनश्च—

एक परिनाम के न करता दरव दोइ,
दोई परिनाम एक दर्व न धरतु है।
एक करतूति दोइ दर्व कबहूँ न करैं,
दोइ करतूति एक दर्व न करतु है॥
जीव पुद्गल एक खेत–अवगाही दोउ,
अपनें अपनें रूप कोउ न टरतु है।
जड़ परनामनिकौ करता है पुद्गल,
चिदानन्द चेतन सुभाउ आचरतु है॥ १० ॥

अर्थात्—एक परिणाम के कर्ता दो द्रव्य नही होते, एक द्रव्य दो परिणामों को नही करता। एक क्रिया को दो द्रव्य कभी नही करते, तथा एक द्रव्य दो क्रियायें नही करता।

जीव और पुद्गल यद्यपि एक क्षेत्र मे रहते हैं, तथापि अपने-अपने स्वभाव को कोई नही छोड़ते। पुद्गल तो उसके जड़-परिणाम का कर्ता है, और चिदानन्दआत्मा अपने चेतनस्वभाव का आचरण करता है।

—इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य के भिन्न-भिन्न स्वतंत्र परिणमन को जबतक जीव न जाने तबतक पर से भेदज्ञान नही होता और स्वभाव मे एकता प्रगट नही होती, इसलिये सम्यग्दर्शनादि कुछ नही होते।

(११६) जो पर्याय में तन्मय हो वही उसका कर्ता

क्रमबद्धपरिणाम से परिणमित द्रव्य अपनी पर्याय के साथ एकमेक है,—यह सिद्धांत समझाने के लिये आचार्यदेव यहाँ सुवर्ण का दृष्टांत देते हैं। जिस प्रकार सुवर्ण मे कुण्डलादि जो अवस्था हुई उसके साथ वह सुवर्ण एकमेक है, पृथक् नही है; सुवर्ण की अवस्था से स्वर्णकार पृथक् है किन्तु सुवर्ण पृथक् नही है। उसी प्रकार जगत के जीव या अजीव सर्व द्रव्य अपनी-अपनी जो अवस्था होती है उसके साथ एकमेक हैं, दूसरे के साथ एकमेक नही है; इसलिये वे दूसरे के अकर्ता हैं। जो पर्याय हुई, उस पर्याय में जो तन्मय हो वही उसका कर्ता होता है, किन्तु उससे जो पृथक् हो वह उसका कर्ता नही होता—यह नियम है। जैसे कि—

घड़ा हुआ, वहाँ उस घड़ारूप अवस्था के साथ मिट्टी के परमाणु एकमेक है, किन्तु कुम्हार उसके साथ एकमेक नही है, इसलिये कुम्हार उसका अकर्ता है।

वस्त्र हुआ, वहाँ उस वस्त्ररूप पर्याय के साथ ताने-बाने के परमाणु एकमेक हैं, किन्तु बुनकर उसके साथ एकमेक नही है, इसलिये वह उसका अकर्ता है।

आलमारी हुई, वहाँ उस आलमारी की अवस्था के साथ लकडी के परमाणु एकमेक हैं, किन्तु बढई उसके साथ एकमेक नही है, इसलिये वह उसका अकर्ता है।

रोटी हुई, वहाँ रोटी के साथ आटे के परमाणु एकमेक हैं, किन्तु स्त्री (रसोई बनानेवाली) उसके साथ एकमेक नही है, इसलिये स्त्री रोटी की अकर्ता है।

सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ उस पर्याय के साथ आत्मा स्वयं एकमेक है, इसलिये आत्मा उसका कर्ता है, किन्तु अजीव उसमे एकमेक नही है इसलिये वह अकर्ता है। इसप्रकार सम्यग्ज्ञान, सुख, आनन्द सिद्धदशा आदि सर्व अवस्थाओं मे समझ लेना चाहिए। उस–उस अवस्थारूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही उसमें तद्रूप होकर उसका कर्ता है, वह अजीव नही है इसलिये अजीव के साथ उसे कार्य–कारण-पना नही है।

(११७) ज्ञाता राग का अकर्ता

यहाँ तो आचार्यदेव यह सिद्धान्त समझाते हैं कि—ज्ञायक-स्वभावसन्मुख होकर जो जीव ज्ञातापरिणामरूप से उत्पन्न हुआ वह जीव राग का भी अकर्ता है, अपने ज्ञातापरिणाम मे तन्मय होने से उसका कर्ता है और राग का अकर्ता है, क्योकि राग मे वह तन्मय नही है। ज्ञायकभाव मे जो तन्मय हुआ वह राग मे तन्मय नही होता, इसलिये वह राग का अकर्ता ही है।

—ऐसे ज्ञातास्वभाव को जानना वह निश्चय है। स्वसन्मुख होकर ऐसा निश्चय का ज्ञान करे तो, किस पर्याय मे कैसा राग होता है और वहाँ निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध किस प्रकार का होता है,—उस सब व्यवहार का भी यथार्थ विवेक हो जाता है।

(११८) निश्चय–व्यवहार का आवश्यक स्पष्टीकरण

कई लोग कहते हैं कि यह तो निश्चय की बात है, किन्तु

व्यवहार से तो जीव जड़कर्म का कर्ता है! तो आचार्यदेव कहते हैं कि—अरे भाई! जिसकी दृष्टि ज्ञायक पर नही है और कर्म पर है ऐसे अज्ञानी को ही कर्म के कर्तापने का व्यवहार लागू होता है; ज्ञायक-दृष्टिवाले ज्ञानी को वैसा व्यवहार लागू नहीं होता। ज्ञायकस्वभावी जीव मिथ्यात्वादि कर्म का अकर्ता होने पर भी उसे कर्म का कर्ता कहना वह व्यवहार है; और वह व्यवहार अज्ञानी को ही लागू होता है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टिवाला ज्ञानी तो अकर्ता ही है।

सुवर्ण की जो अवस्था हुई उसका स्वर्णकार अकर्ता है, तथापि उसे निमित्तकर्ता कहना वह व्यवहार है। जो कर्ता है उसे कर्ता जानना वह निश्चय, और अकर्ता को कर्ता कहना वह व्यवहार है। जीव अपनी क्रमबद्धअवस्थारूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, और अजीव अपनी क्रमबद्धअवस्थारूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है। जीव अजीव की अवस्था का अकर्ता है और अजीव जीव की अवस्था का अकर्ता।—इसप्रकार जैसे जीव–अजीव को परस्पर कर्तापना नहीं है उसी प्रकार उनको परस्पर कर्मपना, करणपना, सम्प्रदानपना, अपादानपना या अधिकरणपना भी नही है। मात्र निमित्तपने से उन्हें एक–दूसरे का कर्ता, कर्म, करण आदि कहना वह व्यवहार है। निमित्त से कर्ता यानी वास्तव में अकर्ता; और अकर्ता को कर्ता कहना वह व्यवहार। निश्चय से अकर्ता हुआ तब व्यवहार का ज्ञान सच्चा हुआ। ज्ञायकस्वभाव की ओर ढलकर जो ज्ञाता हुआ वह राग को रागरूप से जानता है किन्तु वह राग मे ज्ञान की एकता नहीं करता, इसलिये वह ज्ञाता तो राग का भी अकर्ता है।

(११९) क्रमबद्धपर्याय का मूल

देखो, इस क्रमबद्धपर्याय मे वास्तव में तो ज्ञानस्वभावी आत्मा की बात है; क्योंकि क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता कौन? "ज्ञायक" को जाने बिना क्रमबद्धपर्याय को जानेगा कौन? ज्ञायकस्वभाव की ओर ढलकर जो ज्ञायकभावरूप परिणमित हुआ वह ज्ञायक हुआ अर्थात्

हैं। इसलिये, अपने ज्ञानपरिणाम का प्रवाह जहाँ से बहता है—ऐसे ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि रखकर ही क्रमवद्धपर्याय का यथार्थ ज्ञान होता है।

(१२२) तद्रूप और कद्रूप; [ज्ञानी को दिवाली, अज्ञानी को होली]

क्रमवद्धपर्यायरूप से परिणमित होनेवाला द्रव्य अपने परिणाम के साथ "तद्रूप" है;—ऐसा न मानकर दूसरा कर्ता माने तो उसने द्रव्य के साथ पर्याय को तद्रूप नही माना किन्तु पर के साथ तद्रूप माना, इसलिये उसकी मान्यता कद्रूप हुई—मिथ्या हुई। पर्याय को अतरोन्मुख करके ज्ञायकभाव के साथ तद्रूप करना चाहिये, उसके वदले पर के साथ तद्रूप मानकर कद्रूप की, उसने दिवाली के वदले होली की है। जिस प्रकार होली के बदले दिवाली के त्योहार मे मुँह पर कालिख पोतकर मुँह काला कर ले तो उसे मूर्ख कहा जायेगा, उसी प्रकार "दि .वाली" यानी अपनी निर्मल स्वपर्याय, उसमे स्वयं तद्रूप होना चाहिये उसके वदले अज्ञानी पर के साथ अपनी तद्रूपता मानकर अपनी पर्याय को मलिन करता है, इसलिये वह दिवाली के वदले अपने गुणो की होली जलाता है। भाई, "दि" अर्थात् स्वकाल की पर्याय, उसे "वाल" (झूका) अपने आत्मा मे,—तो तेरे घर पर दिवाली के दीपक जगमगा उठें अर्थात् सम्यग्ज्ञान के दीप जल उठें और मिथ्यात्व की होली दूर हो जाये। स्वकाल की पर्याय को अन्तरोन्मुख न करके पर के साथ एकत्व मानकर, उस विपरीत मान्यता मे अज्ञानी अपने गुणों को होम (जला) देता है इसलिये उसके गुणों की होली जलती है—गुणो की निर्मलदशा प्रगट होने के बदले मलिनदशा प्रगट होती है; उसमे आत्मा की शोभा नही है।

स्वभावसन्मुख होकर क्रमबद्ध आये हुए निर्मल स्वकाल के साथ तद्रूपता धारण करे उसमें आत्मा की शोभा और प्रभुता है। अपनी-अपनी पर्याय के साथ तद्रूपता धारण करे उसीमे प्रत्येक द्रव्य की प्रभुता है; यदि उसकी पर्याय मे दूसरा कोई तद्रूप होकर उसे करे

तो उसमे द्रव्य की प्रभुता नही रहती; अथवा आत्मा स्वयं पर के साथ तद्रूपता मानकर उसका कर्ता होने जाये तो उसमे भी अपनी या पर की प्रभुता नही रहती। जो पर का कर्ता होने जाये वह अपनी प्रभुता को भूलता है। क्रमबद्धपर्याय का ज्ञातापना न मानकर उसमे उल्टा-सीधा करना माने तो वह जीव अपने ज्ञाताभाव के साथ तद्रूप न रहकर मिथ्यादृष्टि—कद्रूप हो जाता है।

(१२३)—यह है जैनशासन का सार!

अहो, प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ उस-उस परिणाम मे तद्रूप होकर उसे करता है, किन्तु दूसरे परिणाम को नही करता;—इस एक सिद्धान्त में छहों द्रव्यों के तीनोंकाल के परिणमन के हल की चाबी आ जाती है, सब समाधान हो जाते है। मैं ज्ञायक, और पदार्थों मे स्वतत्र क्रमवद्धपरिणमन—बस! इसमें सब सार आ गया। अपने ज्ञायक स्वभाव का और पदार्थों के क्रमवद्धपरिणाम की स्वतंत्रता का निर्णय करके, स्वयं अपने ज्ञायक-स्वभाव मे अभेद होकर परिणमित हुआ, वहाँ स्वय ज्ञायक ही रहा और पर का अकर्ता हुआ, उसका ज्ञान रागादि से पृथक् होकर "सर्वविशुद्ध" हुआ।—इसका नाम जैनशासन और इसका नाम धर्म।

"योग्यता को ही" कार्य की साक्षात् साधक कहकर इष्टोपदेश मे स्वतंत्रता का अलौकिक उपदेश किया है। "इष्टोपदेश" को "जैन का उपनिषद्" भी कहते है। वास्तव में, वस्तु की स्वतंत्रता बतलाकर आत्मा को अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर ले जाये वही इष्ट-उपदेश है; और वही जैनधर्म का मर्म है, इसलिये जैन का उपनिषद् है।

(१२४) "—विरला बूझै कोई!"

यह वात समझे विना उपादान-निमित्त का भी यथार्थ ज्ञान नही होता। उपादान और निमित्त दोनो वस्तुये हैं अवश्य, उनका ज्ञान कराने के लिये शास्त्रो मे उनका वर्णन किया है; वहाँ अज्ञानी अपनी विपरीत दृष्टि से उपादान-निमित्त के नाम से उल्टा स्व-पर की

एकत्वबुद्धि का पोषण करता है; "देखो शास्त्र में निमित्त तो कहा है न ? दो कारण तो कहे है न ?"—ऐसा कहकर उल्टा स्व–पर की एकत्वबुद्धि को घोटता है। पं० बनारसीदासजी कहते है कि:—

उपादान निजगुण जहाँ तहाँ निमित्त पर होय।
भेदज्ञान परमाण विधि बिरला बूझै कोय ॥ ४ ॥

अर्थात्—जहाँ उपादान की अपनी निजशक्ति से कार्य होता है वहाँ दूसरी वस्तु निमित्त होती है; इसप्रकार उपादान और निमित्त दोनो वस्तुयें तो हैं, किन्तु वहाँ उपादान की अपनी योग्यता से ही कार्य होता है, और निमित्त तो उसमे अभावरूप—अकिंचित्कर है;—ऐसी भेदज्ञान की यथार्थ विधि कोई विरले ही जानते हैं, अर्थात् सम्यक्त्वी जानते हैं।

(१२५) यहाँ सिद्ध करना है—आत्मा का अकर्तृत्व

अभी तक आचार्यदेव ने यह बात सिद्ध की है कि—"प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामो से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नही है; इसी प्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामो से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नही है; क्योकि जिस प्रकार सुवर्ण का कंकनादि परिणामो के साथ तादात्म्य है उसी प्रकार सर्व द्रव्यों को अपने परिणामो के साथ तादात्म्य है।"

अब इस सिद्धान्त पर से जीव का अकर्तृत्व सिद्ध करने के लिये आचार्यदेव कहते है कि—"इसप्रकार जीव अपने परिणामोसे उत्पन्न होता है, तथापि उसका अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नही होता××× " कर्ता होकर अपने ज्ञायकपरिणामरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव, कर्म के बन्धन का भी कारण हो—ऐसा नही होता। इस प्रकार उसका अकर्तृत्व है।

(१२६) "एक" का कर्ता "दो" का कर्ता नहीं है (ज्ञायक के अकर्तृत्व की सिद्धि)

प्रश्न—यदि जीव अपने परिणाम से उत्पन्न होता है और उसमे तद्रूप होकर उसे करता है, तो एक के साथ दूसरे का भी करे उसमें क्या हर्ज ? "एक का ग्वाला वह दो का ग्वाला"—यानी जो ग्वाल एक गाय चराने ले जाता है वह साथ में दो ले जाये तो उसमे उसे क्या परिश्रम ? अथवा "एक की रसोई बनाना, वहाँ साथ मे दो की बना लेना।" उसी प्रकार कर्ता होकर एक अपना करे वह साथ मे दूसरे का भी कर दे तो क्या हर्ज ? जीव स्वय ज्ञायकरूप से उत्पन्न भी हो और कर्म को भी बाँध ले—इसमे क्या आपत्ति है ?

उत्तरः—प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय के साथ तद्रूप है, इसलिये उसे तो करता है, किन्तु पर के साथ तद्रूप नही है इसलिये उसका वह कर्ता नही है। पर के साथ तद्रूप हो तभी पर को करे, किन्तु ऐसा तो कभी हो नही सकता। इसलिये "गाय के ग्वाले" जैसी लौकिक कहावत यहाँ लागू नही होती। स्वभाव-सन्मुख होकर जो जीव अपने ज्ञायकभावरूप से परिणमित हुआ, वह अपने ज्ञायकभाव के साथ तद्रूप है, इसलिये उसका तो वह कर्ता है, किन्तु रागादिभावों के साथ वह तद्रूप नही है इसलिये वास्तव मे राग का कर्ता नही है, इसलिये कर्म के कर्तृत्व का व्यवहार भी उसे लागू नही होता। इससे आचार्यदेव कहते हैं कि—"जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है, तथापि उसे अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नही होता।"

कौन-सा जीव ?. .कहते है कि ज्ञानी;

कैसे परिणाम ? .कहते हैं कि ज्ञाता-दृष्टा के निर्मल परिणाम—ज्ञानी अपने ज्ञाता-दृष्टा को निर्मल परिणामरूप से उत्पन्न होता है, किन्तु अजीव कर्मों के बन्ध का कारण नही होता; क्योकि उसे अपने ज्ञायकभाव के साथ ही एकता है, रागादि की कर्म के साथ एकता नही

है, इसलिये वह रागादि का और कर्म का अकर्ता ही है। जीव अपने ज्ञायकपरिणाम का कर्ता हो और साथ ही साथ अजीव मे नये कर्म बाँधने में भी निमित्त हो—ऐसा नही होता। नये कर्मों मे यहाँ मुख्यरूप से मिथ्यात्वादि ४१ प्रकृतियो की बात लेना है,—उनका बन्धन ज्ञानी को होता ही नही। ज्ञानी को अपने निर्मल ज्ञान परिणाम के साथ कार्यकारणपना है, किन्तु अजीव के साथ या रागादि के साथ उसे कार्य-कारणपना नही है, इसलिये वह अकर्ता ही है।

(१२७) व्यवहार–कौनसा? और किसको?

प्रश्नः—यह तो निश्चय की बात हुई, अब व्यवहार समझाइये?

उत्तरः—जो यह निश्चयस्वरूप समझ ले उसे व्यवहार की खबर पडती है। ज्ञाता जागृत हुआ और स्व–परप्रकाशक शक्ति विकसित हुई तब निमित्त और व्यवहार कैसे होते है उन्हे वह जानता है। स्वय राग से अधिक होकर ज्ञायकरूप से परिणमित होता हुआ चारित्र मे अस्थिरता का जो राग है उसे भी जानता है—वह ज्ञानी का व्यवहार है। किन्तु जहाँ निश्चय का भान नही है, ज्ञाता जागृत नही हुआ है, वहाँ व्यवहार को जानेगा कौन? वह अज्ञानी तो राग को भला जानते हुए उसीमे एकता मान लेता है, इसलिये उसे तो राग ही निश्चय हो गया, राग से पृथक् कोई राग का ज्ञाता नही रहा। यहाँ तो जागृत होकर ज्ञान की अधिकतारूप से परिणमित होता हुआ, शेष अल्प राग को भी जाने वह व्यवहार है। परमार्थज्ञेय तो अपना ज्ञायक आत्मा ही है, और राग वह ज्ञानी का व्यवहार ज्ञेय है। किन्तु जिसे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नही है, और "कर्म का व्यवहार–कर्ता तो हूँ न!"—ऐसी दृष्टि है, उसके लिये आचार्यदेव अगली गाथा मे कहेगे कि कर्म के साथ कर्तापना का व्यवहार अज्ञानी—मिथ्यादृष्टि को ही लागू होता है।

❀ छठवाँ प्रवचन ❀

[आश्विन शुक्ला २, वीर सं. २४८०]

भाई, पचपरमेष्ठी भगवान ही हमारे "पंच" हैं। ज्ञायकस्वभाव और क्रमबद्धपर्याय का यह जो वस्तुस्वरूप कहा जा रहा है उसी प्रकार अनादि से पचपरमेष्ठी भगवन्त कहते आये हैं, और महाविदेह में विराजमान सीमंधरादि भगवन्त इस समय भी यही उपदेश दे रहे हैं। इसके सिवा अज्ञानी विपरीत माने, तो भले माने किन्तु यहाँ तो पचपरमेष्ठी भगवन्तों को पंचरूप से रखकर यह बात कही जा रही है।

(१२८) ज्ञायक वस्तुस्वरूप, और अकर्तृत्व

इस "सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार" को "शुद्धात्मद्रव्य अधिकार" भी कहा जाता है। ज्ञायकस्वभावी शुद्ध आत्मद्रव्य का स्वरूप क्या है वह आचार्यदेव बतलाते है। आत्मा का स्वभाव तो ज्ञायक है, ज्ञाता है; वह ज्ञायकस्वभाव न तो पर का कर्ता है, और न राग का। कर्ता होकर पर की अवस्था उत्पन्न करे ऐसा तो ज्ञायक का स्वरूप नही है, और न राग मे कर्ताबुद्धि भी उसका स्वभाव है; राग भी उसके ज्ञेयरूप ही है। राग में तन्मय होकर नही, किन्तु राग से अधिक रहकर—भिन्न रहकर ज्ञायक उसे जानता है। ऐसा ज्ञायक–वस्तुस्वरूप समझे तो ज्ञातृत्व और कर्तृत्व के सारे गर्व दूर हो जायें।

यहाँ जीव को समझाना है कि तू ज्ञायक है, पर का अकर्ता है। "ज्ञायक" ज्ञाता–दृष्टा परिणाम के अतिरिक्त दूसरा क्या करे ? ऐसे अपने ज्ञायकस्वभाव को जानकर जो स्वसन्मुख निर्मल परिणामरूप से परिणमित हुआ वह ज्ञानी ऐसा जानता है कि प्रतिसमय मेरे ज्ञान के जो निर्मल क्रमबद्धपरिणाम होते है उन्हीमें मैं तन्मय हूँ, राग मे या पर में मैं तन्मय नही हूँ, इसलिये उनका मैं अकर्ता हूँ।

अजीव भी अपने क्रमवद्ध होनेवाले जड़ परिणामों के साथ तन्मय है और दूसरों के साथ तन्मय नही है; इसलिये वह अजीव भी पर का अकर्ता है; किन्तु यहाँ उसकी मुख्यता नही है, यहाँ तो जीव का अकर्तृत्व सिद्ध करना है, जीव को यह वात समझाना है।

(१२९) दृष्टि वदलकर सम्यग्दर्शन प्रगट करे, वही इस उपदेश का रहस्य समझा है

यह आत्मा के ज्ञायकभाव की वात है; इसे समझ ले तो अपूर्व सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हो, और उसके साथ अतीन्द्रिय आनन्द के अश का वेदन हो। दृष्टि को वदले तो यह वात जीव की समझ मे आ सकती है। यह वस्तु मात्र करने के लिये नही है, किन्तु समझकर दृष्टि को अन्तरोन्मुख करने के लिये यह उपदेश है। क्रमवद्ध-पर्याय तो अजीव मे भी होती है, किन्तु उसे कही ऐसा नही समझाना है कि तू अकर्ता है इसलिये दृष्टि को वदल! यहाँ तो जीव को समझाना है। अज्ञानी जीव अपने ज्ञायकस्वभाव को भूलकर "मैं पर का कर्ता"—ऐसा मान रहा है; उसे यहाँ समझाते हैं कि भाई! तू तो ज्ञायक है, जीव और अजीव सर्व द्रव्य अपनी-अपनी क्रमवद्धपर्याय मे परिणमित हो रहे हैं, तू उनका ज्ञायक है, किन्तु किसी पर का कर्ता नही है। "मैं ज्ञायक स्वभाव, पर का अकर्ता, अपनी ज्ञानपर्याय मे क्रमवद्ध परिणमित होता हूँ"—ऐसा समझकर स्वद्रव्य की दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है। दृष्टि की दिशा स्वोन्मुख करे तभी क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय होता है, और उसके अपने मे निर्मल पर्याय का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। "मेरी सब पर्याये क्रमबद्ध-क्रमशः होती हैं"—ऐसा निर्णय करते हुए, उन पर्यायोरूप से परिणमित होनेवाले ऐसे ज्ञायकद्रव्य की ओर दृष्टि जाती है। मेरा क्रमबद्धपरिणमन मुझमे और पर का क्रमबद्धपरिणमन पर मे, पर के क्रम मे मैं नही हूँ और मेरे क्रम में पर नही है,—ऐसा यथार्थ भेदज्ञान करने से "मैं पर का कुछ करूँ"—ऐसी दृष्टि छूट

जाती है, और ज्ञायकस्वभावोन्मुखदृष्टि होती है। उस स्वसन्मुख दृष्टि का परिणमन होने से ज्ञान, आनन्द, वीर्यादि समस्त गुणों में भी स्वाश्रय से अंशतः निर्मल परिणमन हुआ।

(१३०) जैनधर्म की मूल बात

पडित या त्यागी नाम धारण करनेवाले कितनों को तो अभी "सर्वज्ञ" की तथा क्रमबद्धपर्याय की भी श्रद्धा नहीं है। किन्तु यह तो जैनधर्म की मूल बात है, इसका निर्णय किये बिना सच्चा जैनत्व होता ही नही। यदि केवलज्ञान तीनकाल की समस्त पर्यायों को न जाने तो वह केवलज्ञान काहे का ? और यदि पदार्थों की तीनोंकाल की समस्त पर्यायें व्यवस्थित—क्रमबद्ध ही न हों तो केवलीभगवान ने देखा क्या ?

(१३१) "सर्वभावांतरच्छिदे"

समयसार का मांगलिक करते हुए पहले ही कलश में आचार्य-देव ने कहा है कि—

नमः समयसाराय
स्वानुभूत्या चकासते
चित्स्वभावाय भावाय
सर्वभावांतरच्छिदे ॥ १ ॥

"समयसार" अर्थात् शुद्ध आत्मा को नमस्कार करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि मैं साधक हूँ, इसलिये मेरा परिणमन अंतर मे नमता है, मैं शुद्धात्मा मे परिणमित होता हूँ।—कैसा है शुद्धात्मा ? प्रथम तो स्वानुभूति से प्रकाशमान है यानी स्वसन्मुख ज्ञानक्रिया द्वारा ही वह प्रकाशमान है; राग द्वारा या व्यवहार के अवलम्बन द्वारा वह प्रकाशित नहीं होता। और कहा है कि वह ज्ञानस्वभावरूप वस्तु है, तथा स्वयं से अन्य समस्त भावों का भी ज्ञाता है। इस प्रकार जीव का ज्ञान स्वभाव है और वह तीनोंकाल की क्रमबद्धपर्यायों को जानता है—यह बात भी उसमें आ गई।

(१३२) ज्ञान में जो पर को जानने की शक्ति है वह अभूतार्थ नहीं है

प्रश्नः—जीव का ज्ञान स्वभाव है, और केवलज्ञान होने पर वह सर्व पदार्थों की तीनोकाल की क्रमवद्धपर्यायो को जानता है—ऐसा आप कहते हैं, किन्तु नियमसार की १५९ वी तथा १६६ वी गाथा मे कहा है कि केवलीभगवान निश्चय से स्व को जानते–देखते है और लोकालोक को तो व्यवहार से जानते–देखते हैं, तथा समयसार की ११ वी गाथा मे व्यवहार को अभूतार्थ कहा है, इसलिये "सर्वज्ञभगवान ने तीनकाल की समस्त पर्यायो को जाना है और तदनुसार ही पदार्थो मे क्रमवद्धपरिणमन होता है"—यह वात ठीक नही है !! (–ऐसा प्रश्न है।)

उत्तरः—भाई, तुझे सर्वज्ञ की भी श्रद्धा नही रही ? शास्त्रों की ओट मे तू अपनी विपरीत दृष्टि का पोपरण करना चाहता है, किन्तु सर्वज्ञ की श्रद्धा के विना तुझे शास्त्रो का एक अक्षर भी यथार्थरूप से समझ मे नही आ सकता। ज्ञान पर को व्यवहार से जानता है—ऐसा कहा, वहाँ ज्ञान मे जानने की शक्ति कही व्यवहार से नही है, जानने की शक्ति तो निश्चय से है, किन्तु पर के साथ एकमेक होकर अथवा तो पर सन्मुख होकर केवलज्ञान उसे नही जानता इसलिये व्यवहार कहा है। स्व को जानते हुए अपने मे एकमेक होकर जानता है इसलिये स्व–परप्रकाशपने को निश्चय कहा, और पर मे एकमेक नही होता इसलिये परप्रकाशकपने को व्यवहार कहा है। किन्तु ज्ञान मे स्व-परप्रकाशक शक्ति है वह तो निश्चय से ही है, वह कही व्यवहार नही है। "सर्वभावातरच्छिदे"—ऐसा कहा उसमे क्या शेष रह गया ?—वह कही व्यवहार–से नही कहा है। और १६० वी गाथा मे "सो सव्वणाणदरिसी . . .. अर्थात् आत्मा स्वय ही ज्ञान होने के कारण विश्व को (सर्व पदार्थो को) सामान्य–विशेषरूप से जानने के स्वभाववाला है"—ऐसा कहा, वह कही व्यवहार से नही कहा है किन्तु निश्चय से ऐसा ही है। ज्ञान मे स्व–

पर को जानने की शक्ति है वह कहीं व्यवहार या अभूतार्थ नहीं है। अरे ! स्वच्छन्द से कही हुई अपनी बात को सिद्ध करने के लिये, ज्ञान-स्वभाव के सामर्थ्य को भी अभूतार्थ कहकर उड़ाये, और उसी पर कुन्दकुन्द भगवान जैसे आचार्यों के नाम से बात करे—यह तो मूढ जीवों का महान गजब है ! और जो उनकी ऐसी बात को स्वीकार करते हैं उन्हे भी वास्तव मे सर्वज्ञदेव की श्रद्धा नही है।

(१२३) सर्वज्ञस्वभाव का निर्णय करे उसे पुरुषार्थ की शंका नहीं रहती

अब, अनेक जीव यों ही (निर्णय बिना) सर्वज्ञ को मानते हैं; उन्हें ऐसा प्रश्न उठता है कि—यदि सर्वज्ञभगवान के देखे अनुसार ही क्रमबद्ध होता है और उस क्रम में फेरफार नही हो सकता,—तो फिर जीव को पुरुषार्थ करना कहाँ रहा ? तो उससे कहते हैं कि हे भाई ! तूने अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया है ?—सर्वज्ञ का निर्णय किया है ? तू अपने ज्ञानस्वभाव का और सर्वज्ञ का निर्णय कर तो तुझे खबर पड़ेगी कि क्रमबद्धपर्याय मे पुरुषार्थ किस प्रकार आता है ? पुरुषार्थ का यथार्थ स्वरूप ही अभी लोगों की समझ मे नही आया है। अनादिकाल से पर मे और राग में ही स्वत्व मानकर मिथ्यात्व के अनन्त दुःख का अनुभव कर रहा है, उसके बदले ज्ञायक-स्वभाव का निर्णय होने से वह विपरीत मान्यता छूट गई और ज्ञायकभाव की ओर दृष्टि ढली, वहाँ अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्द के अंश का अनुभव होता है,—इसीमे अपूर्व पुरुषार्थ आ जाता है। ज्ञायकस्वभाव को दृष्टि मे लेकर उसका अनुभव करने से पुरुषार्थ, ज्ञान, श्रद्धा, आनन्द, चारित्र—इन समस्त गुणों का परिणमन स्वोन्मुख हुआ है। स्वसन्मुख होकर ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया उसमे केवलज्ञान का निर्णय, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय, भेदज्ञान, सम्यग्दर्शन, पुरुषार्थ, मोक्षमार्ग—यह सब एकसाथ आ गया है।

(१३४) निर्मल क्रमबद्धपर्याय कब प्रारम्भ होती है ?

सर्व द्रव्य अपनी–अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं; और उसमे वे तद्रूप हैं,—जीव अपनी पर्याय से उत्पन्न होता है तथापि वह अजीव को उत्पन्न नही करता, इसलिये अजीव के साथ उसे कार्यकारणपना नही है। ऐसा होने पर भी, अज्ञानी अपनी दृष्टि अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर न घुमाकर, "मैं पर का करूँ"—ऐसी दृष्टि से अज्ञानरूप परिणमित होता है, और इसलिये वह मिथ्यात्वादि कर्मो का निमित्त होता है। क्रमबद्ध तो क्रमबद्ध ही है, किन्तु अज्ञानी अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय नही करता, इसलिये उसकी क्रमबद्ध पर्याय शुद्ध न होकर विकारी होती है। यदि ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करे तो दृष्टि बदल जाये और मोक्षमार्ग की निर्मल क्रमबद्धपर्याय प्रारम्भ हो जाये।

(१३५) "मात्र दृष्टि की भूल है"

चैतन्यमूर्ति आत्मा ज्ञानस्वभाव है, वह स्व–पर का प्रकाशक है, इसलिये पदार्थ जैसे है वैसा ही उनको जाननेवाला है, किन्तु किसी को आगे–पीछे करनेवाला नही है। भाई ! जगत के समस्त पदार्थों मे जिस पदार्थ की जिस समय जो अवस्था होना है वह होना ही है, तू किसी परद्रव्य की अवस्था मे फेरफार करने की सामर्थ्य नही रखता,—तो अब तुझे क्या करना रहा ? अपने ज्ञायकस्वभाव को चूककर, "मैं पर का कर्ता"—ऐसी दृष्टि मे अटका है उसकी कुलाँट मारकर ज्ञानस्वभाव की ओर अपनी दृष्टि घुमा ! ज्ञायक की ओर दृष्टि करने से क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता रह जाता हैं, वह ज्ञाता अपने निर्मल ज्ञानादि–परिणामो का तो कर्ता है, किन्तु रागादि का या कर्म का कर्ता वह नही है। ऐसे ज्ञातास्वभाव को जो न माने और पर का कर्ता होकर उसकी क्रमबद्ध-पर्याय को बदलने जाये, तो उस जीव को सर्वज्ञ की भी सच्ची श्रद्धा नही है। जिस प्रकार सर्वज्ञभगवान ज्ञाता–दृष्टापने का ही कार्य करते हैं, किसी के परिणमन को नही बदलते, उसीप्रकार इस आत्मा का स्वभाव भी ज्ञाता-दृष्टापने का कार्य करना ही है।

पुण्य–पाप अधिकार की १६० वी गाथा में आचार्यदेव कहते है कि —

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरएण णिएणवच्छण्णो ।
ससारसमावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्वं ॥
—यह सर्वज्ञानी-दर्शि भी, निजकर्म रज आच्छाद से ।
संसार प्राप्त, न जानता वो सर्व को सब रीत से ॥१६०॥

ज्ञानस्वरूपी आत्मा तो सर्व का ज्ञायक तथा दर्शक है; किन्तु अपने ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर उसकी प्रतीति नही करता, इसीलिये वह अज्ञानरूप से वर्तता है। सर्व को जाननेवाला जो अपना सर्वज्ञ-स्वभाव अर्थात् ज्ञायकस्वभाव, अपने अपराध के कारण उसे स्वयं नही जानता, इसलिये ज्ञाता–दृष्टापने का परिणमन न होकर अज्ञान के कारण विकार का परिणमन होता है। ज्ञानस्वभाव की प्रतीति होने के पश्चात् ज्ञानी को अस्थिरता के कारण अमुक रागादि होते हैं और ज्ञान का परिणमन अल्प होता है—उसकी यहाँ मुख्यता नही है, क्योंकि ज्ञानी को ज्ञाता–दृष्टापने की ही मुख्यता है, ज्ञायकदृष्टि के परिणमन में राग का कर्तापना नही है।

(१३६) "पुरुषार्थ" भी न उड़े...और..."क्रम" भी न टूटे !

अपनी क्रमबद्धपर्याय मे ज्ञातापने का कार्य करता हुआ जीव दूसरे का भी कार्य करे—ऐसा नहीं होता, इस प्रकार ज्ञायकजीव अकर्ता है। जड़ या चेतन, ज्ञानी या अज्ञानी,—सब अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप ही उत्पन्न होते हैं।

ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से पुरुषार्थ होता है, तथापि पर्याय का क्रम नही टूटता;
ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, तथापि पर्याय का क्रम नही टूटता;
ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से चारित्रदशा होती है, तथापि पर्याय का क्रम नही टूटता;

ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से आनन्द प्रगट होता है, तथापि पर्याय का क्रम नही टूटता,

ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से केवलज्ञान होता है, तथापि पर्याय का क्रम नही टूटता;

देखो, यह वस्तुस्थिति ! पुरुषार्थ भी नही उड़ता और क्रम भी नही टूटता। ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि का पुरुषार्थ होता है, और वैसी निर्मलदशायें होती जाती हैं, तथापि पर्याय की क्रमवद्धता नही टूटती।

(१३७) अज्ञानी को क्या करना चाहिये ?

प्रश्नः—हम तो अज्ञानी हैं, हमे क्या करना चाहिये ? क्या क्रमबद्ध मानकर बैठे रहें ?

उत्तर—भाई ! अज्ञानी को अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय करना चाहिये। स्वसन्मुख पुरुषार्थ द्वारा जहाँ ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया वहाँ क्रमबद्ध का भी निर्णय हुआ और अपनी क्रमबद्धपर्याय मे जो निर्मल पर्याय का क्रम था वही पर्याय आकर उपस्थित हो गई। स्वसन्मुख पुरुषार्थ से रहित तो क्रमबद्ध की मान्यता भी सच्ची नही है। ज्ञानस्वभाव का आश्रय करके परिणमित होने से, यद्यपि पर्याय का क्रम आगे-पीछे नही होता, तथापि सम्यग्दर्शनादि का परिणमन हो जाता है और अज्ञानदशा छूट जाती है। इसलिये, "अज्ञानी को क्या करना चाहिये"—इसका उत्तर यह है कि अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके अज्ञान दूर करना चाहिये। प्रश्न ऐसा था कि—"क्या हम बैठे रहे ?"—किन्तु भाई ! बैठ रहने की व्याख्या क्या ? यह जड़ शरीर बैठा रहे तो इसके साथ कही धर्म का सम्बन्ध नही है। अज्ञानी अनादिकाल से राग के साथ एकत्वबुद्धि करके उस राग मे ही बैठा है—राग मे ही स्थित है, उसके बदले ज्ञायकस्वभाव मे एकता करके उसमे बैठे—अर्थात् एकाग्र हो तो अज्ञान दूर हो और सम्यग्दर्शनादि शुद्धता का अपूर्व क्रम प्रारम्भ हो।—इसका नाम धर्म है।

(१३८) एक बिना सब व्यर्थ !

मैं ज्ञाता ही हूँ और पदार्थ क्रमबद्ध परिणमित होनेवाले हैं— ऐसा जो नही मानता वह केवलीभगवान को, आत्मा के ज्ञानस्वभाव को, पंचपरमेष्ठी भगवन्तों को या शास्त्र को नही मानता; जीव-अजीव की स्वतंत्रता या सात तत्त्वो की उसे श्रद्धा नही है, मोक्षमार्ग के पुरुषार्थ की तथा द्रव्य-गुण-पर्याय की, उपादान-निमित्त की या निश्चयव्यवहार की भी उसे खबर नही है। जिसने ज्ञानस्वभाव का निर्णय नही किया उसका कुछ भी सच्चा नही है। ज्ञानस्वभाव का निर्णय करे तो उसमें सभी पक्षो का निर्णय आ जाता है।

(१३९) पंचरूप से परमेष्ठी और उनका फैसला

प्रश्नः—इस सम्बन्ध में आजकल बहुत झगड़े (मतभेद) चल रहे है, इसलिये "पंचो" को बीच में रखकर इसका कुछ निपटारा करो न ?

उत्तरः—भाई, पंचपरमेष्ठी भगवान ही हमारे "पंच" हैं। ज्ञायकस्वभाव का और क्रमबद्धपर्याय का यह जो वस्तुस्वरूप कहा जा रहा है उसी प्रकार अनादि से पंचपरमेष्ठी भगवान कहते आये हैं, और महाविदेह में विराजमान सीमंधरादि भगवन्त इस समय भी यही उपदेश दे रहे है। इसके सिवा अज्ञानी विपरीत मानते हो तो भले माने, किन्तु यहाँ तो पंचपरमेष्ठी भगवन्तों को पचरूप से रखकर यह बात कही जा रही है। पंचपरमेष्ठी भगवन्त इसी प्रकार मानते आये हैं और इसी प्रकार कहते आये हैं। जिसे पंचपरमेष्ठी मे सम्मिलित होना हो उसे इसी अनुसार मानना पड़ेगा।

देखो, यह पंचायत का फैसला !

हे भाई ! पंचपरमेष्ठीभगवन्तो में अरिहन्त और सिद्ध भगवंत सर्वज्ञ हैं, तीनकाल तीनलोक को प्रत्यक्ष जाननेवाले हैं,—उस सर्वज्ञता को तू मानता है या नही मानता ?

—यदि तू वास्तव मे सर्वज्ञता को मानता हो तो उसमें क्रमबद्धपर्याय की स्वीकृति भी आ ही गई।

—और यदि तू सर्वज्ञता को मानता हो तो तूने पंचों को (–पंचपरमेष्ठीभगवन्तो को) ही वास्तव मे नही माना है।

"णमो अरिहंताणं और णमो सिद्धाणं"—ऐसा प्रतिदिन बोलते हैं, किन्तु अरिहन्त और सिद्धभगवान केवलज्ञान सहित हैं, वे तीनकाल तीनलोक को जानते हैं और उसीप्रकार होता है—ऐसा माने तो उसमे क्रमबद्धपर्याय की स्वीकृति आ ही जाती है। आत्मा की सम्पूर्ण ज्ञानशक्ति को और क्रमबद्धपर्याय को जो नही मानता वह पचपरमेष्ठी भगवन्तो को भी यथार्थस्वरूप से नही मानता। इसलिये जिसे वास्तव मे पचपरमेष्ठी भगवन्तों को पहिचानना हो उसे बराबर निर्णय करके यह बात मानना चाहिये।

—ऐसा पचो का फैसला है।

(१४०) जीव के अकर्तृत्व की न्याय से सिद्धि

ज्ञायक आत्मा कर्म का अकर्ता है—ऐसा यहाँ आचार्यदेव न्याय से सिद्ध करते हैं:—

(१) प्रथम तो जीव और अजीव सभी द्रव्य अपनी अपनी क्रमबद्ध-पर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं;

(२) जो पर्याय होती है उसमे वे तद्रूप हैं;

(३) जीव अपने परिणामरूप से उत्पन्न होता है, तथापि वह पर को (–कर्म को) उत्पन्न नही करता, इसलिये उसे पर के साथ उत्पाद्य–उत्पादकभाव नही है;

(४) उत्पाद्य–उत्पादकभाव के बिना कार्यकारणपना नहीं होता इसलिये जीव कारण होकर कर्म को उत्पन्न करे ऐसा नही होता, और—

(५) कारण–कार्यभाव के बिना जीव का अजीव के साथ कर्ताकर्मपना सिद्ध नहीं हो सकता, अर्थात् ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होनेवाला जीव कर्ता होकर, मिथ्यात्वादि अजीव कर्म को उत्पन्न करे—ऐसा किसी प्रकार सिद्ध नही होता।

—इसलिये ज्ञायकभाव की क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होता हुआ ज्ञानी कर्म का अकर्ता ही है। भाई! तू तो ज्ञानस्वभाव! तू अपने ज्ञाता–दृष्टाभावरूप से परिणमित होकर, उस परिणाम में तद्रूप होकर उसे कर सकता है, किन्तु तू जड़कर्म का कर्ता हो—ऐसा तेरा स्वभाव नही है। अहो! मैं.. ज्ञा...य. क.. हूँ. ऐसा अं. त र् मु ख.. हो कर स म झे तो जी ..व .को...कि...त नी... शा ति हो जा. ये...!

(१४१) अजीव में भी अकर्तापना

यहाँ जीव का अकर्तापना समझाने के लिये आचार्यदेव ने जो न्याय दिया है वह सर्व द्रव्यों में लागू होता है। अजीव मे भी एक अजीव दूसरे अजीव का अकर्ता है। जैसे कि—पानी उष्ण हुआ वहाँ अग्नि उसका अकर्ता है, वह निम्नानुसारः—

(१) अग्नि और पानी दोनो पदार्थ अपनी–अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं;

(२) अपनी–अपनी जो पर्याय होती है उसमे वे तद्रूप है;

(३) अग्नि अपने परिणामरूप से उत्पन्न होती है, तथापि वह पानी की उष्ण अवस्था को उत्पन्न नही करती; इसलिये उसे पानी के साथ उत्पाद्य–उत्पादकभाव नहीं है;

(४) उत्पाद्य–उत्पादकभाव के बिना कार्य–कारणपना नही होता, इसलिये अग्नि कारण होकर पानी की उष्ण अवस्था को उत्पन्न करे—ऐसा नही होता; और—

(५) कारण–कार्यभाव के बिना अग्नि का पानी के साथ कर्ताकर्मपना सिद्ध नही हो सकता।

—इसलिये अग्नि पानी की अकर्ता ही है। अग्नि अग्नि की पर्याय मे तद्रूप है और उष्ण पानी की अवस्था मे वह पानी ही तद्रूप है। इसीप्रकार कुम्हार और घड़ा आदि जगत के समस्त पदार्थों मे भी उपरोक्तानुसार पाँच बोल लागू करके एक–दूसरे का अकर्तापना समझ लेना चाहिये।

[नोट:—यहाँ जो अग्नि और पानी का दृष्टान्त दिया है, वह जीव का अकर्तृत्व सिद्ध करने के लिये नहीं दिया है, किन्तु अजीव का परस्पर अकर्तृत्व सिद्ध करने के लिये दिया है—यह बात लक्ष में रखना चाहिये।]

(१४२) "...निमित्त कर्ता तो है न ?"

प्रश्न:—जीव कर्ता है या नही ?

उत्तर:—हाँ, जीव कर्ता अवश्य है, लेकिन किसका ? कि—अपने ज्ञायकपरिणाम का,—पुद्गलकर्म का नही।

प्रश्न:—पुद्गल कर्म का निमित्तकर्ता है या नही ?

उत्तर.—नही; ज्ञायकभावरूप से परिणमित होनेवाला जीव मिथ्यात्वादि पुद्गलकर्म का निमित्तकर्ता भी नही है। कर्म के निमित्त होने पर जिसकी दृष्टि है उस जीव को ज्ञायकभाव का परिणमन नही है किन्तु अज्ञानभाव का परिणमन है। अज्ञानभाव के कारण ही वह

पुद्गलकर्म का निमित्तकर्ता होता है, और वह संसार का ही कारण है।—यह बात आचार्यदेव ने आगे आनेवाली गाथाओं मे भलीभाँति समझाई है।

(१४३) ज्ञाता का कार्य

ज्ञानस्वभावी जीव कर्ता होकर किसी की पर्याय को आगे-पीछे बदल दे ऐसा नही है। स्वयं अपने ज्ञातापरिणामरूप से उत्पन्न होता हुआ क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता है, ज्ञातापरिणाम ही ज्ञानी का कार्य है। जिसप्रकार "ईश्वर जगत का कर्ता"—यह बात मिथ्या है, उसीप्रकार जीव पर का कर्ता—यह बात भी मिथ्या है। ज्ञायकमूर्ति आत्मा स्व–परप्रकाशक है, वास्तव मे ज्ञायक तो शुभ–अशुभभावो का भी ज्ञाता ही है; उसमे एकतारूप परिणमित न होने से, किन्तु भिन्न ज्ञानभावरूप परिणमित होने से, वह राग का कर्ता नही है। राग को ज्ञान के साथ एकमेक करके जो उसका कर्ता होता है, उसकी दृष्टि "ज्ञायक" पर नही है किन्तु विकार पर है, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है। शुभभाव हो, वहाँ "अशुभभाव होना थे, किन्तु ज्ञान ने उन्हे बदलकर शुभ कर दिया"—ऐसा जो मानता है उसकी उन्मुखता भी विकार की ओर ही है, ज्ञायक की ओर उसकी उन्मुखता नही है। ज्ञाता तो ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर, अपने अपने ज्ञाताभावरूप ही परिणमित होता हुआ, उस–उस समय के राग को भी ज्ञान का व्यवहारज्ञेय बनाता है, किन्तु उसे ज्ञान का कार्य नही मानता। उस समय जो ज्ञानपरिणमन हुआ (–उस ज्ञानपरिणमन के साथ सम्यक्श्रद्धा, आनद, पुरुषार्थ आदि का परिणमन भी साथ ही है) वही ज्ञाता का कार्य है। इसप्रकार ज्ञानी अपने निर्मल ज्ञान—आनन्दादि परिणामों का कर्ता है, किन्तु राग का या पर का कर्ता नही है।

(१४४) "अकार्यकारणशक्ति" और पर्याय में उसका परिणमन

ज्ञानी जानता है कि मुझमे अकार्यकारणशक्ति है, मैं कारण होकर पर का कार्य करूँ और पर वस्तु कारण होकर मेरा कार्य

करे—ऐसा पर के साथ कार्यकारणपना मुझे नही है। अरे! अन्तर् मे ज्ञान कारण होकर राग को कार्यरूप से उत्पन्न करे, अथवा तो राग को कारण बनाकर ज्ञान उसके कार्यरूप से उत्पन्न हो—ऐसा ज्ञान और राग को भी कार्यकारणपना नही है।—ऐसी अकार्यकारण-शक्ति आत्मा मे है।

प्रश्नः—अकार्यकारणपना तो द्रव्य मे ही है न ?

उत्तरः—द्रव्य मे अकार्यकारणशक्ति है—ऐसा माना किसने ?—पर्याय ने। जिस पर्याय ने द्रव्योन्मुख होकर अकार्यकारण-शक्ति को माना, वह पर्याय द्रव्य के साथ अभेद होकर स्वय भी अकार्य-कारणरूप हो गई है, इस प्रकार पर्याय मे भी अकार्यकारणपना है। दूसरे प्रकार से कहा जाये तो—ज्ञायकस्वभावोन्मुख होकर जो पर्याय अभेद हुई उस पर्याय मे राग का या पर का कर्तृत्व नही है, यह तो ज्ञायकभावरूप ही है।

(१४५) आत्मा पर का उत्पादक नहीं है

देखो, भाई! जिसे अपने आत्मा का हित करने की गरज हुई हो—ऐसे जीव के लिये यह बात है। अन्तर की लोकोत्तरदृष्टि की यह बात है, लौकिक बात के साथ इस बात का मेल नही जम सकता। लोकव्यवहार मे तो आजकल ऐसी योजनायें चल रही है कि—"अनाज का उत्पादन बढाओ और वस्ती का उत्पादन कम करो।" किन्तु यहाँ तो लोकोत्तरदृष्टि की बात है कि भाई! तू पर का उत्पादक नही है, तू तो ज्ञान है। "अरे! अभक्ष्य वस्तु खाकर भी अनाज बचाओ"—ऐसा कहनेवाले तो अनार्यदृष्टिवाले हैं,—ऐसो की बात तो दूर रही, किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा कर्ता होकर पर को उत्पन्न करे या पर का उत्पन्न होना रोके—ऐसा माननेवाले भी मूढ मिथ्यादृष्टि हैं। ज्ञानी को तो अन्तर मे राग का भी अकर्तृत्व है—यह बात तो अभी इससे भी सूक्ष्म है।

(१४६) "सब मानें तो सच्चा"—यह बात झूठ है। (सच्चे साक्षी कौन ?)

प्रश्नः—सब लोग हाँ कहे तो आपकी बात सच्ची है !

उत्तरः—अरे भाई ! हमारे तो पंचपरमेष्ठी ही पंच हैं, इसलिये जो पंचपरमेष्ठी मानें वह सच है। दुनिया के अज्ञानी लोग भले ही कुछ और माने।

जैसा प्रश्न यहाँ किया वैसा ही प्रश्न भैया भगवतीदासजी के उपादान-निमित्त के दोहे में किया है; वहाँ निमित्त कहता है कि—

निमित्त कहै मोको सबै जानत है जगलोय;
तेरो नांव न जानहि उपादान को होय ? ॥ ४ ॥

—हे उपादान ! जगत मे घर-घर जाकर लोगों से पूछें तो सब मेरा ही नाम जानते है—अर्थात् निमित्त से कार्य होता है—ऐसा सब मानते हैं, किन्तु उपादान क्या है उसका तो नाम भी नही जानते।

तब उसके उत्तर मे उपादान कहता है कि—

उपादान कहे रे निमित्त ! तू कहा करै गुमान ?
मोकों जानें जीव वे जो हैं सम्यक्वान ॥ ५ ॥

—अरे निमित्त ! तू गुमान किसलिये करता है ? जगत के अज्ञानी लोग मुझे भले ही न जाने, किन्तु जो सम्यक्वंत ज्ञानी जीव है वे मुझे जानते हैं।

निमित्त कहता है कि जगत से पूछे, उपादान कहता है कि ज्ञानी से पूछे।

उसी प्रकार निमित्त फिर से कहता है कि—

कहै जीव सब जगत के जो निमित्त सोइ होय।
उपादान की बात को पूछे नाही कोय ॥ ६ ॥

—जैसा निमित्त हो वैसा कार्य होता है—ऐसा तो जगत के

सभी जीव कहते है, किन्तु उपादान की बात को तो कोई पूछता भी नही है।

तब उसे उत्तर देते हुए उपादान कहता है कि—

उपादान बिन निमित्त तू कर न सके इक काज।
कहा भयौ जग ना लखे जानत हैं जिनराज ॥ ८ ॥

—अरे निमित्त ! उपादान के बिना एक भी कार्य नही हो सकता, अर्थात् उपादान से ही कार्य होता है।—जगत के अज्ञानी जीव इसे न जाने उससे क्या हुआ ?—जिनराज तो ऐसा जानते हैं।

उसी प्रकार यहाँ, "आत्मा का ज्ञायकस्वभाव और उसके ज्ञेयरूप से वस्तु की क्रमबद्धपर्यायें"—यह बात दुनिया के अज्ञानी जीव न समझे और उसका स्वीकार न करें तो उससे क्या ? किन्तु पच-परमेष्ठीभगवन्त उसके साक्षी हैं, उन्होने इसी प्रकार जाना है और इसी प्रकार कहा है, और जिस जीव को अपना हित करना हो—पच-परमेष्ठी की श्रेणी मे बैठना हो, उसे यह बात समझकर स्वीकार करना ही पडेगी।

(१४७) "गोशाला का मत ?"—या जैनशासन का मर्म ?

यह तो जैनशासन की मूल बात है। इस बात को "गोशाला का मत" कहनेवाला जैनशासन को नही जानता। प्रथम तो "गोशाला" था ही कब ? और यह बात तो अनेको बार स्पष्ट कही जा चुकी है कि ज्ञायकस्वभावसन्मुख के पुरुषार्थ बिना एकान्त नियत माननेवाला इस क्रमबद्धपर्याय का रहस्य समझा हो नही है। सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा जिसने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति की और ज्ञाता हुआ, उसीको क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय है, और उसीने जैनशासन को जाना है।

(१४८) कर्ता–कर्म का अन्य से निरपेक्षपना

उत्पाद्यवस्तु स्वय ही अपनी योग्यता से उत्पन्न होती है, अन्य कोई उत्पादक नही है, वस्तु मे ही वैसी क्रमबद्धपर्यायरूप से स्वयं

परिणमित होने की शक्ति है—वैसी अवस्था की योग्यता है—वैसा ही स्वकाल है; तो उसमे दूसरा क्या करे ? और यदि वस्तु में स्वय में वैसी शक्ति न हो—योग्यता न हो—स्वकाल न हो तो भी दूसरा उसमे क्या करे ? इसलिये अन्य से निरपेक्षपने से ही कर्ता–कर्मपना है। पहले कर्ता–कर्म अधिकार मे आचार्यदेव यह बात कह गये है कि "स्वयं अपरिणमित को पर द्वारा परिणमित नही किया जा सकता; क्योकि वस्तु मे जो शक्ति स्वयं न हो उसे अन्य कोई नहीं कर सकता। और स्वयं परिणमित को तो पर परिणमित करनेवाले की अपेक्षा नही होती, क्योकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नही रखती।" (देखो, गाथा ११६ से १२५)

(१४९) सर्वत्र उपादान का ही बल

पुनश्च, पं० बनारसीदासजी भी कहते है कि:—

उपादान बल जहाँ—तहाँ, नहि निमित्त को दाव।
एक चक्रसो रथ चले, रविको यहै स्वभाव ॥ ५ ॥

—जहाँ देखो वहाँ उपादान का ही बल है, अर्थात् योग्यता से ही कार्य होता है, उसमे निमित्त का कोई दाव—पेच नही हैं; "निमित्त के कारण कार्य हुआ"—ऐसा निमित्त का दाव या बारी कभी आती ही नही, जहाँ देखो वहाँ उपादान का ही दाव है। "ऐसा क्यो ?" कहते है—उपादान की वैसी ही योग्यता। "निमित्त के कारण हुआ ?"—कहते है नही।

(१५०) "–निमित्त बिना...!!"

प्रश्नः—निमित्त कुछ नही करता यह सच, किन्तु क्या निमित्त के बिना होता है ?

उत्तरः—हाँ, भाई! उपादान के कार्य मे तो निमित्तका अभाव है, इसलिये वास्तव मे निमित्त के बिना ही कार्य होता है। निमित्त है अवश्य, किन्तु वह निमित्त मे है, उपादान मे तो उसका अभाव ही है, उस अपेक्षा से निमित्त बिना ही होता है।

—ऐसी बात आये वहाँ उपादान–निमित्त का भेदज्ञान समझने के बदले कुछ विपरीत दृष्टिवाले जीव कहते हैं कि—"अरे! निमित्त का निषेध हो जाता है!" भाई रे! इसमे निमित्त के अस्तित्व का निषेध नही होता, निमित्त तो निमित्तरूप से ज्यो का त्यो रहता है। तू निमित्त को निमित्त रूप से रख, उसे उपादान मे मत मिला। अज्ञानी निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध को कर्ताकर्मरूप से मानकर, उपादान–निमित्त की एकता कर डालते हैं।

"—कार्य होता तो है उपादान से, किन्तु कही निमित्त के बिना होता है?

—शरीर की क्रिया होती शरीर से है, किन्तु कही जीव के बिना होती है?

—विकार करता है जीव स्वय, किन्तु कही कर्म के बिना होता है?

—ज्ञान होता है स्वयं से, किन्तु कहो गुरु के बिना होता है?

—मोक्ष होता है जीव के उपादान से, किन्तु कहो मनुष्यदेह के बिना होता है?"

—इस प्रकार कितने ही दलील करते हैं, किन्तु भाई! उपादान की अपनी योग्यता से ही कार्य होता है—ऐसा जो वास्तव मे जानता है उसे इसका भी ज्ञान होता है कि परनिमित्त कैसा होता है; इसलिये "निमित्त के बिना." का प्रश्न उसे नही रहता। वह तो जानता है कि उपादान से कार्य होता है, और वहाँ योग्य निमित्त होता ही है,—"गतेः धर्मास्तिकायवत्।" (देखो श्री पूज्यपादाचार्यदेवकृत इष्टोपदेश गाथा–३५)

जो जीव स्व-पर दो वस्तुओ को मानता ही नही, निमित्त को जानता ही नही, ऐसे अन्यमती को निमित्त का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये "निमित्त के बिना नही होता"—ऐसी दलील से समझाया जाता है, किन्तु जहाँ स्व-पर के भेदज्ञान की बात चलती

हो, उपादान–निमित्त की स्वतन्त्रता का वर्णन चलता हो, वहाँ बीच मे "निमित्त के बिना नही होता"—यह दलील रखना तो निमित्ताधीनदृष्टि ही सूचित करता है। "निमित्त होता ही है" फिर "निमित्त के बिना नही होता"—इस दलील का क्या काम है ?

प्रवचनसार गाथा १६० में आचार्यदेव कहते हैं कि वास्तव मे मैं शरीर, वाणी और मन को आधारभूत नही हूँ, उनका कारण मैं नही हूँ, उनका कर्ता, प्रयोजक या अनुमोदक भी मैं नही हूँ, मेरे बिना ही, अर्थात् मैं उन शरीरादि का आधार हुए बिना, कारण हुए बिना, कर्ता हुए विना, प्रयोजक या अनुमोदक हुए बिना, वे स्वय अपने-अपने से ही होते है, इसलिये मैं उन शरीरादि का पक्षपात छोडकर (अर्थात् मेरे निमित्त बिना वे नही हो सकते—ऐसा पक्षपात छोड़कर) अत्यत मध्यस्थ–साक्षीस्वरूप—ज्ञायक हूँ।

(देखो, प्रवचनसार गाथा १६०)

(१५१) इस उपदेश का तात्पर्य और उसका फल

यहाँ आचार्यदेव कहते है कि हे भाई ! सर्व द्रव्यों को दूसरे के साथ उत्पाद्य–उत्पादकभाव का अभाव है इसलिये तू ज्ञाता ही रह। "मैं ज्ञान हूँ"—ऐसा निर्णय करके जो स्वसन्मुख ज्ञातापरिणामरूप से उत्पन्न हुआ वह जीव अपने सम्यक्श्रद्धा–ज्ञान–आनन्दादि कार्यरूप से उत्पन्न होता है इसलिये उसका उत्पादक है, किन्तु कर्मादि पर का उत्पादक नहीं है।—इसप्रकार जीव को स्वभावसन्मुख दृष्टि करके निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होने के लिये यह उपदेश है। ज्ञायकस्वभावसन्मुख दृष्टि करके परिणमित हुआ वहाँ—

ज्ञानगुण अपने निर्मल परिणाम के साथ तद्रूप होकर परिणमित हुआ,

श्रद्धागुण अपने सम्यग्दर्शनपरिणाम के साथ तद्रूप होकर परिणमित हुआ;

आनन्दगुण अपने आनन्दपरिणाम के साथ तद्रूप होकर परिणमित हुआ;

—इस प्रकार ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर परिणमित होने से श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र-वीर्यादि समस्त गुणो की निर्मल परिणमनधारा बढने लगी।—यह है ज्ञायकस्वभाव की ओर क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति का फल।

❋ सातवाँ प्रवचन

[आश्विन शुक्ला ३, वीर स. २४८०]

एक ओर अकेला ज्ञायकस्वभाव और दूसरी ओर क्रमबद्धपर्याय—इसका यथार्थ निर्णय करने में सब आ जाता है, वह मूल वस्तुधर्म है, वह केवलीभगवान का उदर है, सन्तो का हार्द है, शास्त्रो का मर्म है, विश्व का दर्शन है और मोक्षमार्ग का कर्तव्य कैसे होता है उसकी यह रीति है।

अज्ञानी कहते हैं कि यह "छूत की बीमारी" है तब यहाँ कहते हैं कि यह तो सर्वज्ञ का हार्द है, जिसे यह बात बैठ गई उसके हृदय में सर्वज्ञ बैठ गये,—वह अल्पज्ञ होने पर भी "मैं सर्वज्ञ जैसा ज्ञाता ही हूँ"—ऐसा उसे निर्णय हो गया।

(१५२) अधिकार का नाम

इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार की पहली चार गाथाओ की वचनिका हो रही है। सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार कहो, ज्ञायकद्रव्य का अधिकार कहो, या क्रमबद्धपर्याय का अधिकार कहो, जहाँ ज्ञायकद्रव्य को पकडकर ज्ञान एकाग्र हुआ वहाँ वह ज्ञान सर्वविशुद्ध हो गया, और उस ज्ञान के विषयरूप से सर्व द्रव्यो की क्रमबद्धपर्याय है उसका भी उसे निर्णय हो गया।

(१५३) "क्रमबद्ध" और "कर्मबन्ध" !

देखो, यह क्रमबद्धपर्याय की बात छह दिन से चल रही है, और आज सातवाँ दिन है; बहुत-बहुत पक्षो से स्पष्टीकरण हो गया है; तथापि कुछ लोगो को यह बात समझना कठिन मालूम होता है। कोई तो कहते है कि—"महाराज ! आप क्या कहते हो, "कर्मबन्ध" मानना यह सम्यग्दर्शन है—ऐसा आप कहते हो ?"—अरे भाई ! यह "क्रमबद्ध" अलग और "कर्मबन्ध" अलग ! दोनों के बीच विशाल अन्तर है। कर्मबन्धरहित ज्ञायकस्वभाव कैसा है और वस्तु की पर्याय मे क्रमबद्धता किस प्रकार है उसे पहिचाने तो सम्यग्दर्शन हो। इस "क्रमबद्ध" को समझ ले तो "कर्मबन्ध" का नाश हो, और जो "क्रमबद्ध" को न समझे उसे "कर्मबन्ध" होता है।

(१५४) "ज्ञायक" और "क्रमबद्ध" दोनों का निर्णय एकसाथ

जीव मे या अजीव मे प्रतिसमय जो क्रमबद्धपर्याय होना है वही होती है; पहले होनेवाली पर्याय बाद मे नही होती, और बाद मे होनेवाली पर्याय पहले नही होती। अनादि-अनन्त कालप्रवाह के जितने समय है उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें हैं, उनमे जिससमय जिस पर्याय का नम्बर (क्रम) है उस समय वही पर्याय होती है। जिस प्रकार सात वारों मे रविवार के बाद सोमवार और फिर मगलवार—इसप्रकार ठीक क्रमबद्ध ही आते हैं उल्टे सीधे नही आते, उसीप्रकार एक से सौ तक के नम्बरोंमे १ के बाद २, ५० के बाद ५१, ९९ के बाद १००,—इसप्रकार सब क्रमबद्ध ही आते हैं; उसीप्रकार द्रव्य की क्रमबद्धपर्यायो मे जो ५१ वी पर्याय होगी वह ५० वी या ५२ वी नही होती, और जो '५२' वी हो वह ५१ वी नही होती। अर्थात् पर्याय के क्रमबद्धपने मे कोई भी पर्याय बीच से हटकर आगे-पीछे नही होती। जिसप्रकार पदार्थकी पर्यायका ऐसा क्रमबद्धस्वरूप है, उसीप्रकार आत्मा का ज्ञायकस्वरूप है। मैं सर्वविशुद्धज्ञानमात्र ज्ञायक हूँ—ऐसे ज्ञायकस्वरूप के निर्णय के साथ क्रमबद्धपर्याय का भी निर्णय हो जाता

है । आत्मा का ज्ञायकस्वरूप और पर्यायो का क्रमबद्धस्वरूप—इन दो मे से एक को भी न माने तो ज्ञान और ज्ञेय का मेल नही रहता अर्थात् सम्यग्ज्ञान नही होता । ज्ञायकस्वभाव और क्रमबद्धपर्याय—इन दोनो का निर्णय एकसाथ ही होता है ।—कब होता है ?—जब ज्ञानस्वभाव की ओर ढले तब ।

(१५५) यह बात किसे परिणमित होती है ?

अभी तो जिसने यथार्थ गुरुगम से ऐसी बात का श्रवण भी नही किया है, वह उसका ग्रहण और धारण तो कहाँ से करेगा ? और सत्य का ग्रहण तथा धारण किये बिना ज्ञानस्वभावसन्मुख होकर उसकी रुचि का परिणमन कहाँ से होगा ? यहाँ ऐसा कहना है कि अभी जो विपरीत बात का श्रवण और पोषण कर रहे है, उनके सत्यरुचि के परिणमन की योग्यता नही है । जिसके अन्तर की महान पात्रता और पुरुषार्थ हो उसीको यह बात परिणमित होती है ।

(१५६) धर्म का पुरुषार्थ

उत्पाद–व्यय–ध्रुवयुक्तं सत्, और सत् वह द्रव्य का लक्षण है; उसमे भी क्रमबद्धपर्याय की बात का समावेश हो जाता है, क्रमबद्ध-पर्याय के बिना उत्पाद–व्यय नही हो सकते । प्रत्येक पर्याय का उत्पाद अपने–अपने काल मे एक समय पर्यन्त सत् है । अकेली पर्याय पर या राग पर दृष्टि रखकर इस क्रमबद्धपर्याय का निर्णय नही होता, किन्तु ध्रुव ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि रखकर ही क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय होता है । अनेक लोगों को ऐसा प्रश्न उठता है कि—क्रमबद्धपर्याय मे धर्म का पुरुषार्थ करना कहाँ रहा ? उनसे कहते हैं कि भाई ! सम्यक्-श्रद्धा–ज्ञान के अन्तरपुरुषार्थ बिना यह बात निश्चित् ही नही होती । "मैं ज्ञायक हूँ"—ऐसी दृष्टि के बिना क्रमबद्धपर्याय का ज्ञान करेगा कौन ? ज्ञान के निर्णय बिना ज्ञेय का निर्णय होता ही नही । ज्ञान के निर्णय सहित क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करे तो अनन्त पदार्थो में कही भी फेरफार करने का अनन्ता अहंकार दूर हो जाये और ज्ञातारूप ही

रहे ।—इसीमे मिथ्यात्व के और अनन्तानुबन्धीकषाय के नाश का पुरुषार्थ आ गया । यही धर्म के पुरुषार्थ का स्वरूप है, अन्य कोई बाहर का पुरुषार्थ नही है ।

(१५७) "क्रमबद्ध" का निर्णय और उसका फल

क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किसे होता है ? और उसका फल क्या ?

—जिसकी बुद्धि ज्ञायकभाव मे एकाग्र हुई है, और राग मे या पर का फेरफार करने की मान्यता मे रुक गई नही है, उसीको क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय हुआ है, और उस निर्णय के साथ उसे पुरुषार्थादि पाँचो समवाय (पूर्वोक्त प्रकार से) आ जाते है । और, स्वसन्मुख होकर वह निर्णय करते ही सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायो का क्रमबद्धप्रवाह प्रारम्भ हो जाता है—यही उसका फल है । ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि कहो, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय कहो, या मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ कहो,—तीनो एकसाथ ही है, उनमे से एक हो और दूसरे दो न हों—ऐसा नही हो सकता ।

प्रत्येक पदार्थ सत् है, उसका जो अनादि अनन्त जीवन है उसमे तीनोकाल की पर्यायें एकसाथ प्रगट नही हो जाती, किन्तु एक के बाद एक प्रगट होती है, और प्रत्येक समय की पर्याय व्यवस्थित क्रमबद्ध है । ऐसे वस्तुस्वरूप का निर्णय करनेवाले को सर्वज्ञ के केवलज्ञान का निर्णय हुआ और अपने ज्ञानमे वैसा सर्वज्ञता का सामर्थ्य है—उसका भी निर्णय हो गया । ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता मे इन सबका निर्णय एकसाथ हो जाता है । अक्रम ऐसे ज्ञायकस्वभावी द्रव्य की ओर उन्मुख होकर उसका निर्णय करने से पर्याय की क्रमबद्धता का निर्णय भी हो जाता है, अक्रमरूप अखण्ड द्रव्य की दृष्टि बिना पर्याय की क्रमवद्धता का यथार्थज्ञान नही होता ।

भगवान ! द्रव्य त्रिकाली सत् है, और पर्याय एक–एक समय का सत् है, वह सत् जैसा है उसे वैसा ही जानने का तेरा स्वभाव है;

किन्तु उसमे कही उलटा–सीधा करने का तेरा स्वभाव नही है। अरे, सत् मे "ऐसा क्यो ?"—इसप्रकार विकल्प करने का भी तेरा स्वभाव नही है।—ऐसे स्वभाव की प्रतीति करने से मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हो जाता है और उसमे मोक्षमार्ग के पाँचों समवाय एकसाथ आ जाते है।

(१५८) यह है संतों का हार्द

एक ओर अकेला ज्ञायकस्वभाव, और दूसरी ओर क्रमवद्ध-पर्याय,—इसका यथार्थ निर्णय करने मे सब आ जाता है, वह मूल वस्तुधर्म है, वह केवलीभगवान का उदर है, सतो का हार्द है, शास्त्रो का मर्म है, विश्व का दर्शन है, और मोक्षमार्ग का कर्तव्य कैसे होता है उसकी यह रीति है।

अज्ञानी कहते हैं कि यह "छूत की बीमारी है", तव यहाँ कहते हैं कि यह सर्वज्ञ का हार्द है, जिसे यह बात बैठ गई उसके हृदय मे सर्वज्ञ बैठ गये,—वह अल्पज्ञ होने पर भी "मैं सर्वज्ञ जैसा ज्ञाता हूँ"—ऐसा उसे निर्णय हो गया।

अभी जिन्होने ऐसे वस्तुस्वरूप का निर्णय नही किया, अरे ! यह बात सुनी भी नही, और यो ही त्यागी या व्रतपना लेकर धर्म मान लिया है, उन्हे धर्म तो नही है, किन्तु धर्म की रीति क्या है—इसकी भी उन्हे खबर नही है।

(१५९) जो यह बात समझ ले उसकी दृष्टि बदल जाती है

यहाँ ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि की बात है, इसलिये ज्ञानस्वभाव का निर्णय क्या, पुरुषार्थ क्या, सम्यग्दर्शन क्या,—यह सव साथ ही आ जाता है, और इस दृष्टि मे तो गृहीत या अगृहीत दोनो मिथ्यात्व का नाश हो जाता है। जो ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नही करता, पुरुषार्थ को नही मानता, सम्यग्दर्शन नही करता और "जो होना होगा वह होगा"—इसप्रकार एकान्त नियत को पकडकर स्वच्छन्दी होता है, वह गृहीतमिथ्यादृष्टि है, ऐसे जीव की यहाँ वात नही है। यह वात

समझे उसे ऐसा स्वच्छन्द रहता ही नही, उसकी तो दृष्टि का सारा परिणमन ही बदल जाता है।

(१६०) ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि की ही मुख्यता

द्रव्यदृष्टि के बिना क्रमबद्धपर्याय का निर्णय नहीं होता; क्योंकि क्रमबद्धपना समय-समय को पर्याय मे है, और छद्मस्थ का उपयोग असख्य समय का है, उस असख्य समय के उपयोग में एक-एक समय की पर्याय पृथक् करके नही पकडी जा सकती, किन्तु ध्रुवज्ञायकस्वभाव मे उपयोग एकाग्र हो सकता है। इसलिये समय-समय की पर्याय का क्रमबद्धपना पकडते हुए उपयोग अन्तरोन्मुख होकर ध्रुवज्ञायकस्वभाव मे एकाग्र होता है और ज्ञायक की प्रतीति मे क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति भी हो जाती है।—इसप्रकार इसमे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि ही मुख्य है।

(१६१) जैसा वस्तुस्वरूप, वैसा ही ज्ञान और वैसी ही वाणी

देखो, यह वस्तुस्वरूप ! पदार्थ का जैसा स्वरूप हो वैसा ही ज्ञान जाने, तो वह ज्ञान सच्चा हो। समस्त पदार्थों की तीनोंकाल की पर्यायें क्रमबद्ध है,—ऐसा ही वस्तुस्वरूप है, सर्वज्ञभगवान ने केवलज्ञान मे प्रत्यक्ष इसप्रकार जाना है और वाणी मे भी वैसा ही कहा है; इसप्रकार पदार्थ, ज्ञान और वाणी तीनो समान है। पदार्थो का जैसा स्वभाव है वैसा हो ज्ञान मे देखा, और जैसा ज्ञान मे देखा वैसा ही वाणी मे आया,—ऐसे वस्तुस्वरूप से जो विपरीत मानता है—आत्मा कर्ता होकर पर की पर्याय बदल सकता है—ऐसा मानता है वह पदार्थ के स्वभाव को नही जानता; सर्वज्ञ के केवलज्ञान को नही जानता और सर्वज्ञ के कहे हुए आगम को भी वह नही जानता, इसलिये देव-गुरु-शास्त्र को उसने वास्तव मे नही माना है।

इस "क्रमबद्धपर्याय" के सम्बन्ध मे आजकल अनेक जीवों का कुछ निर्णय नही है, और बडी गड़बड़ी चल रही है, इसलिये यहाँ अनेकानेक प्रकारो से उसकी स्पष्टता की गई है।

(१६२) स्वच्छन्दी के मन का मैल (१)

प्रश्नः—आप कहते है कि जैसा सर्वज्ञ भगवान ने देखा होगा वैसा क्रमबद्ध होगा, तो फिर हमारी पर्याय मे मिथ्यात्व भी जैसा क्रमबद्ध होना होगा वैसा होगा !

उत्तरः—अरे मूढ ! तुझे सर्वज्ञ को मानना नही है और स्वच्छद का पोषण करना है !—निकाल दे अपने मन का मैल ! ! सर्वज्ञ का निर्णय करे और मिथ्यात्व भी रहे—यह कहाँ से लाया ? तूने सर्वज्ञ का निर्णय ही नही किया है। इसलिये अन्तर का मैल निकाल दे गोटे निकाल दे और ज्ञानस्वभाव के निर्णय का उद्यम कर। ज्ञानस्वभाव के निर्णय विना "क्रमवद्ध" की वात तू कहाँ से लाया ? मात्र "क्रमवद्ध" शब्द को पकड रखने से नही चलेगा। ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके क्रमबद्ध को माने तो अपनी पर्याय मे मिथ्यात्व रहने का प्रश्न ही न उठे, क्योकि उसकी पर्याय तो अतर्स्वभावोन्मुख हो गई है, उसे अब मिथ्यात्व का क्रम हो ही नही सकता, और सर्वज्ञभगवान भी ऐसा देख ही नही सकते।

जिसे ज्ञानस्वभाव का भान नही है, सर्वज्ञदेव का निर्णय नही है और उस प्रकार का उद्यम भी नही करता, विकार की रुचि नही छोडता और मात्र भाषा मे "क्रमबद्धपर्याय" का नाम लेकर स्वच्छन्दी होता है, वैसा जीव तो अपने आत्मा को ही ठगता है। अरे ! जो परमवीतरागता का कारण है उसको ओट लेकर स्वच्छन्द का पोषण करता है यह तो महान विपरीतता है।

(१६३) स्वच्छन्दी के मन का मैल (२)

एक त्यागी—पडितजी ने विद्यार्थी पर खूब क्रोध किया, जब किसीने उनसे कहा तो वे बोले कि—"अरे भैया ! तुमने गोम्मटसार नही पढा, गोम्मटसार मे ऐसा लिखा है कि जब क्रोध का उदय आता है तब क्रोध हो ही जाता है।" देखो, यह गोम्मटसार पढकर सार निकाला ! अरे भाई ! तू गोम्मटसार की ओट न ले, तुझ जैसे स्वच्छन्द की पुष्टि

करनेवाले के लिये वह कथन नही है। पहले तो क्रोधादिकषाय होने का भय रहता था और अपने दोषों की निन्दा करता था, उसके बदले अब तो वह भी नही रहा ! भाई ! शास्त्र का उपदेश तो वीतरागता के लिये होता है या कषाय बढ़ाने के लिये ? अज्ञानदशा मे जैसा कषाय था वैसे ही कषाय मे खडा हो तो उसने शास्त्र पढे ही नही, भले ही वह गोम्मटसार का नाम ले, किन्तु वास्तव मे वह गोम्मटसार को नही मानता।

(१६४) स्वच्छन्दी के मन का मैल (२)

—इसी प्रकार अब इस क्रमबद्धपर्याय की बात में लो। कोई जीव रुचिपूर्वक तीव्र क्रोधादिभाव करे और फिर कहे कि—"क्या किया जाये भाई ? हमारी क्रमबद्धपर्याय ऐसी ही होना थी !" क्रमबद्धपर्याय सुनकर ज्ञायकस्वभावोन्मुख होने के बदले, यदि ऐसा सार निकाले तो वह स्वच्छन्दी है, वह क्रमबद्धपर्याय को समझा ही नही है। अरे भाई ! तू क्रमबद्धपर्याय की ओट न ले, तुझ जैसे स्वच्छन्द का पोषण करनेवाले के लिये यह बात नही है। पहले तो क्रोधादि कषाय का भय रहता था और अपने दोषों की निन्दा करता था, उसके बदले अब तो वह भी नही रहा ? भाई रे ! यह क्रमबद्धपर्याय का उपदेश तो अपने ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि करने के लिये है या विकार की रुचि का पोषण करने लिये ? जो विकार की रुचि छोड़कर ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नही करता वह जीव क्रमबद्धपर्याय की बात समझा ही नही है; भले ही क्रमबद्धपर्याय का नाम ले, किन्तु वास्तव मे वह क्रमबद्धपर्याय को मानता ही नही है।

इसलिये हे भाई ! अपने मन का मैल निकाल दे, स्वच्छन्द का बचाव छोड़ दे और विकार की रुचि छोड़कर ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति का उद्यम कर।

(१६५) सम्यक्त्वी की अद्भुत दशा !

प्रश्न—क्रमबद्धपर्याय में [illegible] है ?

उत्तरः—"मैं ज्ञायक हूँ"—इस प्रकार ज्ञाता की ओर ढलकर, अपनी दृष्टि को ज्ञायकस्वभाव की ओर मोड दे उसीको क्रमबद्धपर्याय की सच्ची समझ होती है, इसके सिवा नही होती। इस प्रकार क्रमवद्धपर्याय माननेवाले की दृष्टि क्रोधादि पर नही होती, किन्तु ज्ञायक पर ही होती है, और ज्ञायकदृष्टि के परिणमन मे क्रोधादि नही रहते। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि का ऐसा परिणमन हुए बिना जीव को सच्चा सन्तोष और समाधान नही होता; और सम्यक्त्वी को ऐसी दृष्टि का परिणमन होने से उनके सब समाधान हो गये हैं, ज्ञायकपने के परिणमन मे उन्हे किसीका अभिमान भी नही रहा, और अपने मे प्रमाद भी नही रहा तथा उतावल भी न रही। ज्ञातापने के परिणमनकी ही धारा चल रही है उसमे व्याकुलता भी कैसी ? और प्रमाद भी कैसा ?—ऐसी सम्यक्त्वी की अद्भुत दशा है।

(१६६) ज्ञातापने से च्युत होकर अज्ञानी कर्ता होता है

एक ओर ज्ञाता-भगवान, और सामने पदार्थों का क्रमबद्धपरिणमन—उनका आत्मा ज्ञाता ही है, ऐसा मेल है, उसके बदले वह मेल तोडकर (अर्थात् स्वय अपने ज्ञातास्वभाव से च्युत होकर) जो जीव कर्ता होकर पर के क्रम को बदलना चाहता है, वह जीव पर के क्रम को तो नही बदल सकता किन्तु उसकी दृष्टि मे विषमता (मिथ्यात्व) होती है। ज्ञायकपने का निर्मल प्रवाह चलना चाहिये उसके बदले विपरीतदृष्टि के कारण वह विकार के कर्तृत्वरूप से परिणमित होता है।

(१६७) सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान कब होते हैं ?

जिसे अपना हित करना हो,—ऐसे जीव के लिये यह बात है। हित सत्य से होता है किन्तु असत्य से नही होता। सत्य के स्वीकार बिना सच्चा ज्ञान नही होता, और सम्यक्ज्ञान के बिना धर्म या हित नही होता। जिसे अपने ज्ञान मे से असत्यपना टालकर सत्यपना करना हो उसे क्या करना चाहिये ?—उसकी यह बात है।

जैसा पदार्थ है वैसी ही उसकी श्रद्धा करे, और जैसी श्रद्धा है वैसा ही पदार्थ हो, तो वह श्रद्धा सच्ची है; इसी प्रकार जैसा पदार्थ है वैसा ही उसका ज्ञान करे, और जैसा ज्ञान करे, वैसा ही पदार्थ हो—तो वह ज्ञान सच्चा है।

"आत्मा ज्ञायकस्वरूप है, ज्ञायकपना ही जीवतत्त्व का सच्चा स्वरूप है, और पदार्थ क्रमबद्धपर्यायरूप से स्वयं परिणामित होनेवाले हैं; यह "ज्ञायक" अपने ज्ञानसहित उनका ज्ञाता है, किन्तु वह किसी के क्रम को बदलकर आगे–पीछे करनेवाला नही है"—ऐसे वस्तुस्वरूप की श्रद्धा और ज्ञान करे तो वे श्रद्धा–ज्ञान सच्चे हों, इसलिये हित और धर्म हो।

(१६८) मिथ्याश्रद्धा–ज्ञान का विषय जगत में नहीं है

—किन्तु कोई ऐसा माने कि "मैं कर्ता होकर पर की अवस्था को बदल दूँ, अर्थात् मेरा पर के साथ कार्यकारणपना है"–तो उसकी मान्यता मिथ्या है, क्योंकि उसकी मान्यतानुसार वस्तुस्वरूप जगत मे नही है। मिथ्याश्रद्धा का (और मिथ्याज्ञान का) विषय जगत में नही है। जिस प्रकार जगत मे "गधे का सीग" कोई वस्तु ही नही है, इसलिये "गधे का सीग" ऐसी श्रद्धा या ज्ञान वह मिथ्या ही है। उसी प्रकार "पर के साथ कार्यकारणपना हो"—ऐसी कोई वस्तु ही जगत मे नही है, तथापि "मैं पर का करूँ"—इस प्रकार जो पर के साथ कार्यकारणपना मानता है उसकी श्रद्धा और ज्ञान मिथ्या ही है; क्योंकि उसकी मान्यतानुसार कोई विषय जगत मे नही है। यहाँ ऐसा नही समझना चाहिये कि—जिस प्रकार "गधे का सीग" और पर के साथ कार्यकारणपना जगत में नही है उसी प्रकार मिथ्या श्रद्धा भी नही है। मिथ्या श्रद्धा–ज्ञान तो अज्ञानी की पर्याय मे है; किन्तु उसकी श्रद्धानुसार वस्तुस्वरूप जगत मे नही है। अज्ञानी की पर्याय मे मिथ्या श्रद्धा तो "सत्" है, किन्तु उसका विषय "असत्" है अर्थात् उसका कोई विषय जगत मे नही है।

देखो, यहाँ कहा है कि–"मिथ्याश्रद्धा सत् है" इसका क्या मतलब ?—कि जगत मे मिथ्याश्रद्धा का अस्तित्व (सत्पना) है, मिथ्याश्रद्धा है ही नही—ऐसा नही है, किन्तु उस मिथ्याश्रद्धा के अभिप्रायानुसार कोई वस्तु जगत मे नही है। यदि उस श्रद्धानुसार वस्तु का स्वरूप हो तो उसे मिथ्याश्रद्धा न कहा जाये।

(१६९) इसमें क्या करना आया ?

यहाँ एक बात चल रही है कि आत्मा का ज्ञायकपना और सर्व वस्तुओ की पर्यायो का क्रमबद्धपना माने बिना श्रद्धा–ज्ञान सच्चे नही होते, और सच्चे श्रद्धा-ज्ञान बिना हित या धर्म नही होता।

कोई पूछे कि इसमें क्या करना आया ?–तो उसका उत्तर यह है कि–पहले पर का कर्तृत्व मानकर विकार मे एकाग्र होता था, उसके बदले अब ज्ञानस्वभाव मे एकाग्रता करके ज्ञाता–दृष्टा रहा। उस ज्ञाता-दृष्टापने मे अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन, स्वभाव का पुरुषार्थ आदि भी साथ ही है।

(१७०) ज्ञायकसन्मुख दृष्टि का परिणमन ही सम्यक्त्व का पुरुषार्थ

ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करके जिसने क्रमबद्धपर्याय मानी उसके स्वसन्मुख पुरुषार्थ भी साथ ही आ गया है। ज्ञायकस्वभावसन्मुख जो परिणमन हुआ उसमे पुरुषार्थ कही अलग नही रह जाता, पुरुषार्थ भी साथ ही परिणमित होता है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय, स्वसन्मुख पुरुषार्थ, या सम्यग्दर्शन–यह सब कही पृथक्–पृथक् नही है किन्तु एक ही हैं। इसलिये कोई ऐसा कहे कि "हमने ज्ञायक का और क्रमबद्ध का निर्णय तो कर लिया, किन्तु अभी सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ करना बाकी है," तो उसका निर्णय सच्चा नही है, क्योकि यदि ज्ञायकस्वभाव का और क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय हो तो सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ उसमे आ ही जाता है।

(१७१) ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से ही निर्मल पर्याय का प्रवाह

स्वसन्मुखपुरुषार्थ द्वारा ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करने से सम्यग्दर्शन होता है तथापि वह क्रमबद्ध है।

ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करने से मुनिदशा होती है, तथापि वह क्रमबद्ध है।

ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करने से शुक्लध्यान होता है, तथापि वह क्रमबद्ध है।

ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करने से केवलज्ञान और मोक्षदशा होती है, तथापि वह भी क्रमबद्ध है।

इसप्रकार ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से ही निर्मल पर्याय का प्रवाह चलता है। जो ज्ञायकस्वभाव का आश्रय नही करता उसे क्रमबद्धपर्याय मे निर्मल प्रवाह प्रारम्भ नही होता, किन्तु मिथ्यात्व चालू ही रहता है। स्वसन्मुखपुरुषार्थ द्वारा ज्ञायकस्वभाव का आश्रय किये बिना किसीको भी निर्मलपर्याय का क्रम प्रारम्भ हो जाये—ऐसा नही होता।

(१७२) अकेले ज्ञायक पर ही जोर

देखो, इसमे जोर कहाँ आया ? अकेले ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन पर ही सारा जोर आया। कालप्रवाह की ओर देखकर बैठा रहना नही आया किन्तु ज्ञायक की ओर देखकर उसमे एकाग्र होना आया। ज्ञानी की दृष्टि का जोर निमित्त पर, राग पर या भेद पर नही है, किन्तु अक्रम ऐसे चैतन्यभाव पर ही उसकी दृष्टि का जोर है, और वही सच्चा पुरुषार्थ है। अन्तर मे अपने ज्ञायकस्वभाव को ही स्वज्ञेय बनाकर ज्ञान एकाग्र हुआ, वही सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र और मोक्ष का कारण है।

(१७३) तुझे ज्ञायक रहना है या पर को बदलना है ?

ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ

उसका फल वीतरागता है, और वही जैनशासन का सार है। जिन्हे ज्ञानस्वभाव की खबर नही है, सर्वज्ञ की श्रद्धा नही है,—ऐसे लोग इस "क्रमबद्धपर्याय" के सम्बन्ध मे ऐसी दलील करते हैं कि—"ईश्वर का कर्तृत्व माने वहाँ तो भक्ति आदि से ईश्वर को संतुष्ट करके उसमे फेरफार भी कराया जा सकता है, किन्तु यह क्रमबद्धपर्याय का सिद्धांत तो इतना कठिन है कि ईश्वर भी इसमे फेरफार नही कर सकता!"—अरे भाई! तुझे अपने मे ज्ञायकरूप से रहना है या किसी मे फेरफार करने जाना है? क्या पर मे कही फेरफार करके तुझे सर्वज्ञ का ज्ञान मिथ्या सिद्ध करना है। तुझे आत्मा के ज्ञानस्वभाव को मानना है या नही? ज्ञानस्वभावी आत्मा के पास से ज्ञाता–दृष्टापने के अतिरिक्त दूसरा कौनसा काम तुझे लेना है? ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करके ज्ञायकस्वभावरूप से परिणमित होने मे सम्पूर्ण मोक्षमार्ग का समावेश हो जाता है।

(१७४) ज्ञानी ज्ञाता ही रहते हैं, और उसमें पाँचों समवाय आजाते हैं

एक बार ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करे तो ज्ञातापना होजाये और पर के कर्तृत्व का अभिमान उड जाये, इसलिये पर के प्रति एकत्वबुद्धि के अनन्तानुबन्धी राग–द्वेष, हर्ष–शोक का तो भुक्का हो गया। राग का और पर का सग छोड़कर, अन्तर में ज्ञायकस्वभाव का संग करे उसे ज्ञेयो की क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हो जाता है इसलिये वह ज्ञाता ही रहता है, एकत्वबुद्धिपूर्वक के राग–द्वेष उसे कही होते ही नही। शिष्य की ज्ञानादि पर्याय उसके अपने से क्रमबद्ध होती है, मैं उसका क्या करूँ?—मैं तो ज्ञाता ही हूँ;—ऐसा जाना वहाँ ज्ञानी को उसके प्रति एकत्वबुद्धि से राग या द्वेष (–शिष्य होशियार हो तो राग, और उसे न आये तो द्वेष) होता ही नही, और इसप्रकार ज्ञानी को कही भी एकत्वबुद्धि से रागादि नही होते, उसके तो अपने ज्ञानस्वभाव मे एकत्वबुद्धि से निर्मल ज्ञानादिपरिणाम ही होते है।

ज्ञायकभाव का जो परिणमन हुआ वही उसका स्वकाल है,

वही उसका नियत है, वही उसका स्वभाव है, वही उसका पुरुषार्थ है, और उसमें कर्म का अभाव है। इसप्रकार ज्ञायकभाव के परिणमन में ज्ञानी के एक साथ पाँचों समवाय आ जाते हैं।

(१७५) यहाँ जीव को उसका ज्ञायकपना समझाते हैं

जीव क्रमबद्ध अपनी ज्ञानादि पर्यायरूप से उत्पन्न होता है, इसलिये उसे अपनी पर्याय के साथ कार्य–कारणपना है, किन्तु पर के साथ कारण–कार्यपना नही है। एक द्रव्य मे दूसरे द्रव्य के कारण–कार्य का अभाव है। इस द्रव्य मे अपनी क्रमबद्धपर्याय का कार्य–कारणपना प्रतिसमय हो रहा है, और उसी समय सामने जगत के अन्य द्रव्यो मे भी अपनी–अपनी पर्याय का कारण–कार्यपना बन ही रहा है, किन्तु सर्व द्रव्यो को अन्य द्रव्यों के साथ कारण–कार्यपने का अभाव है। ऐसी वस्तुस्थिति समझे तो, मैं कारण होकर पर का कुछ भी कर दूँ—ऐसा गर्व कहाँ रहता है ? यह समझे तो भेदज्ञान होकर ज्ञायक-स्वभावोन्मुखता हो जाये। जीव को अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर उन्मुख करने के लिये यह बात समझाते है। जिसकी दृष्टि अपने ज्ञायकस्वभाव पर नहीं है, प्रत्येक वस्तु क्रमबद्धपर्यायरूप से स्वयं ही उत्पन्न होती है—उसकी जिसे खबर नही है, और रागादि द्वारा पर की अवस्था मे फेरफार करना मानता है ऐसे जीव को समझाते है कि अरे जीव ! तेरा स्वरूप तो ज्ञान है; जगत के पदार्थों की जो क्रमबद्ध-अवस्था होती है उसका तू बदलनेवाला या करनेवाला नही है किन्तु जाननेवाला है, इसलिये अपने ज्ञातास्वभाव की प्रतीति कर और ज्ञातारूप से ही रह,—अर्थात् ज्ञानस्वभाव में ही एकाग्र हो, यही तेरा सच्चा कार्य है।

(१७६) जीव को अजीव के साथ कारण–कार्यपना नहीं है।

जगत के पदार्थो मे स्वाधीनरूप से जो क्रमबद्धअवस्था होती है वही उनकी व्यवस्था है, उस व्यवस्था को आत्मा नही बदल सकता। जीव अपने ज्ञानरूप से परिणमित होता हुआ, साथ में अजीव की

अवस्था को भी कर दे ऐसा नही होता। आत्मा और जड़ दोनों मे प्रतिसमय अपना–अपना नया–नया कार्य उत्पन्न होता है, और वे स्वयं उसमे तद्रूप होने से उसका कारण हैं, इसप्रकार प्रत्येक वस्तु को अपने मे समय-समय नया-नया कार्य–कारणपना बन ही रहा है, तथापि उन्हे एक–दूसरे के साथ कार्य–कारणपना नही है। जैसा ज्ञान हो वैसी भाषा निकलती हो अथवा जैसे शब्द हों वैसा ही ज्ञान होता हो तथापि ज्ञान को और शब्द को कारण–कार्यपना नही है। इच्छानुसार भाषा निकाले वहाँ अज्ञानी ऐसा मानता है कि मेरे कारण भाषा बोली गई; अथवा शब्दो के कारण मुझे वैसा ज्ञान हुआ–ऐसा वह मानता है; किन्तु दोनों के स्वाधीन परिणमन को वह नही जानता। प्रत्येक वस्तु प्रतिसमय नये–नये कारणकार्यरूप से परिणमित होती है और निमित्त भी नये-नये होते हैं, तथापि उनको परस्पर कार्य–कारणपना नही है, अपने कार्य–कारण अपने मे और निमित्तके कारण–कार्य निमित्तमे। भेदज्ञान से ऐसा वस्तुस्वरूप जाने तो ज्ञान का विषय सच्चा हो, इसलिये सम्यग्ज्ञान हो जाये।

(१७७) भूले हुओं को मार्ग बतलाते हैं, रोगी का रोग मिटाते हैं

ज्ञायकस्वभाव क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता है, उसके बदले क्रमबद्ध को एकान्त–नियत कहकर जो उसका निषेध करता है वह अपने ज्ञायकत्व का ही इन्कार करता है और केवलज्ञान को उड़ाता है। भाई! तू एकबार अपने ज्ञायकत्व का तो निर्णय कर .ज्ञायक का निर्णय करने से तुझे क्रमबद्ध की प्रतीति भी हो जायेगी, इसलिये अनादिकालीन विपरीत परिणमन छूटकर सीधा सम्यक् परिणमन प्रारम्भ हो जायेगा। इसप्रकार विपरीतमार्ग से छुडाकर स्वभाव के सीधे मार्ग पर चढाने की यह बात है। जिस प्रकार कोई लग्नमडप मे जाने के बदले स्मशान मे जा पहुँचे, उसीप्रकार अज्ञानी अपने ज्ञायकस्वभाव की लगन लगाकर उसमे एकाग्र होने के बदले, मार्ग भूलकर "मैं पर का करूँ"—ऐसी विपरीतदृष्टि से भवभ्रमण के मार्ग पर चढ़ गया है। यहाँ आचार्यदेव उसे ज्ञायकस्वभाव का अकर्तृत्व बतलाकर

सीधे मार्ग (मोक्षमार्ग) पर चढाते हैं। "मैं ज्ञायकस्वरूप हूँ"—ऐसी ज्ञायक की लगन छोडकर मूढ अज्ञानी जीव पर की कर्ताबुद्धि से, आत्मा की श्रद्धा जहाँ भस्म हो जाती है ऐसे मिथ्यात्वरूपी स्मशान मे जा पहुँचा है। आचार्यदेव उसे कहते है कि भाई ! तेरा ज्ञायकजीवन है, उसका विरोध करके बाह्यविषयो मे एकत्वबुद्धि के कारण तुझे आत्मा की श्रद्धा मे क्षयरोग लग गया है, यह तेरा क्षयरोग दूर करने की औषधि है; ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर क्रमबद्धपर्याय का निर्णय कर, तो तेरी कर्ताबुद्धि दूर हो जाये और क्षयरोग मिटे, अर्थात् मिथ्याश्रद्धा दूर होकर सम्यक्श्रद्धा हो। आजकल अनेक जीवों को यह निर्णय करना कठिन होता है, किन्तु यह तो खास आवश्यक है; यह निर्णय किये बिना भवभ्रमण का अनादिकालीन रोग दूर नही हो सकता। मेरा ज्ञायकस्वभाव पर का अकर्ता है, मैं अपने ज्ञायकपने के क्रम मे रहकर, क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हूँ—ऐसा निर्णय न करे उसे अनन्त संसारभ्रमण के कारणरूप मिथ्याश्रद्धा दूर नही होती।

(१७८) वस्तु का परिणमन व्यवस्थित होता है या अव्यवस्थित ?

भाई ! तू विचार तो कर कि वस्तु का परिणमन व्यवस्थित होता है या अव्यवस्थित ?

यदि अव्यवस्थित कहें तो ज्ञान ही सिद्ध नही हो सकता; अव्यवस्थित परिणमन हो तो केवलज्ञान तीनकाल का ज्ञान कैसे करेगा ? मन:पर्यय, अवधिज्ञान भी अपने भूत-भविष्य के विषयों को कैसे जानेंगे ? ज्योतिषी ज्योतिष काहे की देखेगा ? श्रुतज्ञान क्या निर्णय करेगा ? हजारों लाखो या असंख्य वर्षो के बाद भविष्य की चौवीसी मे यही चौवीस जीव तीर्थंकर होगे—यह सब किस प्रकार निश्चित् होगा ? सात वारों मे किस वार के बाद कौन-सा वार आयेगा, और अट्ठाईस नक्षत्रों में किस नक्षत्र के बाद कौन-सा नक्षत्र आयेगा—यह भी कैसे निश्चित् हो सकता है ? यदि अव्यवस्थित परिणमन हो तो यह कुछ भी पहले से निश्चित् नही हो सकता, इसलिये उसका ज्ञान ही

किसी को नही होगा। किन्तु ऐसा ज्ञान तो होता है, इसलिये वस्तु का परिणमन व्यवस्थित–क्रमवद्ध–नियमवद्ध ही है।

—और व्यवस्थितपरिणमन ही प्रत्येक वस्तु मे है, तो फिर –आत्मा उसमे फेरफार कर दे—यह बात भी नहीं रहती, मात्र ज्ञायकत्व ही रहता है। इसलिये तू अपने ज्ञायकपने का निर्णय कर और पर को वदलने की बुद्धि छोड—ऐसा उपदेश है। पर को अव्यवस्थित मानने से तेरा ज्ञान ही अव्यवस्थित हो जाता है, अर्थात् तुझे अपने ज्ञान की ही प्रतीति नही रहती। और जो ज्ञान की प्रतीति करे उसे पर को वदलने की बुद्धि नहीं रहती।

(१७६) ज्ञाता के परिणमन में मुक्ति का मार्ग

ऐसे अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करके, स्वसन्मुख ज्ञाता-भावरूप से क्रमवद्धपरिणमित होनेवाले जीव को पर के साथ (कर्म के साथ) कार्यकारणपना सिद्ध नही होता, वह कर्ता होकर अजीव का कार्य भी करे—ऐसा नही होता। इसप्रकार जीव अकर्ता है—ज्ञायक है—साक्षी है। ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर ऐसा ज्ञायकपने का जो परिणमन हुआ उसमे सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र आ जाते हैं, और वही मोक्ष का कारण है।

★

आश्विन शुक्ला ४, वीर सं. २४८०]

भाई ! यह बात समझकर तू स्वसन्मुख हो.. अपने ज्ञायकस्वभावसन्मुख हो !–इसके सिवा अन्य कोई हित का मार्ग नही है। छुटकारे का मार्ग तुझमें ही विद्यमान है, अन्तर के ज्ञायकस्वरूप को पकड़कर उसमें एकता करेगा तो छुटकारे का मार्ग तेरे हाथ में ही है, इसके सिवा बाह्य में लाखो उपाय करने से भी छुटकारा (मुक्ति का मार्ग) हाथ नही आ सकता।

(१८०) हे जीव ! तू ज्ञायकरूप ही रह !

आत्मा ज्ञायक है, जड़–चेतन के क्रमबद्धपरिणाम होते रहते है, वहाँ उनका ज्ञायक न रहकर पर में कर्तृत्व मानता है वह जीव अज्ञानी है। यहाँ आचार्यदेव समझाते है कि—तुझे पर के साथ कर्ताकर्मपना नही है; तू अजीव का कर्ता और अजीव तेरा कार्य—ऐसा नही है। जीव और अजीव क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं, जिस समय जो पर्याय होना है उस समय वही होगी, वह आगे–पीछे या कम–अधिक नही हो सकती, द्रव्य स्वयं अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, तो दूसरा उसमें क्या करे ? उसमे दूसरे की अपेक्षा क्या हो ? इसलिये हे जीव ! तू ज्ञायकरूप ही रह। तू ज्ञायक है, पर का अकर्ता है, तू अपने ज्ञातास्वभाव मे अभेद होकर निर्विकल्प प्रतीति कर। स्वसन्मुख होकर ज्ञाताभावरूप ही परिणमन कर; किन्तु मैं निमित्त होकर पर का काम कर दूँ—ऐसी दृष्टि छोड दे।

(१८१) भाई, तू ज्ञायक पर दृष्टि कर, निमित्त की दृष्टि छोड़ !

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि "निमित्त होकर हम दूसरे का कार्य कर दे"—यह भी विपरीतदृष्टि है। भाई, वस्तु की क्रमबद्धपर्याय जब स्वय उससे होती है तब सामने दूसरी वस्तु निमित्तरूप से होती है—इसका नाम निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध है; किन्तु अवस्था न होना हो और निमित्त आकर कर दे—ऐसा कोई निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध नही है। जड और चेतन समस्त द्रव्य स्वयं ही अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं, इसलिये निमित्त से कुछ होता है—यह बात ही उड़ जाती है। आत्मा अजीव का कर्ता नही है,—इसे समझने का फल तो यह है कि तू पर के ऊपर से दृष्टि उठाकर, अपने अभेद ज्ञायकआत्मा पर दृष्टि रख, स्वसन्मुख होकर आत्मा की निर्विकल्प प्रतीति कर। "मैं कर्ता नही हूँ किन्तु निमित्त बनकर पर का कार्य करूँ"–यह बात भी इसमें नही रहती, क्योकि ज्ञायकोन्मुख जीव पर की ओर नही देखता,—ज्ञायक की दृष्टि मे पर के साथ के निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध

का भी लक्ष छूट गया है, उसमे तो अकेले ज्ञायकभाव का ही परिणमन है। अज्ञानी तो निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध के बहाने कर्ता–कर्मपना मान लेते है, उसकी बात तो दूर रही, किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि एकबार पर के साथ के निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध को भी दृष्टि में से छोडकर अकेले ज्ञायकस्वभाव को ही दृष्टि मे ले, दृष्टि को अन्तरोन्मुख करके ज्ञायक मे एकाग्र कर तो सम्यग्दर्शन हो। ऐसी अन्तर की सूक्ष्म बात है, उसमे "निमित्त आये तो होता है और निमित्त न आये तो नही होता"—ऐसी स्थूल बात तो कही दूर रह गई!—उसे अभी निमित्त को ढूंढना है, किन्तु ज्ञायक को नही ढूंढना है, अन्तर मे ज्ञायकोन्मुख नही होना है। जिसे अपने ज्ञायकपने की प्रतीति नही है वह जीव निमित्त बनकर पर को बदलना चाहता है। भाई! परद्रव्य उनकी अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं और तू अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है;—फिर उसमे कोई किसी का निमित्त होकर उसके क्रम मे कुछ फेरफार कर दे—यह बात कहाँ रही! क्रमबद्धपर्याय से रहित ऐसा कौन-सा समय है कि दूसरा कोई आकर कुछ फेरफार करे? द्रव्य मे अपनी क्रमबद्धपर्याय से रहित कोई समय नही है। इसलिये ज्ञायकोन्मुख होकर तू ज्ञाता रह जा। ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करे तो सर्व विपरीत मान्यताओ का नाश हो जाये।

(१८२) क्रमबद्धपरिणमित होनेवाले द्रव्यों का अकार्य–कारणपना

प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक जड अपने–अपने क्रमबद्धपरिणाम-रूप से उत्पन्न होते हैं; इसप्रकार उत्पन्न होते हुए वे द्रव्य अपने परिणाम के साथ तद्रूप है, किन्तु अन्य के साथ उन्हे कारणकार्यपना नही है। इसलिये जीव कर्ता होकर अजीव का कार्य करे—ऐसा नही होता, इसलिये जीव अकर्ता है। प्रत्येक द्रव्य अपनी उस–उस समय की क्रमबद्धपर्याय के साथ अनन्य है; यदि दूसरा कोई आकर उसकी पर्याय मे हाथ डाले तो उसे पर के साथ अनन्यपना हो जाये, इसलिये भेदज्ञान न रह कर दो द्रव्यो की एकत्वबुद्धि हो जाये। भाई! क्रमबद्धपर्याय-रूप से द्रव्य स्वयं उत्पन्न होता है, तो दूसरा उसमे क्या करेगा?—

ऐसी समझ वह भेदज्ञान का कारण है। वस्तु-स्वभाव ही ऐसा है, उसमें दूसरा कुछ हो सके ऐसा नही है; दूसरे प्रकार से माने तो मिथ्याज्ञान होता है।

(१८३) भेदज्ञान के विना निमित्त–नैमित्तिकसम्बंध का ज्ञान नहीं होता।

देखो, यह इस शरीर की उँगली ऊँची–नीची होती है वह अजीवपरमाणुओ की क्रमवद्धपर्याय है, और उस पर्याय मे तन्मयरूप से अजीव उत्पन्न हुआ है, जीव उस पर्यायरूप से उत्पन्न नही हुआ है, इसलिये आत्मा ने उँगली की पर्याय मे कुछ किया—यह वात झूठ है। और इसप्रकार छहो द्रव्य अपने–अपने स्वभाव से ही अपनी क्रमवद्ध-पर्यायरूप से परिणमित होते हैं,—ऐसी स्वतंत्रता जानकर भेदज्ञान करे तभी, निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान होता है। दूसरी वस्तु आये तो कार्य होता है और न आये तो नही होता—ऐसा माने तो वहाँ निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध सिद्ध नही होता, किन्तु कर्ताकर्मपने की मिथ्यामान्यता हो जाती है। दूसरी वस्तु आये तो कार्य होता है—अर्थात् निमित्त से कार्य होता है—ऐसा माननेवाले हैं वह जीवद्रव्य के क्रमवद्धस्वतंत्रपरिणमन को न जाननेवाले, ज्ञानस्वभाव को न मानने-वाले, और पर मे कर्तृत्व माननेवाले मूढ हैं।

(१८४)—"किन्तु व्यवहार से तो कर्ता है न...!"

"व्यवहार से तो निमित्त कर्ता है न ?" ऐसा अज्ञानी कहते हैं; किन्तु भाई ! "व्यवहार से तो कर्तापना है"—ऐसा जोर देकर तू क्या सिद्ध करना चाहता है ? व्यवहार के नाम से तुझे अपनी एकता-बुद्धि ही दृढ करना है ? "किन्तु व्यवहार से कर्ता" यानी वास्तव में अकर्ता—ऐसा तू समझ। एक वस्तु को क्रमवद्धपर्याय के समय दूसरी वस्तु भी क्रमवद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होती हुई निमित्तरूप से भले हो, यहाँ जो पर्याय है, और उसी समय सामने जो निमित्त है, वे दोनो सुनिश्चित ही हैं।—ऐसा व्यवस्थितपना जो जानता है उसे "निमित्त

आये तो होता है, और न आये तो नही होता"—यह प्रश्न ही नही उठता।

(१८५) सम्यग्दर्शन की सूक्ष्म बात

दूसरे—यहाँ तो इससे भी सूक्ष्म बात यह है कि, ज्ञायक पर दृष्टि करने से निमित्त—नैमित्तिकसम्बन्ध की दृष्टि भी छूट जाती है। निमित्त—नैमित्तिकसम्बन्ध पर ही जिसकी दृष्टि है उसकी दृष्टि पर के ऊपर है, और जबतक पर के ऊपर दृष्टि है तबतक निर्विकल्पप्रतीतिरूप सम्यक्त्व नही होता। अकेले ज्ञायकस्वभाव को दृष्टि मे लेकर एकाग्र हो तभी सम्यग्दर्शन होता है और निर्विकल्प आनन्द का वेदन होता है।—ऐसी दशा बिना धर्म का प्रारम्भ नही होता।

(१८६) जिसे आत्महित करना है उसे बदलना ही पड़ेगा!

अहो, आत्मा के हित की ऐसी श्रेष्ठ बात!! ऐसी बात को एकान्तवाद कहना या गृहीतमिथ्यादृष्टि के नियतवाद के साथ इसकी तुलना करना वह तो जैनशासन का ही विरोध करने जैसा महान गजब है! "स्याद्वाद नही है, एकान्त है, नियत है, छूत की बीमारी है"—इत्यादि कहकर विरोध करनेवाले सभीको बदलना पडेगा, यह बात तीनकाल मे नही बदल सकती। इससे विरुद्ध कहनेवाले भले ही चाहे जैसे महान त्यागी या विद्वान माने जाते हो तथापि उन सबको बदलना पडेगा—अगर उन्हे आत्मा का हित करना है तो।

(१८७) गम्भीर रहस्य का दोहन

आचार्यभगवान ने इन चार गाथाओं मे (३०८ से ३११ मे) पदार्थस्वभाव का अलौकिक नियम रख दिया है, और श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने टीका भी ऐसी ही अद्भुत की है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने सक्षेप मे द्रव्यानुयोग को गभीरतापूर्वक समा दिया है, और अमृतचन्द्राचार्यदेव ने टीका मे उसका रहस्य खोल दिया है। जिसप्रकार भैंस के पेट मे जो दूध भरा हो वही दुहने से बाहर आता है, उसीप्रकार सूत्र

में और टीका मे जो रहस्य भरा है उसीका यह दोहन हो रहा है, जो मूल में है उसीका यह विस्तार है।

(१८८) संपूर्ण द्रव्य को साथ ही साथ रखकर अपूर्व बात !

जीव अपने क्रमबद्ध परिणामों से उत्पन्न होता है, तथापि अजीव के साथ उसे कारण–कार्यपना नही है। यहाँ तो आचार्यदेव कहते हैं कि "दवियं जं उप्पज्जइ" . अर्थात् प्रतिसमय अपने नये–नये परिणामरूप से द्रव्य ही स्वयं उत्पन्न होता है। पहले समय मे कारण-कार्यरूप से जो द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव हैं, वे चारों दूसरे समय में कुलाँट मारकर दूसरे समय के कारण–कार्यरूप से परिणमित हो जाते है; अकेले परिणाम ही पलटते है और द्रव्य नही पलटता—ऐसा नही है; क्योकि परिणामरूप से द्रव्य स्वयं ही उत्पन्न होता है। चक्की के दो पाटों की भाँति द्रव्य और पर्याय मे भिन्नत्व नही है; इसलिये जिस प्रकार चक्की मे ऊपर का पाट घूमता है और नीचे का बिलकुल स्थिर रहता है—ऐसा नही है। पर्यायरूप से कौन परिणमित हुआ ? तो कहते है वस्तु स्वयं। आत्मा और उसके अनन्तगुण, प्रतिसमय नई–नई पर्यायरूप से उत्पन्न होते है, उस पर्याय में वे तद्रूप हैं। इसलिये पर्याय अपेक्षा से देखने पर द्रव्य–क्षेत्र-काल और भाव—चारों दूसरे समय पलट गये है। द्रव्य और गुणों की अपेक्षा से सदृशता ही है, तथापि पहले समय के जो द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव हैं वे पहले समय की उस पर्यायरूप से उत्पन्न (परिणमित) हुए हैं, और दूसरे समय में वे द्रव्य–क्षेत्र–भाव तीनो पलटकर दूसरे समय की उस पर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार क्रमबद्धपर्यायरूप से द्रव्य स्वयं ही परिणमित होता है। दूसरे समय की पर्याय "ज्यों की त्यों" भले हो, किन्तु द्रव्य की पहले समय जो तद्रूपता थी वह बदलकर दूसरे समय में दूसरी पर्याय के साथ तद्रूपता हुई है। अहो, पर्याय–पर्याय में सारे द्रव्य को साथ ही साथ लक्ष में रखा है। द्रव्य का यह स्वरूप समझे तो पर्याय–पर्याय मे द्रव्य का

अवलम्बन वर्तता ही रहे इसलिये द्रव्य की दृष्टि में निर्मल–निर्मल पर्यायो की धारा बहती रहे. .ऐसी अपूर्व यह बात है ।

(१८९) मुक्ति का मार्ग

पर्यायरूप से उत्पन्न कौन हुआ ? कहते हैं द्रव्य ! इसलिये अपने को अपने ज्ञायकद्रव्य के सन्मुख ही देखना रहता है, दूसरा आकर इसका कुछ कर दे, अथवा यह किसी दूसरे का कुछ करने जाये यह बात कहाँ रहती है ? भाई ! यह बात समझकर तू स्वसन्मुख हो.. अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर देख ।—इसके सिवा अन्य कोई हित का मार्ग नही है । छुटकारे का मार्ग तुझी मे विद्यमान है, अतर के ज्ञायकस्वरूप को पकडकर उसमे एकता कर तो छुटकारे का मार्ग तेरे हाथ मे ही है, इसके सिवा बाह्य मे लाखो प्रयत्न करने से भी छुटकारा (मुक्ति का मार्ग) हाथ नही आ सकता ।

(१९०) "ज्ञायक" ही ज्ञेयों का ज्ञाता है

अपने क्रमबद्धपरिणामों मे तद्रूप वर्तता हुआ द्रव्य प्रवाहक्रम मे दौडता ही जाता है; आयतसामान्य अर्थात् दौडता-प्रवाह-उसमे तद्रूपता से द्रव्य उत्पन्न होता है । द्रव्य के प्रदेश सब एकसाथ (विस्तार सामान्य-समुदायरूप से) विद्यमान हैं, और पर्यायें एक के बाद एक क्रमबद्ध-प्रवाहरूप से वर्तती हैं। द्रव्य के क्रमबद्धपरिणमन की धारा को रोकने, तोड़ने या बदलने मे कोई समर्थ नही है । मैं ज्ञायक, जगत के द्रव्य–गुण–पर्यायों को—जिस प्रकार वे सत् हैं उसी प्रकार–जानने-वाला हूँ,—इस प्रकार अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करने की यह बात है। जो ज्ञायक का निर्णय करे वही ज्ञेयो को यथार्थरूप से जानता है ।

(१९१) यह है, ज्ञायकस्वभाव का अकर्तृत्व

द्रव्य–क्षेत्र और भाव, पहले समय की उस पर्याय मे तद्रूप हैं, वह पर्याय बदलकर दूसरी हुई, तब दूसरे समय की उस पर्याय में तद्रूप है ।—इस प्रकार वस्तु के द्रव्य–क्षेत्र–काल और भाव चारो

प्रतिसमय पलटकर नई-नई अवस्थारूप से उत्पन्न होते हैं, इसलिये उसी पर्याय के साथ उन्हें कारण-कार्यपना है, किन्तु दूसरी के साथ कारणकार्यपना नही है। देखो, यह ज्ञायकस्वभाव का अकर्तृत्व !

(१) ज्ञायकभाव पर से तो भिन्न,

(२) रागादि के भावों से भी भिन्न,

(३) एक पर्याय, आगे-पीछे की दूसरी अनंत पर्यायो से भिन्न,

(४) एक गुण दूसरे अनन्त गुणों से भिन्न, और

(५) द्रव्य-गुण की पहले समय में जिस पर्याय के साथ तद्रूपता थी वह तद्रूपता दूसरे समय नही रही, किन्तु दूसरे समय दूसरी पर्याय के साथ तद्रूपता हुई है।

—देखो यह सत्य के श्रद्धान होने की रीति ! यह बात लक्ष मे लेने से सम्पूर्ण ज्ञायक द्रव्य-दृष्टि के समक्ष आ जाता है।

(१९२) "जीवंत वस्तुव्यवस्था और ज्ञायक का जीवन"—उसे जो नहीं जानता वह मूढ़ "मरे हुए को जीवित, और जीवित को मरा हुआ मानता है।"

जिस प्रकार कोई अज्ञानी प्राणी मुर्दे को जीवित मानकर उसे जिलाना चाहे—खिलाना-पिलाना चाहे, तो कही मुर्दा जीवित नही हो सकता और उसका दुःख दूर नहीं हो सकता; (यहाँ रामचंद्रजी का उदाहरण नही देते, क्योकि रामचन्द्रजी तो ज्ञानी सम्यक्त्वी थे) किन्तु मुर्दे को मुर्दारूप से जाने तो उसकी भ्रमणा का दुःख दूर हो। उसी प्रकार परवस्तु के साथ कर्ता-कर्मपने का अत्यन्त अभाव ही है, (मुर्दे की भाँति), तथापि जो वैसा मानता है कि—पर का भी करता हूँ; वह अभाव को अभावरूप न मानकर, पर का अपने में सद्भाव मानता है; उस विपरीत मान्यता से वह दुःखी ही है।

अथवा, जिस प्रकार कोई जीवित को मरा हुआ माने तो वह

मूढ है; उसी प्रकार आत्मा ज्ञायकस्वभाव से जीवित है, ज्ञायकपना ही उसका जीवन है; उसके बदले जो उसे पर का कर्ता मानता है वह ज्ञायकजीवन का घात करता है, इसलिये वह महान हिंसक है। और, परवस्तु भी जीवित (स्वय परिणमित) है, उसके बदले मैं उसे परिणमित करता हूँ—ऐसा जिसने माना उसने परवस्तु को जीवित नही माना, किन्तु मरा हुआ अर्थात् परिणमनरहित माना है। स्वतत्र परिणमित वस्तु का जो पर के साथ कर्ता-कर्मपना मानता है वह जीवंत वस्तुव्यवस्था को नही जानता। समयसार गाथा ३५६ से ३६५ की टीका में भी कहा है कि-"जिसका जो हो वह वही होता है, जैसेकि—ज्ञान आत्मा का होने से ज्ञान आत्मा ही है"-ऐसा तात्त्विकसम्बन्ध जीवत है।" देखो, यह जीवंत सम्बन्ध !! आत्मा का अपने ज्ञानादि के साथ एकता का सम्बन्ध जीवत है, किन्तु पर के साथ कर्ताकर्मपने का सम्बन्ध किंचित् भी जीवत नही है। यदि परद्रव्य आत्मा का कार्य हो अर्थात् आत्मा पर का कार्य करे, तो वह परद्रव्य आत्मा ही हो जाये, क्योकि जो जिसका कार्य हो वह उससे पृथक् नही होता। किन्तु ज्ञायकआत्मा का पर के साथ ऐसा कोई सम्बन्ध नही है। तथापि जो पर के साथ कर्ताकर्म का सम्बन्ध मानता है वह ज्ञायकजीवन का घात कर देता है और मुर्दे को जीवित करना चाहता है, वह मूढ-मिथ्यादृष्टि है। सभी द्रव्य स्वय परिणमित होकर अपनी क्रमसर पर्यायो मे तद्रूपतापूर्वक वर्तते हैं—ऐसी जीवत वस्तुव्यवस्था है, उसके बदले दूसरे के द्वारा उसमे कुछ फेरफार होना माने, तो उससे कही वस्तुव्यवस्था तो नही बदल जायेगी किन्तु वैसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि होगा।

चारो ओर से एक ही धारा की बात है, किन्तु जो पात्र होकर समझना चाहे उसीकी समझ मे आती है। द्रव्य के क्रमबद्ध-प्रवाह को कोई दूसरा बीच मे आकर बदल दे-ऐसा जीवन्त वस्तु में नही है, इसलिये स्वभावसन्मुख होकर ज्ञायकभावरूप परिणमित हुआ, उसे ज्ञायकभाव की परिणमनधारा मे बीच मे राग का कर्तृत्व आ

जाये—ऐसा ज्ञायक के जीवन में नही है; तथापि ज्ञायक को राग का कर्ता माने तो वह जीवंतवस्तु को नही जानता—ज्ञायक के जीवन को नही जानता।

ज्ञायकजीव को अपने निर्मलज्ञानपरिणाम का कर्तापना हो—ऐसा सम्बन्ध जीवित है, किन्तु ज्ञायकजीव को अजीव का कर्तृत्व हो—ऐसा सम्बन्ध जीवित नही है। ज्ञानी को ज्ञायकभाव के साथ का सम्बन्ध जीवित है और मोह के साथ का सम्बन्ध मर गया है;—ऐसा है ज्ञाता का जीवन !

(१९३) कर्ताकर्मपना अन्य से निरपेक्ष है, इसलिये जीव अकर्ता है, ज्ञायक है।

आचार्यदेव कहते हैं कि जीव कर्ता और अजीव उसका कर्म—ऐसा किसी प्रकार सिद्ध नही होता, क्योकि कर्ता–कर्म की अन्य से निरपेक्षतया सिद्धि है; एक वस्तु के कर्ता–कर्म मे बीच मे दूसरे की अपेक्षा नही है। क्रमबद्धअवस्थारूप से उत्पन्न होनेवाला द्रव्य ही कर्ता होकर अपने पर्यायरूप कर्म को करता है, वहाँ "यह हो तो ऐसा हो"—इस प्रकार अन्य द्रव्य की अपेक्षा नही है। पर की अपेक्षा के विना अकेले स्वद्रव्य मे ही कर्ताकर्म को सिद्धि हो जातो है। यह निश्चय है,—ऐसी निश्चय वस्तुस्थिति का ज्ञान हो गया, तब दूसरे निमित्त को जानना वह व्यवहार है। वहाँ भी, इस वस्तु का कार्य तो उस निमित्त से निरपेक्ष ही है—निमित्त के कारण इस कार्य मे कुछ हुआ—ऐसा नही है। व्यवहार से निमित्त को कर्ता कहा जाता है, किन्तु उसका अर्थ यह नही है कि उसने कार्य मे कुछ भी कर दिया ! "व्यवहार—कर्ता" का अर्थ ही "वास्तव में अकर्ता" है। कर्ता–कर्म अन्य से निरपेक्ष हैं, इसलिये निमित्त से भी निरपेक्ष है, अन्य किसी की अपेक्षा बिना ही पदार्थ को अपनी पर्याय के साथ कर्ता-कर्मपना है। प्रत्येक द्रव्य के छहों कारक (कर्ता–कर्म–करणादि) अन्य द्रव्यों से निरपेक्ष है, और अपने स्वद्रव्य मे ही उनकी सिद्धि होती है।

कर्ता–कर्म–करण–संप्रदान–अपादान और अधिकरण,—यह छहों कारक जीव के जीव मे हैं और अजीव के अजीव में हैं।—ऐसा होने से जीव को अजीव का कर्तापना किसी प्रकार सिद्ध नही होता, किन्तु जीव अकर्ता ही है—ज्ञायक ही है—ऐसा बराबर सिद्ध होता है। इस प्रकार आचार्यदेव ने जीव का अकर्तृत्व सिद्ध किया है।

(१९४) यह "क्रमबद्धपर्याय के पारायण का सप्ताह" आज पूरा होता है...

(१९५) यह समझ ले उसे क्या करना चाहिये?–सारे उपदेश का निचोड़!

प्रश्नः—लेकिन यह बात समझने के बाद क्या?

उत्तरः—भीतर ज्ञायक मे स्थिर होना इसके सिवा और क्या करना है? क्या तुझे बाह्य मे उछल–कूद करना है? या पर का कुछ कर देना है? यह ज्ञायकस्वरूप समझने से स्वय ज्ञायकसन्मुख होकर ज्ञातारूप से रहा, और राग के कर्तारूप नही हुआ—यही इस समझ का फल है। "मैं ज्ञायक हूँ" ऐसा समझा, वहाँ ज्ञायक क्या करेगा? ज्ञायक तो ज्ञाता दृष्टापने का ही कार्य करता है। ज्ञायक को पर का या राग का काम करने का जो मानता है वह ज्ञायक-स्वभाव को समझा ही नही है और न क्रमबद्धपर्याय को समझा है। भाई! ज्ञायकस्वभावोन्मुख होकर उसमे एकाग्र होने से सम्यग्दर्शन से लेकर केवलज्ञान तक की क्रमबद्धपर्याय विकसित होती जाती है,—और यही सभी उपदेश का निचोड़ है। सर्वविशुद्धज्ञान–अधिकार की इन चार गाथाओ मे आचार्यदेव ने सारा निचोड भर दिया है। "सर्वविशुद्धज्ञान" अर्थात् ज्ञायकमात्र शुद्ध आत्मा! उसकी प्रतीति कर, और क्रमबद्धपर्याय को यथावत् जान।

(१९६) ज्ञायकभगवान जागृत हुआ...वह क्या करता है?

इस ज्ञायक की प्रतीति की वहाँ उस ज्ञायकभूमि मे ही पर्याय

उछलती है,—ज्ञायक का ही आश्रय करके निर्मलरूप से उत्पन्न होती है, किन्तु रागादि का आश्रय करके उत्पन्न नहीं होती। ज्ञायकस्वभाव की सन्मुखता हुई वहाँ पर्याय उछलती है—अर्थात् निर्मल-निर्मलरूप से बढती ही जाती है। अथवा—द्रव्य उछलकर अपनी निर्मल क्रमबद्धपर्याय में कूदता है,—उस पर्यायरूप से स्वयं उत्पन्न होता है, किन्तु कही बाह्य मे नही कूदता। पहले ज्ञायक के भान बिना मिथ्यात्वदशा में सोता था, उसके बदले अब स्वभावसन्मुख होकर ज्ञायकभगवान जागृत हुआ वहाँ वह अपनी निर्मल पर्याय मे उछलने लगा; अब बढती हुई निर्मलपर्याय मे कूदते-कूदते वह केवलज्ञान प्राप्त करेगा।

(१९७) "क्रमबद्ध" के ज्ञाता को मिथ्यात्व का क्रम नहीं होता

प्रश्नः—क्रमबद्धपर्याय तो अज्ञानी को भी है न ?

उत्तरः—भाई, इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप जो समझे उसे अपने में अज्ञान रहता ही नही। वह ऐसा जानता है कि ज्ञानी को, अज्ञानी को या जड़ को,—सभी को क्रमबद्धपर्याय है, किन्तु उसमेः—

—ज्ञानी को अपने ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से निर्मल-निर्मल क्रमबद्धपर्याय होती है,

—अज्ञानी को विपरीतदृष्टि मे मलिन क्रमबद्धपर्याय होती है, और

—जड़ की क्रमबद्धपर्याय जड़रूप होती है।

—ऐसा जाननेवाले ज्ञानी को अपनेमे तो मिथ्यात्वादि मलिन पर्याय का क्रम रहता ही नही है, क्योंकि उसका पुरुषार्थ तो अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर ढल गया है, इसलिये उसे तो सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों का क्रम प्रारम्भ हो गया है। यदि ऐसी दशा न हो तो वह वास्तव में क्रमबद्धपर्याय का रहस्य नही समझा है—मात्र बाते करता है।

(१९८) "चैतन्यचमत्कारी हीरा"

यहाँ आचार्यभगवान ने जीव को उसका ज्ञायकपना समझाया है—भाई ! तेरा आत्मा ज्ञायक है .."चैतन्यचमत्कारी हीरा" है; तेरा आत्मा प्रतिसमय ज्ञाता-दृष्टापने की क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होकर जाने—ऐसा ही तेरा स्वभाव है। किन्ही पर पदार्थों की अवस्था को बदलने का स्वभाव नही है; इसलिये पर की कर्ताबुद्धि छोड और अपने ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर ज्ञायकरूप ही रह।

(१९९) चैतन्यराजा को ज्ञायकभाव की राजगद्दी पर बिठाकर सम्यक्त्व का तिलक होता है वहाँ विरोध करके पर को बदलना चाहता है, उसके दिन फिरे हैं !

अहो, ऐसी परम सत्य बात समझाकर आचार्यदेव आत्मा को उसके ज्ञायकस्वभाव की राजगद्दी पर बिठाते हैं आत्मा मे सम्यक्त्व का तिलक करते है किन्तु विपरीतदृष्टिवाले मूढ जीव ऐसी सत्य बात का विरोध करते है, उन्हे ज्ञायकरूप से नही रहना है किन्तु पर के कर्तृत्व का अभिमान करके अभी संसार मे भटकना है। राजा नवघण को एकबार एक सुन्दर चारण युवती तिलक करने आई। उस समय उस सुन्दरी का रूप देखकर राजा की दृष्टि बिगडी; इसलिये जब वह युवती तिलक करने लगी कि राजा ने अपना मुँह दूसरी दिशा मे फेर लिया। युवती दूसरी दिशा मे गई तो राजा ने तीसरी दिशा में मुँह कर लिया। अन्त में उस युवती ने अपनी सासू से कहा कि—सासूजी, "राय फिरते हैं।" उसकी सास राजा का हृदय समझ गई, इसलिये उसने उत्तर दिया कि—"बेटा ! राय नही फिरते. .राय के दिन फिरते हैं।"

उसी प्रकार यहाँ श्री गुरु जीव को उसके ज्ञायकस्वभाव के सिंहासन पर बिठाकर, तीनलोक के ज्ञानसाम्राज्य का राजतिलक करते हैं "अरे जीव ! अन्तर मे ज्ञायकभगवान की प्रतीति करके राजस्थान मे बैठने का (उत्कृष्ट स्वभाव मे एकाग्र होने का) अवसर आया है,

सम्यग्दर्शनरूपी राजतिलक करनेका सुअवसर आया है ..अरे चैतन्यराजा ! बैठ अपने ज्ञायकस्वभाव की गद्दी पर.. यह तुझे राजतिलक होता है।"

वहाँ जिन्हें विकार की रुचि है—ऐसे विपरीत दृष्टिवाले मूढ जीव (राय नवघण की भाँति मुँह फेरकर) कहते हैं कि—अरे ! ऐसा नही.. ऐसा नही हम तो पर को बदल देंगे .." यानी उन्हे ज्ञायकरूप से नही रहना है किन्तु विकारीदृष्टि रखकर पर को बदलना है। किन्तु अरे मूढ़ जीवो ! तुम किसीकी पर्याय नही बदल सकते, तुम ज्ञायकसन्मुख नही होते और पर की ओर मुंह फेरते हो इसलिये तुम्हारे दिन फिरे है—तुम्हारी दृष्टि विपरीत हुई है। ज्ञायकस्वभाव की राजगद्दी पर बैठकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी तिलक करने का अवसर आया, उस समय ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति करके स्वसन्मुख होने के बदले अज्ञानी जीव उसे विपरीत मानते है और "एकान्त है, रे ! एकान्त है " ऐसा कहकर विरोध करते हैं। अरे ! उनके दिन फिरे हैं, ज्ञायकोन्मुख होकर निर्मल स्वकाल होना चाहिये उसके बदले वे मिथ्यात्व का पोषण करते हैं इसलिये उनके दिन फिरे है।

(२००) "केवली के नन्दन" बतलाते हैं—केवलज्ञान का पंथ

भगवान ! तेरा आत्मा तो ज्ञायकस्वरूप हैं; वह ज्ञायक रागादि भावो का अकर्ता है। ज्ञायकोन्मुख होने से जो ज्ञानभाव प्रगट हुआ तथा अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन प्रगट हुआ उसका कर्ता-भोक्ता आत्मा है, किन्तु रागादि का या कर्म का कर्ता-भोक्तापना उसमें नही है। ऐसे चैतन्यमूर्ति ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करके ज्ञाताद्दष्टारूप रहना और उसमें स्थिर होना—यही करना है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से ज्ञाता होकर अपने मे स्थिर हुआ वहाँ जीव रागादि का अकर्ता ही है और कर्म का भी अकर्ता है वह कर्मबन्धन का निमित्तकर्ता भी नही है इसलिये उसे बन्धन होता ही नही,—अब ज्ञायकस्वभावसन्मुख रहकर ज्ञाता-दृष्टापने के निर्मल-निर्मल परिणामोंरूप परिणमित होने से उसके रागादि सर्वथा दूर हो जायेंगे और केवलज्ञान प्रगट हो जायेगा।—यही केवलज्ञान का पंथ है।

जय हो

ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख ले जाकर 'सर्वज्ञशक्ति' की....और 'क्रमबद्धपर्याय' की प्रतीति करानेवाले केवलीप्रभु के लघुनन्दन श्री कहानगुरुदेव की

जय हो

ज्ञायकमूर्ति की जय हो....

आत्मा ज्ञायक है

क्रमबद्धपर्याय का विस्तार से स्पष्टीकरण

—और—

अनेकप्रकार की विपरीत कल्पनाओं का निराकरण

भाग दूसरा

[समयसार गाथा ३०८ से ३११ तथा उसकी टीका पर पूज्य गुरुदेव के **प्रवचन**]

आत्मा के अतीन्द्रिय सुख का स्पर्श करके बाहर निकलनेवाली, भेदज्ञान की झनझनाहट करती हुई और मुमुक्षुओ के हृदय को हिलाती हुई पूज्य गुरुदेव की पावनकारी वाणी में, "ज्ञायकसन्मुख ले जानेवाले क्रमबद्धपर्याय के प्रवचनो" की जो अद्भुत अमृतधारा एक सप्ताह तक प्रवाहित हुई थी वह प्रथम भाग में प्रकाशित कर चुके हैं। तत्पश्चात् मुमुक्षुओ के विशेष सद्भाग्य से दूसरी बार आश्विन शुक्ला सप्तमी से एकादशी तक ऐसी ही अमृतधारा पाँच दिन तक पुनः प्रवाहित हुई। नित्य नवीनता को धारण करती हुई वह अमृतधारा यहाँ दी जाती है।

"मै ज्ञाता हूँ—इसप्रकार ज्ञानसन्मुख होकर परिणमन न करके, रागादि का कर्ता होकर परिणमित होता है वह जीव क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता नही है। क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता तो ज्ञायकसन्मुख रहकर रागादि को भी जानता ही है। उसे स्वभावसन्मुख परिणमन मे शुद्धपर्याय ही होती जाती है।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, उसे लक्ष मे लेकर तू विचार कर कि—इस ओर मैं ज्ञायक हूँ, मेरा सर्वज्ञस्वभाव है,—तो सामने ज्ञेयवस्तु की पर्याय क्रमबद्ध ही होगी या अक्रमबद्ध? अपने ज्ञानस्वभाव को सामने रखकर विचार करे तो यह क्रमबद्धपर्याय की बात एकदम जम जाये ऐसी है; किन्तु ज्ञायकस्वभाव को भूलकर विचार करे तो एक भी वस्तु का निर्णय नहीं हो सकता।"

प्रवचन पहला

[आश्विन शुक्ला ७, वीर सं० २४८०]

(१) अलौकिक अधिकार की पुनः वचनिका

यह अलौकिक अचिंत्य अधिकार है, इसलिये पुनः वचनिका होती है। यह मोक्षअधिकार की चूलिका है। समयसार मे नवतत्त्वो का वर्णन करने के पश्चात् आचार्यदेव ने यह "सर्वविशुद्धज्ञान" का वर्णन किया है। "सर्वविशुद्धज्ञान" अर्थात् आत्मा का ज्ञायकस्वभाव, उस स्वभाव में ढलकर अभेद हुआ ज्ञान रागादि का भी अकर्ता ही है।

यहाँ सिद्ध करना है जीव का अकर्तृत्व! किन्तु उसमे क्रमबद्धपर्याय की बात करके आचार्यदेव ने अलौकिक रीति से अकर्तृत्व सिद्ध किया है।

(२) ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि कराने का प्रयोजन है

"प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है।" एकसाथ ज्ञान, आनन्द, श्रद्धादि अनन्त गुणो की क्रमबद्धपर्यायरूप से जीव द्रव्य उत्पन्न होता है। "जीव" किसे कहा जाये उसका वर्णन पहले (गाथा २, आदि मे) करते आये हैं। वहाँ कहा था कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी अपनी निर्मल पर्याय मे स्थित होकर जो उत्पन्न होता है वही वास्तव मे जीव है, जो रागादि भावो मे स्थित है वह वास्तव मे जीव नही है। जीव ज्ञायकस्वभाव है, वह ज्ञायकस्वभाव वास्तव मे रागरूप से उत्पन्न नही होता—इसलिये ज्ञायकसन्मुख हुआ जीव राग का कर्ता नही होता, ज्ञायक की दृष्टि मे उसे राग की अधिकता नही होती, इसलिये वह रागादि का अकर्ता ही है। ऐसा ज्ञायकस्वभाव का अकर्तृत्व बतलाकर यहाँ उस ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि कराने का प्रयोजन है।

(३) ज्ञायकस्वभावी जीव राग का भी अकर्ता है

आत्मा ज्ञायक है; अनादि से उसके ज्ञायकभाव का स्व-पर-प्रकाशक स्वभाव है; ज्ञान तो स्व-पर को जानने का ही काम करता है; किन्तु ऐसे ज्ञायकभाव की प्रतीति न करके अज्ञानी जीव राग के कर्तारूप से परिणमित होता है अर्थात् मिथ्यात्वरूप से उत्पन्न होता है। यहाँ आचार्यदेव उस अज्ञानी को उसका ज्ञायकस्वभाव समझाते हैं—आत्मा तो स्व-परप्रकाशक ज्ञायकस्वभावी है, उसका ज्ञायकभाव उत्पन्न होकर राग को उत्पन्न करे या मिथ्यात्वादि कर्मो के बन्ध मे निमित्त हो—ऐसा नही है; और उन कर्मों को निमित्त बनाकर उनके आश्रय से स्वयं विकाररूप उत्पन्न हो—ऐसा भी उसका स्वभाव नही है; किन्तु ज्ञायक के अवलम्बन से क्रमबद्ध ज्ञायकभावरूप ही उत्पन्न हो –ऐसा आत्मा का स्वभाव है। स्वयं निमित्तरूप होकर दूसरे को न उत्पन्न करता हुआ, तथा दूसरे के निमित्त से स्वयं न उत्पन्न होता हुआ ऐसा ज्ञायकस्वभाव वह जीव है। स्वसन्मुख रहकर स्वयं स्व-परप्रकाशक ज्ञानरूप क्रमबद्ध उत्पन्न होता हुआ राग को भी ज्ञेय बनाता है। अज्ञानी राग को ज्ञेय न बनाकर, उस राग के साथ ही ज्ञान की एकता मानकर मिथ्यादृष्टि होता है, और ज्ञानी तो ज्ञानस्वभाव मे ही ज्ञान की एकता रखकर राग को पृथक्‌रूप से ज्ञेय बनाता है, इसलिये ज्ञानी तो ज्ञायक ही है, वह राग का भी कर्ता नही है।

(४) ज्ञानी की बात, अज्ञानी को समझाते हैं

—यह बात किसे समझाते हैं ?

यह बात है ज्ञानी की, किन्तु समझाते है अज्ञानी को। अन्तर में जिसे ज्ञानस्वभाव और राग की भिन्नता का भान नही है ऐसे अज्ञानी को समझाते है कि—तू ज्ञायक है, ज्ञायकभाव स्व-पर का प्रकाशक है किन्तु रागादि का उत्पादक नही है। भाई! ज्ञायकभाव कर्ता होकर ज्ञान को उत्पन्न करेगा या राग को ? ज्ञायकभाव तो ज्ञान

को ही उत्पन्न करता है। इसलिये, ज्ञायकभाव राग का कर्ता नहीं है—ऐसा तू समझ और ज्ञायकसन्मुख हो।

(५) किस दृष्टि से क्रमबद्धपर्याय का निर्णय होता है?

यहाँ क्रमबद्धपर्याय बतलाकर ज्ञायकस्वभाव पर जोर देना है, क्रमबद्ध के वर्णन में ज्ञायक की ही मुख्यता है, रागादि की मुख्यता नही है। जीव अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, उसमे ज्ञान, श्रद्धा आदि समस्त गुणो का परिणमन साथ ही है। उस परिणामरूप से कौन उत्पन्न होता है?—जीव उत्पन्न होता है। वह जीव कैसा?—ज्ञायकस्वभावी। ऐसा निर्णय करनेवाला अपने ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से ज्ञानभावरूप ही (श्रद्धा, ज्ञान, आनन्दादि गुणों के निर्मल अंशरूप ही) उत्पन्न होता है; रागरूप उत्पन्न नही होता। श्रद्धा, ज्ञान, आनन्दादि की क्रमबद्धपर्यायरूप से "राग" उत्पन्न नही होता किन्तु ज्ञायकस्वभावी "जीव" उत्पन्न होता है। इसलिये ज्ञायकस्वभाव पर जिसकी दृष्टि है उसीको क्रमबद्धपर्याय का सच्चा निर्णय है, और उसकी क्रमबद्धपर्यायें निर्मल होती जाती हैं।

(६) "स्वसमय" अर्थात् रागादि का अकर्ता

समयसार की पहली गाथा "वंदित्तु सव्व सिद्धे ." में सर्व सिद्धभगवन्तो को नमस्कार करके, दूसरी गाथा मे जीव के स्वरूप का वर्णन करते हुए आचार्यदेव ने कहा है कि—

"जीवो चरित्तदसणणाणट्ठिउ तं हि ससमय जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च त जाण परसमयं॥"

अर्थात् स्वसन्मुख होकर अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल पर्याय मे जो आत्मा स्थित है उसे स्वसमय जान। वह तो जीवका स्वरूप है, किन्तु निमित्तमे और रागमे एकत्वबुद्धि करके उसीमे जो स्थित है वह परसमय है, वह वास्तव मे जीव का स्वरूप नहीं है। वहाँ जिसे "स्वसमय" कहा उसीको यहाँ "अकर्ता" कहकर वर्णन किया है। ज्ञायकस्वभाव सन्मुख होकर अपने सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान और

वीतरागभाव की पर्यायरूप से जो उत्पन्न हुआ वह "स्वसमय" है और वह रागादि का "अकर्ता" है।

(७) "निमित्त का प्रभाव" माननेवाले बाह्यदृष्टि में अटके हैं

आजकल तो इस मूलभूत अंतर की बात को भूलकर अनेक लोग निमित्त और व्यवहार के झगड़ेमे फँसे है। निमित्तोंका आत्मा पर प्रभाव पडता है—ऐसा मानकर जो निमित्ताधीन दृष्टि में ही अटक गये हैं उन्हें तो ज्ञायकस्वभावोन्मुख होने का अवकाश नहीं है। निमित्त का प्रभाव पड़ता है,—यानी कुम्हार का घड़े पर, कर्म का आत्मा पर प्रभाव पडता है,—ऐसा जो मानते हैं उन्हे तो अभी मिथ्यात्वरूपी मदिरा का प्रभाव लेकर मिथ्यादृष्टि ही रहना है। ज्ञायकस्वभावोन्मुख होने से मेरी पर्याय में ज्ञायकभाव का प्रभाव पडता है—ऐसा न मानकर, निमित्त का प्रभाव मानता है, तो हे भाई! निमित्तोन्मुखता को छोडकर तू स्वभाव की ओर कब ढलेगा? निमित्त की ओर ही न देखकर ज्ञायकस्वभावोन्मुख हो तो कर्म का निमित्तपना नहीं रहता। अज्ञानी को उसके अपने गुणों की विपरीतता मे कर्म का निमित्त भले हो, किन्तु वह तो परज्ञेय में जाता है; यहाँ तो ज्ञानी की बात है कि—ज्ञानी स्वयं ज्ञायक की ओर ढला है इसलिये वह ज्ञातारूप ही उत्पन्न हुआ है—रागरूप, आस्रव या बन्धरूप वह उत्पन्न नही होता, इसलिये उसे कर्म का निमित्तपना भी नही है। इस प्रकार, क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति करके ज्ञायकोन्मुख जीव, क्रमबद्धपर्याय में रागरूप से उत्पन्न नही होता किन्तु ज्ञानरूप से ही उत्पन्न होता है और यही क्रमबद्ध की यथार्थ प्रतीति का फल है।

(८) ज्ञाता के क्रम में ज्ञान की वृद्धि और राग की हानि

प्रश्नः—यदि पर्याय क्रमबद्ध है—हीनाधिक नही होती, तो फिर अल्प ज्ञान को बढ़ाया नही जा सकता और राग को कम नही किया जा सकता?

उत्तरः—अरे भाई ! अभी तू यह बात नही समझा; तेरा झुकाव ज्ञायक की ओर नही हुआ। भाई, ज्ञान को बढाने और राग को कम करने का उपाय कही बाह्य मे है या अंतरंग ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन मे ? "मैं ज्ञायक हूँ और मेरे ज्ञायक की पर्याय तो क्रमबद्ध स्व–परप्रकाशक ही होती है"—ऐसा निर्णय करके ज्ञायक का अवलम्बन लिया है, वहाँ पर्याय–पर्याय मे ज्ञान की विशुद्धता बढती ही जाती है और राग कम होता जाता है। मैं ज्ञान को बढाऊँ और राग को कम करूँ—इस प्रकार पर्याय की ओर ही लक्ष रखे, किन्तु अंतर में ज्ञायकस्वभाव का अवलम्बन न ले तो उसे ज्ञान बढाने और राग कम करने के सच्चे उपाय की खबर नही है। साधक को जो राग होता है वह तो स्व–परप्रकाशक ज्ञान के ज्ञेयरूप है, किन्तु ज्ञान के कार्यरूप नही है, इसलिये ज्ञानी उसका ज्ञाता ही है, किन्तु वह राग का कर्ता या उसे बदलनेवाला नही है। राग के समय भी ज्ञानी तो उस राग के ज्ञानरूप ही उत्पन्न हुआ है। यदि राग को इधर–उधर बदलने की बुद्धि करे तो राग का कर्तृत्व हो जाता है इसलिये ज्ञातापने का क्रम न रहकर मिथ्यात्व हो जाता है। सामने जिस समय राग का काल है उसी समय ज्ञानी को अपने मे तो ज्ञातापने का ही काल है, ज्ञायकोन्मुख होकर वह तो ज्ञानरूप ही उत्पन्न होता है—रागरूप उत्पन्न नही होता।

(९) अन्तर्मुख ज्ञान के साथ आनन्द, श्रद्धा आदि का परिणमन और वही धर्म

जीव को ऐसा स्व–परप्रकाशक ज्ञान विकसित होने पर वह अपने आनन्दादि गुणो की निर्मलता को भी जानता है। ज्ञान के साथ आनन्द, श्रद्धादि अन्य अनन्त गुण भी उसी समय अपनी–अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं और ज्ञान उन्हे जानता है। ज्ञान मे ऐसी ही स्व-परप्रकाशकपने की शक्ति विकसित हुई है, और उससमय अन्य नही किन्तु उन गुणो मे ही ऐसा क्रम है। यहाँ ज्ञान मे

स्व–सन्मुख होने से निर्मल स्व-परप्रकाशकशक्ति विकसित हुई और उसी समय श्रद्धा, आनन्दादि दूसरे गुणों में निर्मल परिणमन न हो—ऐसा कभी नही होता। शुद्ध द्रव्य की दृष्टि में द्रव्य के ज्ञान–आनन्दादि गुणों मे एक साथ निर्मल परिणमन का प्रवाह प्रारम्भ हो जाता है। सम्यक्श्रद्धा के साथ सम्यक्चारित्र, आनन्दादि का अंश भी साथ ही है। देखो, इसका नाम धर्म है। अन्तर मे ऐसा परिणमन हो वह धर्म है, इसके सिवा बाहर के किसी स्थान मे या शरीरादि की क्रिया मे धर्म नही है; पाप के या पुण्य के भाव मे धर्म नही है। अकेले शास्त्रों के शब्दों को जान लेने मे भी धर्म नही है। अन्तर्मुख होकर ज्ञायकस्वभाव का अवलम्बन लेने से, श्रद्धा–ज्ञानादि गुणों का निर्मल परिणमन प्रारम्भ हो जाये उसका नाम धर्म है। इसप्रकार ज्ञायकमूर्ति आत्मा के अवलम्बन मे धर्म है। ज्ञायक का अवलम्बन लेकर ज्ञानभावरूप से उत्पन्न हुआ वही ज्ञानी का धर्म है।

(१०) जैसा वस्तुस्वरूप, वैसा ही ज्ञान, और वैसी ही वाणी

"जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते।
त जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणाहि ॥" ३०९ ॥

अर्थात् सूत्र मे जीव या अजीव के जो परिणाम दर्शाये है, उनके साथ उस जीव या अजीव को अनन्य–एकमेक जान। प्रत्येक द्रव्य की अपने परिणामों के साथ अभेदता है, किन्तु पर से भिन्नता है

—ऐसा सर्वज्ञदेव और सन्तों ने जाना है;
—सर्वज्ञ के आगम मे—सूत्र में भी ऐसा कहा है;
—और वस्तुस्वरूप भी ऐसा ही है;

इसप्रकार ज्ञान, शब्द और अर्थ—इन तीनों की संधि है। प्रतिसमय क्रमबद्ध उत्पन्न होनेवाले अपने परिणामों के साथ द्रव्य तन्मय है—ऐसा वस्तु का स्वरूप है; ऐसा ही सर्वज्ञ और सन्तो का ज्ञान जानता है और ऐसा ही सूत्र वतलाता है। इससे विपरीत बतलाये, अर्थात् एक द्रव्य के परिणाम का कर्ता दूसरा द्रव्य है ऐसा वतलाये, तो

वे देव गुरु या शास्त्र सच्चे नही हैं और वस्तु का स्वरूप भी ऐसा नही है।

(११) ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि ही मूल तात्पर्य

यहाँ क्रमबद्धपर्याय मे द्रव्य की अनन्यता बतलाकर द्रव्यदृष्टि कराने का ही तात्पर्य है।

(१) "णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो।
एव भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव॥"

—ऐसा कहकर वहाँ छठवी गाथा मे पर्याय के भेदो का अवलम्बन छुडाकर एकरूप ज्ञायकभाव की दृष्टि कराई है।

(२) तत्पश्चात्—

"ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो॥"

—भूतार्थस्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है, ऐसा कहकर वहाँ ग्यारहवी गाथा मे भी एकरूप ज्ञायकस्वभाव का ही अनुभव कराया है।

(३) और, संवर अधिकार मे "उवओगे उवओगो उपयोग मे उपयोग है"—ऐसा कहकर, संवर की जो निर्मल दशा प्रगट हुई उसके साथ आत्मा की अभेदता बतलाई, अर्थात् ज्ञायकस्वरूप मे अभेदता से ही सवर दशा प्रगट होती है—ऐसा बतलाया है।

इसप्रकार आचार्य भगवान पहले से ही ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन की बात कहते आये हैं। यहाँ भी क्रमबद्धपर्याय मे द्रव्य की अनन्यता बतलाकर, दूसरे ढग से ज्ञायकस्वभाव की ही दृष्टि कराई है। "दविय जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्ण"—ऐसा कह कर, पर्याय–पर्याय मे (–प्रत्येक समय की पर्याय मे) अभेदरूप से तेरा ज्ञायकभाव ही परिणमित हो रहा है—ऐसा बतलाया है। (इस सबधी विस्तार के लिये प्रथम भाग मे प्रवचन आठवाँ देखे)

(१२) बारम्बार मननकर अन्तर में परिणमित करने जैसी मुख्य बात

देखो, ऐसा "ज्ञा य. क...भा...व" जीव का सिर है;—वह मुख्य बात है इसलिये उसे सिर कहा है। यह बात मुख्य प्रयोजनभूत होने से बारम्बार रटने जैसी है, अन्तर में निर्णय करके परिणमित करने जैसी है।

(१३) जीवतत्त्व

सात तत्त्वों मे से जीवतत्त्व कैसा है उसकी यह बात है। जीवतत्त्व का ज्ञायकस्वभाव है; उसके सन्मुख होकर ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न हुआ और उस परिणाम में अभेद हुआ वही वास्तव मे जीव है; राग मे अभेद होकर उत्पन्न हुआ वह वास्तव मे जीवतत्त्व नही है, वह तो आस्रवतत्त्व है। ज्ञानी के परिणमन मे राग की मुख्यता नहीं है, उनके तो एक ज्ञायक की ही मुख्यता है, राग के वे ज्ञाता है। ज्ञायकोन्मुख होकर उसे "निश्चयज्ञेय" बनाया वहाँ अस्थिरता का अल्पराग "व्यवहारज्ञेय" हो जाता है।

(१४) जीवन का सच्चा कर्तव्य

जीवन मे यह मुख्य करने जैसा है,—इस समझ से ही जीवन की सफलता है . अरे! जीवन मे ऐसी अपूर्व समझ बिना जीवन की घड़ियाँ व्यर्थ जाती है—ऐसी जिसे चिन्ता भी न हो—समझने की दरकार भी न हो, वह जीव समझने का प्रयत्न कहाँ से करेगा ? सच्ची समझ का मूल्य भासित होना चाहिए कि जीवन मे सत्समागम से सच्ची समझ करना ही एक करनेयोग्य सच्चा कार्य है। इस समझ के बिना "जगत मे बाह्य कार्य मैंने किये"—ऐसा मानकर जो व्यर्थ ही पर का अभिमान करता है, वह तो साँड की भाँति घूरे तितर-बितर करता है (जैसे कूड़ेकचरे के ढेर को साँड ऊँचा-नीचा करता है, वैसे व्यर्थ अहकार मे समय गँवाता है) उसमे आत्मा का किंचित् हित नही है।

(१५) प्रभु ! अपने ज्ञायकभाव को लक्ष में ले

भगवान ! तेरा आत्मा अनादि-अनन्त चैतन्यपिण्ड विद्यमान है, उसे तो एक वार लक्ष मे ले ! अनादि से वाहर देखा है, किन्तु भीतर मैं कौन हूँ—यह कभी नही देखा .. सिद्धपरमात्मा जैसा अपना आत्मा है उसे कभी लक्ष मे नही लिया। तेरा आत्मा ज्ञायक है। प्रभु ! ज्ञायक उत्पन्न होकर ज्ञायकभाव की रचना करेगा या राग की ? सुवर्ण उत्पन्न होकर सुवर्ण अवस्था की रचना करेगा, कही लोहे की दशा नही रचेगा। उसी प्रकार आत्मा का ज्ञायकस्वभाव है वह तो ज्ञायकभाव का ही रचयिता है—ज्ञायक के अवलम्बन से ज्ञायकभाव की ही रचना (-उत्पत्ति) होती है, किन्तु अज्ञानी अपने ज्ञायकस्वभाव को भूलकर राग की रचना करता है—रागादि का कर्ता वनता है। यहाँ ज्ञायकस्वभाव वतलाकर आचार्यदेव उस राग का कर्तृत्व छुडाते हैं।

(१६) निर्मल पर्याय को ज्ञायकस्वभाव का ही अवलम्बन

ज्ञानी अपने ज्ञायकस्वभाव मे एकाग्रता से ज्ञायकभावरूप ही क्रमबद्ध उत्पन्न होता है, अपने ज्ञायकपरिणाम के साथ अभेद होकर उत्पन्न होता हुआ वह जीव ही है, अजीव नही है। वह किसी अन्य के अवलम्बन द्वारा, निमित्त के कारण, राग के कारण या पूर्व पर्याय के कारण उत्पन्न नही होता, तथा भविष्य की पर्याय में केवलज्ञान होना है उसके कारण इस समय सम्यग्दर्शनादि पर्याय होती है—ऐसा भी नही है, वर्तमान में जीव स्वयं ज्ञायकस्वभावोन्मुख होकर ज्ञायक-भावरूप (सम्यग्दर्शनादिरूप) उत्पन्न हुआ है, स्वोन्मुख हुई वर्तमान पर्याय का क्रम ही ऐसा निर्मल है। इसप्रकार अन्तरोन्मुख होकर ज्ञायकस्वभाव को पकड़ा वहाँ निर्मल पर्याय उत्पन्न हुई, वर्तमान स्वभाव का अवलम्बन ही उसका कारण है, इसके सिवा पूर्व-पश्चात् का कोई कारण नही है तथा निमित्त या व्यवहार का अवलम्बन नही है।

(१७) ''पुरुष प्रमाणे वचन प्रमाण'' यह कब लागू होता है ?

प्रश्नः—ऐसा सूक्ष्म समझने मे बड़ी मेहनत होती है, इसकी अपेक्षा "पुरुष की प्रमाणता से वचन प्रमाण"—ऐसी धारणा करके यह बात मान ले तो ?

उत्तरः—भाई, यह तो अकेला पर-प्रकाशक हुआ, स्व–प्रकाशक के बिना पर–प्रकाशकपना कहाँ से सच्चा होगा ? पुरुष प्रमाण है या नही, उसका निर्णय ज्ञान के बिना कौन करेगा ? ज्ञान का निर्णय करके सम्यग्ज्ञान हुए बिना पुरुष की प्रमाणता की परीक्षा कौन करेगा ? आप्तमीमांसा (—देवागमस्तोत्र) में स्वामी समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि—हे नाथ ! हम तो परीक्षा द्वारा आपकी सर्वज्ञता का निर्णय करके आपको मानते है। प्रयोजनरूप मूलभूत तत्त्वो की तो परीक्षा करके अपने ज्ञान मे निर्णय करे, और फिर दूसरे अप्रयोजनरूप तत्त्वों मे न पहुँच सके तो उसे "पुरुष प्रमाणे वचन प्रमाण" करके मान लेना ठीक है, किन्तु एकान्त "पुरुष प्रमाणे वचन प्रमाण" कहकर रुक जाये और अपने ज्ञान मे मूलभूत तत्त्वो के निर्णय का भी उद्यम न करे तो उसे सम्यग्ज्ञान नही होता। पुरुष की प्रमाणता का (सर्वज्ञ का) निर्णय करने जाये तो उसमे भी ज्ञानस्वभाव का ही निर्णय करना आता है। पुरुष की प्रमाणता तो उसमे है, किन्तु वह किस प्रकार है—यह तेरे ज्ञान में तो भासित नही हुआ है; पुरुष की प्रमाणता का निर्णय तेरे ज्ञान मे तो आया नही है, इसलिये "पुरुष प्रमाणे वचन प्रमाण"—यह बात तेरे लिये लागू नही होती।

(१८) क्रमबद्ध की या केवली की बात कौन कह सकता है ?

इसीप्रकार अकेले पर की या राग की ओट लेकर कोई अज्ञानी ऐसा कहे कि "विकार क्रमबद्धपर्याय मे होना था इसलिये हुआ, अथवा केवलीभगवान ने वैसा देखा था इसलिये हुआ"—तो वह स्वच्छन्दी है; भाई रे ! अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के बिना तू क्रमबद्धपर्याय की या केवली की बात कहाँ से लाया ? तू अकेले राग की ओट लेकर

वात करता है किन्तु ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नही करता, तो तूने वास्तव मे केवलीभगवान को या क्रमवद्धपर्याय को माना ही नही है। केवलीभगवान को या क्रमवद्धपर्याय को यथार्थरूप से पहिचाननेवाले जीव की दृष्टि तो अन्तर में अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर ढली होती है; उसके तो ज्ञान की ही अधिकता होती है, राग की अधिकता उसके होती ही नही। ज्ञानस्वभाव की ओर ढले विना धर्म मे एक पग भी नही चल सकता।

(१९) ज्ञान के निर्णय विना सब मिथ्या है। ज्ञायकभावरूपी तलवार से सम्यक्त्वी ने संसार को छेद डाला है

प्रश्नः—तो क्या अभीतक किया हुआ हमारा सव झूठा है ?

उत्तरः—हाँ, भाई ! सब मिथ्या है। अन्तर मे "मैं ज्ञान हूँ" ऐसा लक्ष और प्रतीति न करे तवतक शास्त्रों की पढाई या त्यागादि सब झूठे हैं, उनसे संसार का नाश नही होता। आत्मा का ज्ञान-स्वभाव सर्वज्ञता और पदार्थों की क्रमबद्धपर्याय—इन सब का निर्णय करके जहाँ ज्ञायक की ओर ढला, वहाँ ज्ञायकभावरूपी ऐसी तलवार हाथ में ली है जो एक क्षण मे ससार की जड को छेद डाले !

(२०) सम्यग्दृष्टि मुक्त; मिथ्यादृष्टि को ही संसार

अब अगली गाथाओ में कहेगे कि—ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि मे सम्यक्त्वी को ससार ही नही है, जिसकी दृष्टि कर्म पर है ऐसे मिथ्यादृष्टि को ही ससार है। सम्यक्त्वी तो ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टि से अपने शुद्धस्वभाव मे निश्चल होने से वास्तव मे मुक्त ही है,— "शुद्धस्वभावनियत स हि मुक्त एव।" (देखो, कलश १९८)

ज्ञायकस्वभाव की दृष्टिवाले ज्ञानी का अकर्तृत्व सिद्ध करके, अब (३१२–३१३) दो गाथाओं मे आचार्यदेव कहेगे कि जिसे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नही है ऐसे मिथ्यादृष्टि को ही निमित्त—नैमित्तिकभाव से संसार है।

कर्म के निमित्त का जीव पर प्रभाव पड़ता है, अथवा जैसा

निमित्त आये वैसा कार्य होता है, कर्म के उदयानुसार विकार होता है—ऐसी अज्ञानी की मान्यता तो दूर रही, किन्तु जीव स्वयं मिथ्यात्वादि करें तब कर्म को निमित्त कहा जाता है, और जीव निमित्त होकर मिथ्यात्वादि कर्मों का बन्ध करता है—यह बात भी मिथ्यादृष्टि को लागू होती है। कर्म का निमित्तकर्ता मिथ्यादृष्टि है; ज्ञानी तो अकर्ता ही है; ज्ञानी को कर्म के साथ निमित्त–नैमित्तिकपना नहीं है, उसे ज्ञायक के साथ संधि हुई है और कर्म के साथ की संधि टूट गई है।

(२१) सम्यग्दर्शन के विषयरूप जीवतत्त्व कैसा है ?

ज्ञानी अपने ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से क्रमबद्ध ज्ञाताभावरूप ही उत्पन्न होता है, किन्तु राग के कर्तारूप से उत्पन्न नहीं होता। "राग का कर्ता जीव" सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है, किन्तु "ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होनेवाला जीव" सम्यग्दर्शन का विषय है। ऐसे जीवतत्त्व की प्रतीति करना सो सम्यग्दर्शन है।

(१) "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।
(२) तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। और
(३) जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्वम्।"

—ऐसा मोक्षशास्त्र में उमास्वामी महाराज ने कहा है, वहाँ ऐसे ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होनेवाले जीव द्रव्य को पहिचाने तो जीवतत्त्व की सच्ची प्रतीति है। ऐसे जीवतत्त्व की प्रतीति के बिना तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन या मोक्षमार्ग का प्रारम्भ नहीं होता।

(२२) निमित्त अकिंचित्कर है, तथापि सत् में सत् निमित्त ही होता है

अभी तो सात तत्त्वों में से जीवतत्त्व कैसा है उसकी यह बात है। ऐसे जीव को पहिचाने तो सच्ची श्रद्धा होती है और पश्चात् ही श्रावकत्व या मुनित्व होता है। वस्तु का स्वरूप तो ऐसा है; उसमें दूसरा कुछ नहीं हो सकता। स्वयं अन्तर में पात्र होकर समझे तो पकड़ में आ सकता है; दूसरा कोई दे जाये या समझा दे—ऐसा

नही है। यदि कोई दूसरा दे दे, तो कोई तीसरा आकर लूट भी ले! किन्तु ऐसा नही होता। ऐसा होने पर भी—अर्थात् निमित्त अकिंचित्कर है फिर भी, सम्यग्ज्ञान प्राप्त करनेवाले को निमित्त कैसा होता है वह जानना चाहिये। आत्मा का अपूर्व ज्ञान प्राप्त करनेवाले जीव को सामने निमित्तरूप से भी ज्ञानी ही होते हैं। वहाँ, सम्यग्ज्ञानरूप परिणमित सामनेवाले ज्ञानी का आत्मा "अन्तरग निमित्त" है और उन ज्ञानी की वाणी बाह्यनिमित्त है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने मे ज्ञानी ही निमित्त होते हैं, अज्ञानी निमित्त नही होते; और अकेली जड वाणी भी निमित्त नही होती।—यह बात नियमसार की ५३ वी गाथा के व्याख्यान मे अत्यत स्पष्टरूप से कही जा चुकी है। (देखो, आत्मधर्म हिन्दी वर्ष ७ वा, अङ्क–६ वा) सत् समझने मे कैसा निमित्त होता है वह न पहिचाने तो अज्ञानी–मूढ है, और निमित्त कुछ कर दे ऐसा माने तो वह भी मूढ–मिथ्यादृष्टि है।

(२३) आत्महित के लिए भेदज्ञान की सीधी–सादी बात

देखो, यह तो सीधी–सादी बात है कि प्रत्येक द्रव्य स्वय ही अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होता है, तो दूसरा उसमे क्या करे? तदुपरान्त यहाँ तो ऐसा समझाना है कि भगवान आत्मा ज्ञायक है, वह क्रमबद्ध अपने ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होता हुआ ज्ञायकभाव की ही रचना करता है; रागरूप से उत्पन्न हो या राग की रचना करे—ऐसा जीवतत्त्व का सच्चा स्वरूप नही है, वह तो आस्रव और बधतत्त्व मे जाता है। अन्तर मे राग और जीव का भी भेदज्ञान करने की यह बात है। निमित्त कुछ करता है—ऐसा माननेवाले को तो अभी बाहर का भेदज्ञान भी नही है—पर से भिन्नता का ज्ञान भी नही है, तब फिर "ज्ञायकभाव राग का कर्ता नही है"—ऐसा अन्तर का (ज्ञान और राग के बीच का) भेदज्ञान तो उसे कहाँ से होगा? किन्तु जिसे धर्म करना हो—आत्मा का कुछ भी हित करना हो उसे दूसरा सब एक ओर रखकर यह समझना पड़ेगा। भाई! तेरे चैतन्य का

प्रकाशक स्वभाव है, वह नई–नई क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ, ज्ञायकस्वभाव के भानपूर्वक रागादि को या निमित्तों को भी ज्ञातारूप से जानता ही है; ज्ञातारूप से उत्पन्न होता है किन्तु राग के कर्तारूप से उत्पन्न नही होता।

जीव राग के कर्तारूप से उत्पन्न नही होता, तो क्या वह कूटस्थ है?—नही, वह अपने ज्ञाताभावरूप से उत्पन्न होता है, इसलिये कूटस्थ नही है। यहाँ तो कहा है कि "जीव उत्पन्न होता है"—अर्थात् द्रव्य स्वय परिणमित होता हुआ अपनी पर्याय को द्रवित करता है, द्रव्य स्वय अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होता है; वह कूटस्थ नही है, तथा दूसरा उसका परिणमन करानेवाला नही है।

(२४) हे ज्ञायक चिदानन्दप्रभु! अपने ज्ञायकतत्त्व को लक्ष में ले!

सर्वज्ञदेव, कुन्दकुन्दाचार्य—अमृतचन्द्राचार्य आदि संत और शास्त्र ऐसा कहते हैं कि ज्ञायकस्वरूपी जीव रागादि का अकर्ता है। अरे भाई! तू ऐसे जीवतत्त्व को मानता है या नही?—या फिर निमित्त को और राग को ही मानता है? निमित्त को और राग को पृथक् रखकर ज्ञायकतत्त्व को लक्ष मे ले, निमित्त को उत्पन्न करनेवाला या रागरूप उत्पन्न होनेवाला मैं नही हूँ, मैं तो ज्ञायकरूप से ही उत्पन्न होता हूँ इसलिये मैं ज्ञायक ही हूँ—ऐसा अनुभव कर, तो तुझे सात तत्त्वो मे से जीवतत्त्व की सच्ची प्रतीति हुई कहलाये, और तभी तूने देव–गुरु–शास्त्र को वास्तव मे माना कहा जाये।

हे ज्ञायक चिदानन्दप्रभु! स्व–सन्मुख होकर प्रतिसमय ज्ञाताभावरूप से उत्पन्न होना वह तेरा स्वरूप है; ऐसे अपने ज्ञायक-तत्त्व को लक्ष मे ले।

(२५) अरे! एकान्त की बात एक ओर रखकर यह समझ!

यह बात सुनते ही, "अरे! एकान्त हो जाता है .. रे... एकान्त हो जाता है!"—ऐसा कई अज्ञानी पुकारते हैं। किन्तु अरे तेरी वह बात एक ओर रखकर यह समझ! यह समझने से, राग और

ज्ञान एकमेक है ऐसा तेरा अनादिकालीन मिथ्याएकान्त दूर हो जायेगा और ज्ञायक के साथ ज्ञानकी एकतारूप सम्यक्एकान्त होगा; उस ज्ञान के साथ सम्यक्श्रद्धा, आनन्द, पुरुषार्थ आदि अनन्त गुणो का परिणमन भी साथ ही है, इसलिये अनेकान्त है।

(२६) सम्यक्त्वी के राग है या नहीं ?

अतर्स्वभाव के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हुए उसके साथ चारित्र का अश भी विकसित हुआ है—स्वरूपाचरण-चारित्र प्रगट हो गया है। किसी को ऐसी शका हो कि "सम्यग्दर्शन होने पर उसके साथ पूर्ण चारित्र क्यों न हुआ ?"—तो उसे ज्ञान, चारित्र आदि के भिन्न-भिन्न क्रमबद्धपरिणमन की खबर नही है। क्रमबद्धपरिणमन मे कही ऐसा नियम नही है कि सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान होने पर उसी क्षण पूर्ण चारित्र भी प्रगट हो ही जाये। अरे, क्षायिक-सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् लाखो-करोडो वर्षो तक श्रावकत्व या मुनित्व (पाँचवाँ या छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान) नही आता, और किसीको सम्यग्दर्शन होने पर अन्तर्मुहूर्त मे ही मुनिदशा—क्षपकश्रेणी और केवलज्ञान हो जाता है। तथापि, सम्यक्त्वी चौथे गुणस्थान मे भी राग के ज्ञाता ही हैं, यहाँ अपने स्व-परप्रकाशक ज्ञान का वैसा ही सामर्थ्य है,—इस प्रकार ज्ञानसामर्थ्य की प्रतीति के बल से ज्ञानी उस-उस समय के राग को भी ज्ञेय बना देते हैं। ज्ञायकस्वभाव की अधिकता उनकी दृष्टि मे से एक क्षण भी नही हटती, ज्ञायक की दृष्टि मे वे ज्ञाताभावरूप ही उत्पन्न होते हैं; राग मे तन्मयरूप से उत्पन्न नही होते।—इस प्रकार क्रमबद्धपर्याय मे ज्ञानी को राग की प्रधानता नही है—ज्ञातृत्व की ही प्रधानता है। राग के समय, "मैं इस राग-रूप उत्पन्न होता हूँ"—ऐसी जिसकी दृष्टि है और ज्ञायक की दृष्टि नही है वह वास्तव मे क्रमबद्धपर्याय का वास्तविक स्वरूप समझा ही नही है।

(२७) क्रमबद्धपर्याय का सच्चा निर्णय कब होता है ?

"क्रमबद्धपर्याय मे मुझे मिथ्यात्व आना होगा तो ?"—ऐसी

शंका करनेवाले का सच्चा निर्णय हुआ ही नही है। सुन रे सुन मूढ! तूने क्रमबद्धपर्याय किसके सन्मुख देखकर मानी? अपने ज्ञायकद्रव्य की ओर देखकर मानी है या पर की ओर देखकर? जिसने ज्ञायकद्रव्यसन्मुख होकर क्रमबद्ध की प्रतीति की, उसके तो मिथ्यात्व होता ही नही। और यदि अकेले पर की ओर देखकर तू क्रमबद्ध की बात करता हो तो तेरा क्रमबद्ध का निर्णय ही मिथ्या है। तेरी क्रमबद्धपर्यायरूप से कौन उत्पन्न होता है?—जीव; जीव कैसा?–ज्ञायकस्वभावी; तो ऐसे जीवतत्त्व को तूने लक्ष मे लिया है? यदि ऐसे ज्ञायकस्वभावी जीवतत्त्व को जानकर क्रमबद्धपर्याय माने तब तो ज्ञातापने की ही क्रमबद्धपर्याय हो, और मिथ्यात्व होता ही नही; मिथ्यात्वरूप से उत्पन्न हो ऐसा ज्ञायक का स्वभाव नही है।

(२८) ज्ञानी राग के अकर्ता हैं; "जिसकी मुख्यता उसीका कर्ता"

प्रश्नः—ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि होने के पश्चात् भी ज्ञानी को राग तो होता है?

उत्तरः—वह राग ज्ञाता का कार्य नही है, किन्तु ज्ञाता का ज्ञेय है। ज्ञायकस्वभाव परमार्थज्ञेय है और राग व्यवहारज्ञेय है। ज्ञाता के परिणमन मे तो ज्ञान की ही मुख्यता है, राग की मुख्यता नही है। और जिसकी मुख्यता है उसीका कर्ता–भोक्ता है। पुनश्च, "व्यवहार है इसलिये परमार्थ है"—ऐसा भी नही है, राग है इसलिये उसका ज्ञान होता है—ऐसा नही है। ज्ञायक के अवलम्बन से ही ऐसे स्व-परप्रकाशकज्ञान का परिणमन हुआ है; राग कही ज्ञायक के अवलम्बन मे से नही हुआ है, इसलिये ज्ञानी उसका अकर्ता है।

(२९) क्रमबद्धपर्याय समझने जितनी पात्रता कब...!

प्रश्नः—आप कहते हैं ऐसे ज्ञायकस्वरूप जीव को तथा क्रमबद्धपर्याय को हम मानें, और साथ ही साथ कुदेव–कुगुरु–कुशास्त्र को भी मानें, तो क्या हर्ज?

उत्तर —अरे ! कुदेव–कुगुरु–कुशास्त्र के पास इस वात की गंध भी नही है, तो उनके पास जो नही है वह वात तुझमें कहाँ से आई ? किसीके पास से धारणा करके—चोरी करके—इस वात के नाम से तुझे अपने मान की पुष्टि करना है, यह वडा स्वच्छन्द है। जिसको ज्ञायकस्वभाव और क्रमवद्धपर्याय समझने जितनी पात्रता हुई हो उस जीव को कुदेव–कुगुरु–कुशास्त्र का सेवन होता ही नही। किसीके शब्द लेकर रट ले, तो ऐसा नही चल सकता। सर्व प्रकार की पात्रता हो तो यह वात समझ मे आ सकती है।

(३०) भगवान ! तू कौन और तेरे परिणाम कौन ?

ज्ञानी अपने ज्ञायकभाव की क्रमवद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नही है। ज्ञायकभाव के सिवा राग भी वास्तव मे जीव नही है, ज्ञानी उस रागरूप से उत्पन्न नही होता। कर्म जीव नही है, शरीर जीव नही है; इसलिये ज्ञायकरूप से उत्पन्न होने वाला जीव कर्म, शरीरादि का निमित्तकर्ता भी नही है, ज्ञायक तो ज्ञायक ही है, ज्ञायकभावरूप ही वह उत्पन्न होता है।—ऐसा जीव का स्वरूप है।

❀ भगवान ! तू कौन और तेरे परिणाम कौन ? उन्हे पहिचान।

❀ तू जीव ! ज्ञायक ! और ज्ञायक के आश्रय से दर्शन–ज्ञान–चारित्र की जो निर्मल पर्याय उत्पन्न हुई वे तेरे परिणाम !

—ऐसे निर्मल क्रमबद्धपरिणामरूप से उत्पन्न होने का तेरा स्वभाव है; किन्तु विकार का कर्ता होकर पर को उत्पन्न करे या पर निमित्त से स्वयं उत्पन्न हो—ऐसा तेरा स्वभाव नही है। एक बार अपनी पर्याय को अन्तरोन्मुख कर, तो ज्ञायक के आश्रय से तेरी क्रमबद्धपर्याय में निर्मल परिणमन हो।

(३१) ज्ञानी की दशा

ज्ञायकस्वभाव सन्मुख होकर जो क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ है—ऐसे ज्ञानी को प्रमाद भी नही होता और आकुलता भी नही

होती; क्योंकि (१) ज्ञायकस्वभाव की सन्मुखता किसी भी समय दूर नही होती इसलिये प्रमाद नही होता, दृष्टि के बल से स्वभाव के अवलम्बन का प्रयत्न चालू ही है; और (२) क्रम बदलने की बुद्धि नही है इसलिये उतावली भी नही है—पर्यायबुद्धि की आकुलता नही है, किन्तु धैर्य है। ज्ञायकस्वभाव का ही अवलम्बन करके परिणमित होते है, उसमे प्रमाद भी कैसा और आकुलता भी कैसी ?

(३२) "अकिंचित्कर हो तो, निमित्त की उपयोगिता क्या ?" अज्ञानी का प्रश्न

जिसे ज्ञायक की दृष्टि नही है और क्रम बदलने की बुद्धि है वह भी मिथ्यादृष्टि है; तो फिर निमित्त आकर पर्याय बदल दे—यह मान्यता तो कहाँ रही ?

प्रश्नः—यदि निमित्त कुछ न करता हो, तो उसकी उपयोगिता क्या है ?

उत्तरः—भाई ! आत्मा में पर की उपयोगिता है ही कहाँ ? उपयोगिता तो उपयोगस्वरूप आत्मा की हीं है। निमित्त की उपयोगिता निमित्त मे है, किन्तु आत्मा में उसकी उपयोगिता नही है। "आत्मा में निमित्त की उपयोगिता नहीं है"—ऐसा मानने से कही जगत में से निमित्त के अस्तित्व का लोप नहीं हो जाता, वह ज्ञान का ज्ञेय है। जगत मे ज्ञेयरूप से तो तीन काल तीन लोक हैं, उससे कहीं आत्मा मे उनकी उपयोगिता हो गई ? अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि—"निमित्त की उपयोगिता मानो, अर्थात् निमित्त कुछ कर देता है ऐसा मानो तो तुमने निमित्त को माना ऐसा कहा जायेगा।" किन्तु भाई ! निमित्त को निमित्त में ही रख; आत्मा में निमित्त की उपयोगिता नही है—ऐसा मानने में ही निमित्त का निमित्तपना रहता है। किन्तु निमित्त उपयोगी होकर आत्मा मे कुछ कर देता है—ऐसा मानने से निमित्त निमित्तरूप से नही रहता, किन्तु उपादान-निमित्त की एकता हो जाती है अर्थात् मिथ्यात्व हो जाता है। इसलिये निमित्त का अस्तित्व जैसा है वैसा ही

जानना चाहिये। किन्तु, जिन्हें शुद्ध उपादानरूप ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं है और अकेले निमित्त को जानने जाते हैं उन्हे निमित्त का यथार्थ ज्ञान नही होता, क्योकि स्व–परप्रकाशक सम्यक्ज्ञान ही उनके विकसित नही हुआ है।

❋ प्रवचन दूसरा ❋

[आश्विन शुक्ला ८, वीर स २४८०]

(३३) "जीव" अजीव का कर्ता नहीं है;—क्यों नहीं है ?

इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार मे क्रमवद्धपर्याय का वर्णन करके आचार्यदेव ने आत्मा का अकर्तृत्व वतलाया है। प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रमवद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है और उसीमे तन्मय है, किन्तु दूसरे द्रव्य की पर्यायरूप से कोई उत्पन्न नही होता, अर्थात् कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य का, दूसरे द्रव्य की अवस्था का कर्ता नही है। तदुपरान्त, ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में क्रमवद्ध उत्पन्न होनेवाला जीव राग का या कर्म का कर्ता निमित्तरूप से भी नही है—यह वात यहाँ वतलाई है।

जीव अजीव का कर्ता नही है,—क्यों नही है ?—कहते हैं कि अजीव भी अपने क्रमवद्धपरिणामरूप से उत्पन्न होता हुआ उसमे तद्रूप है, और जीव अपने ज्ञायकस्वभाव की क्रमवद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ ज्ञायक ही है; इसलिये वह रागादि का कर्ता नही है तथा अजीवकर्मों का निमित्तकर्ता भी नही है।

यहाँ जीव को समझाना है कि हे जीव ! तू ज्ञायक है; तेरी क्रमवद्धपर्याय ज्ञाता–दृष्टारूप ही होना चाहिए, उसके बदले तू राग के कर्तारूप परिणमित होता है वह तेरा अज्ञान है।

(३४) कर्म के साथ का निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध तोड़ दिया उसने संसार तोड़ दिया

जीव दूसरे को परिणमित करता है और दूसरा निमित्त होकर जीव को परिणमित करता है—ऐसा अज्ञानी मानते हैं। और

कोई भाषा बदलकर ऐसा कहते है कि—"दूसरा इस जीव को परिणमित तो नही करता, किन्तु जैसा निमित्त आये वैसे निमित्त का अनुसरण करके जीव स्वतः परिणमित हो जाता है; नहीं तो निमित्त–नैमित्तिक-सम्बन्ध उड़ जाता है !"—ऐसा माननेवाले भी अज्ञानी हैं, उन्हें अभी निमित्त का अनुसरण करना है और उसके साथ सम्बन्ध रखना है, किन्तु ज्ञायकस्वभाव का अनुसरण नही करना है।—ऐसे जीवों के लिये आचार्यदेव अगली गाथाओ मे कहेगे कि—अज्ञानी को कर्म के साथ निमित्त–नैमित्तिकभाव के कारण ही संसार है। ज्ञानी तो ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि मे निमित्त का अनुसरण ही नही करते, ज्ञायक का ही अनुसरण करते हैं; ज्ञायकस्वभाव मे एकता करके निमित्त के साथ का सम्बन्ध उन्होने तोड़ डाला है, इसलिये दृष्टि अपेक्षा से उनके ससार है ही नही।

(३५) "ईश्वर जगत्कर्ता," और "आत्मा पर का कर्ता"—ऐसी मान्यतावाले दोनों समान हैं

निमित्त पाकर जीव की पर्याय होती है, अथवा तो जीव निमित्त होकर दूसरे जीव को बचा देता है—ऐसा कर्तृत्व माननेवाले भले ही जैन नाम धारण किए हों तथापि, ईश्वर को जगत्कर्ता मानने-वाले लौकिकजनों की भाँति, वे मिथ्यादृष्टि ही हैं।—यह बात भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने ३२१–२२–२३ वी गाथा मे कही है।

(३६) ज्ञानी की दृष्टि और ज्ञान

अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से द्रव्य स्वयं ही प्रतिसमय उत्पन्न होता है, उसमे अन्य कर्ता की अपेक्षा नही है; दूसरे से निरपेक्षरूप से द्रव्य मे कर्ता–कर्मपना है। द्रव्य अपनी पर्याय को करे, वहाँ भूमिका-नुसार निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध का मेल सहज ही भले हो, किन्तु ज्ञानी की दृष्टि तो ज्ञायकस्वभाव पर ही है, निमित्तसन्मुख ज्ञानी की दृष्टि नही है। ज्ञानी के जो स्व-परप्रकाशक ज्ञान विकसित हुआ है उसमे निमित्त का भी ज्ञान आ जाता है।

(३७) द्रव्य को लक्ष में रखकर क्रमबद्धपर्याय की बात

द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावरूप वस्तु स्वयं परिणमित होकर प्रतिसमय नई-नई क्रमबद्ध अवस्थारूप से उत्पन्न होती है; वस्तु में प्रतिसमय आन्दोलन हो रहा है; पहले समय के द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव दूसरे समय सर्वथा ज्यों के त्यो नही रहते, किन्तु दूसरे समय में पलटकर दूसरी अवस्थारूप से उत्पन्न होते है। इसलिये पर्याय के बदलने से द्रव्य भी परिणमित होकर उस-उस समय की पर्याय के साथ तन्मयरूप से वर्तता है।—इसप्रकार द्रव्य को लक्ष मे रखकर क्रमबद्धपर्याय की बात है। पहली बार के आठ प्रवचनों मे यह बात अच्छी तरह विस्तारपूर्वक आ गई है।

(—देखो प्रथम भाग प्रवचन ८ वाँ पेरा न० १८८)

(३८) परमार्थतः सभी जीव ज्ञायकस्वभावी हैं;—किन्तु ऐसा कौन जानता है ?

सभी जीव अनादि–अनन्त स्व-परप्रकाशक ज्ञायकस्वभावरूप ही हैं। जीव के एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रियादि जो भेद है वे तो पर्याय-अपेक्षा से तथा शरीरादि निमित्तो की अपेक्षा से हैं, किन्तु स्वभाव से तो सब जीव ज्ञायक ही हैं।—ऐसा कौन जानता है ?—जिसने अपने मे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि की हो वह दूसरे जीवो को भी वैसे स्वभाव-वाला जानता हैं। व्यवहार से जीव के अनेक भेद हैं, किन्तु परमार्थ से सभी जीवो का ज्ञायकस्वभाव है,—ऐसा जो जान ले उसको व्यवहार के भेदों का ज्ञान सच्चा होता है। अज्ञानी तो व्यवहार को जानते हुए उसीको जीव का स्वरूप मान लेता है, इसलिये उसे पर्यायबुद्धि से अनन्तानुबन्धी राग–द्वेष होता है, धर्मी को ऐसा राग–द्वेष नही होता।

(३९) "क्रमबद्धपर्याय" और उसके चार दृष्टान्त

यहाँ आचार्यभगवान कहते हैं कि जीव की क्रमबद्धपर्यायरूप से जीव स्वयं उत्पन्न होता है और अजीव की क्रमबद्धपर्यायरूप से अजीव स्वयं उत्पन्न होता है, कोई किसीका कर्ता या बदलनेवाला नही

है। पर्याय का लक्षण क्रमवर्तीपना है। क्रमवर्ती कहो या क्रमबद्ध कहो, या नियमबद्ध कहो, प्रत्येक द्रव्य अपनी व्यवस्थित क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, आत्मा अपने ज्ञायकप्रवाह के क्रम मे रहकर उसका ज्ञाता ही है।

(१) पर्याय क्रमवर्ती है, उस क्रमवर्तीपने का अर्थ "पादविक्षेप" करते हुए पंचाध्यायी की १६७ वी गाथा मे कहते हैं कि—

"अस्त्यत्र यः प्रसिद्धः क्रम इति धातुश्च पादविक्षेपे।
क्रमति क्रम इति रूपस्तस्य स्वार्थानतिक्रमादेषः॥"

'क्रम' धातु है वह 'पादविक्षेप' ऐसे अर्थ मे प्रसिद्ध है, और अपने अर्थ अनुसार 'क्रमति इति क्रमः'—ऐसा उसका रूप है।

'पादविक्षेप' अर्थात्—जब मनुष्य चलता है तब उसका दायाँ और बाँया पैर एक के बाद एक क्रमशः उठता है; दायें के बाद बायाँ और बाये के बाद दायाँ,—ऐसा जो चलने का पादक्रम है वह उलटा–सीधा नही होता; उसीप्रकार जीव–अजीव द्रव्यो का परिणमन भी क्रमबद्ध होता है, उनकी पर्यायों का क्रम उलटा–सीधा नही होता। इसप्रकार "क्रमबद्धपर्याय" के लिये एक दृष्टान्त तो 'पादविक्षेप' का अर्थात् चलने के प्राकृतिक क्रम का है।

(२) दूसरा दृष्टान्त नक्षत्रो का है, वह भी प्रकृति का है। प्रमेयकमलमार्तंड (३–१८) मे 'क्रमभाव' के लिये नक्षत्रों का दृष्टान्त दिया है। जिसप्रकार कृतिका, रोहिणी, मृगशीर्ष..आदि सभी नक्षत्र क्रमबद्ध ही हैं, वर्तमान मे 'रोहिणी' नक्षत्र उदयरूप हो तो, उसके पहले 'कृतिका' नक्षत्र ही था, और अब "मृगशीर्ष" नक्षत्र ही आयेगा,—ऐसा निर्णय हो सकता है। यदि नक्षत्र निश्चित्—क्रमबद्ध ही न हों तो, पहले कौन-सा नक्षत्र था और अब कौन-सा नक्षत्र आयेगा उसका निर्णय हो ही नही सकता। उसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य मे उसकी तीनोकाल की पर्यायें निश्चित् क्रमबद्ध ही हैं, यदि द्रव्य की क्रमबद्धपर्याये निश्चित्

न हों तो ज्ञान तीनकाल का किस प्रकार जानेगा ? आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, और ज्ञान मे सर्वज्ञता की शक्ति है—ऐसा निर्णय करे तो उसमे क्रमवद्धपर्याय की स्वीकृति आ ही जाती है। जो क्रमवद्धपर्याय को स्वीकार नही करता उसे ज्ञानस्वभाव का या सर्वज्ञ का यथार्थ निर्णय नही हुआ है।

(३) क्रमवद्धपर्याय के लिये तीसरा दृष्टान्त नक्षत्रो की भाँति 'सात वारो' का है। जिस प्रकार सात वारो मे रवि के वाद सोम, और उसके वाद मगल बुध . गुरु शुक्र . शनि—इसप्रकार क्रमानुसार ही आते हैं; रवि के बाद सीधा बुध और बुध के वाद शनि कभी नही आता। भिन्न-भिन्न देशो या भिन्न-भिन्न भाषाओ मे सात वारो के नाम भले ही अलग-अलग बोले जाते हो, किन्तु सात वारो का जो क्रम है वह तो सर्वत्र एक-सा ही है; सव देशो मे रवि के बाद सोमवार ही आता है, और सोमवार के पश्चात् मगलवार ही आता है। रविवार के वाद बीचमे सोमवार आये बिना सीधा मगलवार आ जाये—ऐसा कभी किसी देश मे नही होता। उसीप्रकार द्रव्य की जो क्रमवद्धपर्याय है वह कभी किसी द्रव्य मे उलटी-सीधी नही होती। सात वारों मे, जिस वार के पश्चात् जिस वार का क्रम होता है वही वार आता है; उसीप्रकार द्रव्य मे जिस पर्याय के पश्चात् जिस पर्याय का क्रम (स्वकाल) होता है वही पर्याय होती है। यह ज्ञायकजीव अपने ज्ञायकपने को भूलकर उसमे फेरफार करना चाहे तो वह मिथ्यादृष्टि है; क्योकि वह पर मे कर्तृत्व मानकर उसे बदलना चाहता है। मैं ज्ञाता हूँ—इसप्रकार ज्ञानसन्मुख परिणमित न होकर, रागादिका कर्ता होकर परिणमित होता है, वह जीव क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता नही है। क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता तो ज्ञायक-सन्मुख रहकर रागादि को भी जानता ही है। उसे स्वभावसन्मुख परिणमन मे शुद्ध पर्याय ही होती जाती है।

(४) "क्रमबद्धपर्याय" का चौथा दृष्टान्त है—माला के मोती का। जिसप्रकार १०८ मोतियो की माला मे प्रत्येक मोती का क्रम नियमित है, किसी मोती का क्रम इधर-उधर नही होता, उसीप्रकार

द्रव्य की अनादि–अनन्त पर्यायमाला–पर्यायों की पंक्ति—है, उसमें प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध है; कोई पर्याय इधर–उधर नही होती। (–देखो, प्रवचनसार गाथा ६६ टीका)

देखो, यह वस्तुस्वरूप !

(४०) हे जीव ! तू ज्ञायक को लक्ष में लेकर विचार

भाई, यह समझने के लिये कही बड़े–बड़े न्यायशास्त्रो का अध्ययन करना पडे ऐसा नही है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव है उसे लक्ष में लेकर तू विचार कर कि इस ओर मैं ज्ञायक हूँ—मेरा सर्वज्ञस्वभाव है,—तो सामने ज्ञेयवस्तु की पर्याय क्रमबद्ध ही होगी या अक्रमबद्ध ? अपने ज्ञानस्वभाव को सामने रखकर विचार करे तो यह क्रमबद्धपर्याय की बात सीधी जम जाये ऐसी है; किन्तु ज्ञायकस्वभाव को भूलकर विचार करे तो एक भी वस्तु का निर्णय नहीं हो सकता। निर्णय करनेवाला तो ज्ञायक है, उस ज्ञायक के ही निर्णय बिना पर का या क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करेगा कौन ? "मैं ज्ञायक हूँ"—इसप्रकार स्वभाव मे एकता करके साधकजीव ज्ञायकभावरूप ही उत्पन्न होता है। जिसकी मुख्यता है उसीका कर्ता–भोक्ता है। ज्ञानी को राग की मुख्यता नही है इसलिये उसका कर्ता–भोक्ता नही है। राग को गौण करके, व्यवहार मानकर अभूतार्थ कहा है इसलिये ज्ञानी रागरूप से उत्पन्न होता ही नही। इसप्रकार अभेद की बात है;—ज्ञायक में अभेद हुआ वह ज्ञान–आनन्द–श्रद्धादिरूप ही उत्पन्न होता है; राग में अभेद नही है इसलिये वह रागरूप से उत्पन्न ही नही होता। श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र-आनन्दादि के निर्मल क्रमबद्धपरिणामरूप ही ज्ञानी उत्पन्न होता है।

(४१) क्रमबद्धपना किस प्रकार है ?

यहाँ "क्रमबद्धपरिणाम" कहा जाता है, उसका क्या अर्थ ? पहले एक गुण परिणमित होता है, फिर दूसरा और उसके बाद तीसरा —ऐसा क्रमबद्धपरिणाम का अर्थ नही है। अनन्त गुण हैं वे कही एक के बाद एक परिणमित नही होते। गुण तो सब एकसाथ ही परिणमित

होते हैं इसलिये अनन्त गुणो के अनन्त परिणाम एकसाथ हैं; किन्तु यहाँ तो गुणो के परिणाम एक के वाद एक (ऊर्ध्वक्रम से) उत्पन्न होते है उसकी वात है। गुण सहभावरूप—एकसाथ—हैं, किन्तु पर्यायें क्रमभावरूप—एक के वाद एक—है। एक के वाद एक होने के उपरात वह प्रत्येक पर्याय स्वकाल मे नियमित—व्यवस्थित है।—यह बात लोगों को जमती नही है और फेरफार करना—पर का कर्तृत्व—मानते है। आचार्यप्रभु समझाते हैं कि भाई! ज्ञानस्वभाव तो सब को जानता है या किसी को बदल देता है? अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करके तू स्वोन्मुख हो जा और पर को बदलने की मिथ्याबुद्धि छोड़ दे।

(४२) * ज्ञान और ज्ञेय की परिणमन धारा;
* केवलीभगवान के दृष्टांत से साधकदशा की समझ

केवलज्ञानी भगवान को परिपूर्ण स्व-परप्रकाशकभाव परिणमित हो रहा है और सामने सम्पूर्ण ज्ञेय ज्ञात हो गया है। सारे ज्ञेय क्रमबद्ध परिणमित हो रहे हैं और यहाँ पूर्ण ज्ञान तथा उसके साथ पूर्ण आनन्द, वीर्यादि क्रमबद्ध परिणमित हो रहे हैं। ज्ञान और ज्ञेय दोनो व्यवस्थित—क्रमबद्ध परिणमित हो रहे हैं तथापि कोई किसीको बदलता नही है, किसीके कारण कोई नही है।

ज्ञेयों मे पहले समय जो वर्तमानरूप है वह दूसरे समय भूतरूप हो जाता है, और भविष्य उस वर्तमानरूप होता जाता है इसप्रकार ज्ञान की पर्यायें भी बदलती हैं, परन्तु ज्ञान तो भूत भविष्य और वर्तमान तीनो को एकसाथ जानता है, वह कही क्रम से नही जानता। यहाँ पूरा ज्ञायकभाव और सामने सब ज्ञेय—इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय की परिणमनधारा चली जाती है, उसमे बीच मे भगवान को रागादि नही आते। यहाँ केवलीभगवान का उदाहरण देकर ऐसा समझाना है कि—जिसप्रकार भगवान अकेले ज्ञायकभावरूप ही परिणमित होते हैं उसीप्रकार साधकज्ञानी भी अपने ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से ज्ञायकभावरूप ही परिणमित होते हैं, उनका ज्ञान राग को ज्ञेयरूप

से जानता है किन्तु राग के अवलम्बन से प्रवर्तित नहीं होता। "भगवान का केवलज्ञान लोकालोक का अवलम्बन लेकर प्रवर्तित होता है"—ऐसा कहा जाता है, किन्तु वह तो ज्ञान के परिपूर्ण सामर्थ्य की विशालता बतलाने के लिये कहा है; केवलज्ञान मे कही पर का अवलम्बन नहीं है। उसीप्रकार साधक के ज्ञान में अपने ज्ञायकस्वभाव के सिवा अन्य किसी का अवलम्बन नही है।

केवलीभगवान को तो रागादिरूप व्यवहार रहा ही नही है; साधक को भूमिकानुसार अल्प रागादि है वे व्यवहारज्ञेयरूप से हैं, इसलिये कहा है कि "व्यवहार जाना हुआ उस काल में प्रयोजनवान है" किन्तु साधक को उस व्यवहार का अवलम्बन नही है; अवलम्बन तो अन्तर के परमार्थभूत ज्ञायकस्वभाव का ही है। स्व-परप्रकाशक ज्ञानसामर्थ्य मे उस-उस काल का व्यवहार और निमित्त ज्ञेयरूप से हैं।

(४३) "जीव" कैसा ? और जीव की प्रभुता काहे में ?

यहाँ स्वभाव के साथ अभेद होकर जो परिणाम उत्पन्न हुए उन्हीको जीव कहा है; रागादि में अभेद होकर वास्तव मे ज्ञानी जीव उत्पन्न नही होता। ज्ञायकभाव के अवलम्बन से जो निर्मल परिणाम उत्पन्न हुए वे जीव के साथ अभेद हैं, इसलिये वे जीव हैं, उनमे राग का या अजीव का अवलम्बन नही है इसलिये वे अजीव नही हैं।

देखो, यह जीव की प्रभुता ! प्रभो! अपनी प्रभुता मे तू है,—राग मे या अजीव मे तू नही है। तेरी प्रभुता तेरे ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन में है, अजीव के अवलम्बन मे तेरी प्रभुता नही है, अपने ज्ञायकभाव के परिणमन में तेरी प्रभुता है, राग के परिणमन मे तेरी प्रभुता नही है। कोई भगवान जगत के नियामक हैं—यह वात तो झूठ है, किन्तु तेरा ज्ञानस्वभाव स्व-पर का निश्चायक है-निश्चय करनेवाला है—ज्ञाता है। ज्ञेय की क्रमवद्ध अवस्था के कारण यहाँ वैसा परिणमन होता है-ऐसा भी नही है। और ज्ञान के कारण ज्ञेयो का क्रमवद्ध ऐसा परिणमन होता है—ऐसा भी नही है।

(४४) "पर्याय-पर्याय में ज्ञायकपने का ही काम"

देखो, ग्राम का स्टेशन बाजार से बिलकुल निकट है। दो मिनट में स्टेशन पहुँचा जा सके—इतने निकट है। कभी गाडी में जाना हो, और घर भोजन करने बैठे हो वहाँ गाड़ी की सीटी सुनाई दे। पहले धीरे-धीरे भोजन कर रहे हों और गाड़ी आने की सूचना मिलते ही जल्दी खाने की इच्छा हो जाये तथा और भी जल्दी से उठने लगें, तथापि सब क्रमबद्ध अपने-अपने कारण ही है।

—गाड़ी आई इसलिये ज्ञान हुआ—ऐसा नही है, और
—ज्ञान के कारण गाडी नही आई है।
—गाड़ी आने का ज्ञान हुआ इसलिये उस ज्ञान के कारण जल्दी खाने की इच्छा हुई—ऐसा भी नही है,
—ज्ञान के कारण या इच्छा के कारण खाने की क्रिया में शीघ्रता आई—ऐसा भी नही है।

—प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्ररूप से अपनी-अपनी क्रमबद्ध योग्यतानुसार परिणमित होता है,—ऐसा समझे तो ज्ञायकत्व हुए बिना न रहे।

इसी प्रकार, कोई मनुष्य घूमने जाये और धीरे-धीरे चल रहा हो, किन्तु जहाँ पानी बरसना प्रारम्भ हो कि एकदम तेजी से पैर उठने लगते हैं,—इसमे भी उपरोक्त दृष्टान्त की भाँति जीव-अजीव के परिणमन की स्वतन्त्रता समझ लेना चाहिये और इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये। लोक में कहावत है कि—"दाने-दाने पर खानेवाले का नाम," उसीप्रकार यहाँ "पर्याय-पर्याय मे स्वकाल का नाम" है, और आत्मा मे "पर्याय-पर्याय मे ज्ञायकपने का ही काम" हो रहा है। किन्तु मूढ जीव विपरीतदृष्टि से पर का कर्तृत्व मानता है।

(४५) मूढ़ जीव मुँह आये वैसा बकता है

शरीर की बात आये वहाँ अज्ञानी कहता है कि—"जीव के बिना कही शरीर की क्रिया हो सकती है? जीव हो तभी शरीर की क्रिया होती है।" इसका अर्थ यह हुआ कि जीव हो तो अजीव के

परिणाम होते है, यानी अजीव मे तो मानों कुछ शक्ति ही न हो !— ऐसा वह मूढ़ मानता है।

और जहाँ कर्म की बात आये वहाँ वह अज्ञानी ऐसा कहता है कि—"भाई ! कर्म का जोर है, कर्म जीव को विकार कराते है और कर्म ही उसे भटकाते हैं !"—अरे भाई ! अजीव मे बल तो नही था, फिर कहाँ से आ गया ? कर्म जीव को बलात् परिणमित कराते हैं,— यानी जीव मे स्वाधीन परिणमन करने की तो मानो कोई शक्ति ही न हो—ऐसा वह मूढ मानता है। जीव-अजीव की स्वतंत्रता के भान बिना अज्ञानी क्षण मे इधर और क्षण में उधर, जैसा मुँह आये वैसा बकते हैं।

(४६) अज्ञानी की बिलकुल विपरीत बात; ज्ञानी की अपूर्वदृष्टि

पुनश्च, थर्मामीटर का दृष्टान्त देकर कोई कोई ऐसा कहते है कि—जितना बुखार हो उतना ही थर्मामीटर मे आता है, उसीप्रकार जितना उदय हो तदनुसार ही विकार होता है।—यह बात भी झूठी है। भाई, तेरी दृष्टि विपरीत है और तेरा दृष्टान्त भी उलटा है। किसी समय १०५ डिग्री बुखार हो, तथापि थर्मामीटर मे उतना नही आता। उसी प्रकार उदयानुसार ही जीव को विकार हो—ऐसा कभी होता ही नही।

"उदयानुसार ही विकार होता है"—यह वात तो महान स्थूल-विपरीत है। किन्तु, जीव स्वय विकार करके उदय को निमित्त वनाये—यह वात भी यहाँ नही है। जो अज्ञानी जीव विकार का कर्ता होता है उसीको कर्म के साथ सम्वन्ध है, किन्तु ज्ञानी तो ज्ञायकभावरूप ही परिणमित होते है, ज्ञायकभाव मे कर्म के साथ सम्वन्ध ही नही है—ऐसी ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि करके स्वसन्मुख ज्ञातारूप से परिणमित होना ही अपूर्व धर्म है, और वह जीव वास्तव मे अकर्ता है। अकर्ता-पनेरूप अपना जो ज्ञायकभाव है उसका वह कर्ता है, किन्तु राग का या कर्म का कर्ता नही है।

(४७) "मूर्ख..."

देखो, शास्त्र मे ऐसा आता है कि—"कत्थवि वलिओ जीवो, कत्थवि कम्माइ हुंति वलियाइ. ....अर्थात् कभी जीव वलवान होता है और कभी कर्म वलवान हो जाते हैं";—किन्तु अज्ञानी उसका आशय नही समझते और विपरीत मानते हैं। जीव ने पुरुषार्थ नही किया तव निमित्त से कर्म को वलवान कहा। परन्तु कर्म का उदय ही जीव को जवरन् राग-द्वेषरूप परिणमित करता है—ऐसा जो मानता है उसे तो पं० वनारसीदासजी नाटक समयसार मे 'मूर्ख' कहते हैं—

> कोऊ मूरख यो कहै, राग दोष परिनाम।
> पुग्गल की जोरावरी वरतै आतमराम ॥ ६२ ॥

(४८) विपरीत मान्यता का जोर !! [उसके चार उदाहरण]

(१) विपरीत दृष्टि ही जीव को सीधा नही समझने देती। देखो, "उदयानुसार विकार होता है"—ऐसा माननेवाले को भी उदयानुसार तो विकार होता ही नही, उसके शास्त्रस्वाध्यायादि मे (भले ही विपरीत दृष्टिपूर्वक) मदराग तो वर्तता है, ज्ञान मे भी इसी प्रकार आता है; कर्म के उदयानुसार विकार होता है—ऐसा कही उसके ज्ञान मे तो ज्ञात नही होता, तथापि उसकी विपरीत दृष्टि का वल उसे ऐसा मनाता है कि "उदयानुसार विकार होता है।" उसकी विपरीत मान्यता मे मिथ्यात्व का इतना जोर पडा है कि अनन्ता उदय आये तो मुझे वैसा होना पडेगा—ऐसा उसका अभिप्राय वर्तता है; इसलिये उसमे तीव्र मिथ्यात्व सहित निगोददशा की ही आराधना का जोर पड़ा है।

(२) इसी प्रकार विपरीत दृष्टि का दूसरा उदाहरणः— स्थानकवासी के तेरापथी लोग असयमी के प्रति दया-दानादि भावो को भी पाप मनाते हैं। किसी जीव के बचाने का या दानादि का भाव हो तब उसे अपनेको कोमल परिणामरूप शुभभाव है, उस समय उसके ज्ञान मे भी ऐसा ही ख्याल आता है कि यह कुछ शुभपरिणाम

है, उस समय ज्ञान में कही ऐसा ख्याल नहीं आता कि "यह पाप परिणाम है;" किन्तु विपरीत श्रद्धा का जोर ऐसा है कि अपने को शुभभाव होने पर भी उसे पाप मनाती है। दया-दान को पाप माननेवाले तेरापंथी को भी दया-दान के समय कहीं पापभाव नही है; तथापि विपरीत दृष्टि के कारण वह उसे पाप मानता है।

(३) इसी प्रकार तीसरा उदाहरण:—जिन प्रतिमा के दर्शन-पूजन-भक्ति आदि मे शुभभाव है; तथापि स्थानकवासी उसे पाप मनाते हैं; जिनप्रतिमा के दर्शनादि में उसे शुभभाव होते हैं तथापि, और ज्ञान मे भी उस समय "यह शुभ है"—ऐसा आने पर भी, विपरीत मान्यता का जोर उस शुभ को भी पाप मनाता है।

(४) एक चौथा उदाहरण यह है कि—दया, पूजा या व्रतादि का भाव शुभराग है, वह कही धर्म नही है, तथापि मिथ्यादृष्टि की विपरीत मान्यता उसे धर्म मानती है। उस शुभराग के समय अज्ञानी को भी ज्ञान मे तो ऐसा आया है कि—"यह राग हुआ," किन्तु धर्म हुआ—ऐसा कही ज्ञान मे नही आया है, अर्थात् राग के समय उस राग का ही ज्ञान हुआ है, तथापि विपरीत दृष्टि के कारण वह राग को धर्म मानता है। राग से धर्म माननेवाले को स्वयं भी कही राग से धर्म नही हो जाता, तथापि विपरीत मान्यता का जोर उसे इस प्रकार मनाता है।

—वह विपरीत मान्यता कैसे दूर हो ?—यह बात आचार्य-देव समझाते हैं।

(४९) ज्ञायक सन्मुख हो !—यही जैनमार्ग है

हे भाई ! एक बार तू स्वसन्मुख हो और ज्ञायकस्वभाव को प्रतीति मे लेकर श्रद्धा-ज्ञान को सच्चा बना, तो तुझे सब सीधा-सच्चा भासित होगा और तेरी विपरीत मान्यता दूर हो जायेगी। उपयोग को अन्तरोन्मुख करके "मैं ज्ञायक हूँ"—ऐसा जब तक वेदन न हो तब तक सम्यग्दर्शन नही होता और विपरीत मान्यता भी नही टलती। बस ! ज्ञान को अन्तरोन्मुख करके आत्मा में एकाग्र किया उसमें सम्पूर्ण मार्ग का समावेश हो गया, सारा जैनशासन उसमे आ गया।

प्रवचन तीसरा

[आश्विन शुक्ला ६, वीर सं० २४८०]

(५०) सम्यग्दृष्टि–ज्ञाता क्या करता है ?

"सर्वविशुद्धज्ञान" कहो या अभेदरूप से ज्ञानात्मक शुद्ध द्रव्य कहो—उसका यह अधिकार है। शुद्ध ज्ञायकद्रव्य की दृष्टि से सम्यग्ज्ञानी को ज्ञान मे क्या क्या होता है उसका यह वर्णन है। सम्यग्दर्शन अर्थात् शुद्ध आत्मा का ज्ञान होने पर जीव क्या करता है ?—अथवा सम्यग्दृष्टि ज्ञानी का क्या कार्य है ? वह यहाँ समझाते हैं।

तत्त्वार्थश्रद्धान वह सम्यग्दर्शन है; सात तत्त्वो में जीवतत्त्व ज्ञायकस्वरूप है। मैं ज्ञायकस्वरूप जीव हूँ—ऐसा जाननेवाला सम्यक्त्वी पर्याय–पर्याय मे ज्ञाताभावरूप ही उत्पन्न होता है इसलिये ज्ञातृत्व का ही कार्य करता है। ज्ञाता स्वयं प्रतिक्षण अपने को जानता हुआ उत्पन्न होता है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से उत्पन्न होनेवाला ज्ञायक ज्ञाता–दृष्टापने का ही कार्य करता है, उस क्षण वर्तते हुए राग का वह ज्ञायक है किन्तु उसका कर्ता नही है। ज्ञाता उस काल वर्तते हुए रागादि को–व्यवहार को जानता है, वह राग के कारण नही किन्तु उस समय के अपने ज्ञान के कारण वह राग को भी जानता है। इसप्रकार ज्ञानी जीव अपने क्रमबद्ध ज्ञानपरिणामरूप से उत्पन्न होता है।

(५१) निमित्त का अस्तित्व कार्य की पराधीनता सूचित नहीं करता

अजीव भी अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से स्वयं उत्पन्न होता है; कोई दूसरा उसका उत्पन्न करनेवाला नही है। देखो, घडा होता है, वहाँ मिट्टी के परमाणु स्वयं उस पर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं, कुम्हार उन्हे उत्पन्न नही करता। कुम्हार ने घडा बनाया—ऐसा कहना तो मात्र निमित्त के सयोग का कथन है। "निमित्त" कही नैमित्तिककार्य की पराधीनता नही बतलाता। एक वस्तु के कार्य के समय निमित्तरूप

से दूसरी वस्तु का अस्तित्व हो, वह कही कार्य की पराधीनता नही बतलाता, किन्तु ज्ञान का स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य बतलाया है ।

(५२) श्री रामचन्द्रजी के दृष्टान्त द्वारा धर्मात्मा के कार्य की समझ

जिस समय श्री राम–लक्ष्मण–सीता वन में थे, तब वे हाथ से मिट्टी के बर्तन बनाकर उनमे भोजन बनाते थे । रामचन्द्र जी बलदेव थे और लक्ष्मण वासुदेव । वे महान चतुर, बहत्तर कला के ज्ञाता श्लाका पुरुष थे । जगल मे हाथ से मिट्टी के बर्तन बनाकर उनमें भोजन बनाते थे । "राम ने बर्तन बनाये"—ऐसा कहा जाता है, किन्तु वास्तव मे तो मिट्टी के परमाणु स्वयं उन बर्तनों की अवस्थारूप से उत्पन्न हुए है । रामचन्द्र जी तो आत्मज्ञानी थे, और उस समय भी वे अपने ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से ज्ञाताभावरूप ही उत्पन्न होते थे, मिट्टी की पर्याय को मैं उत्पन्न करता हूँ—ऐसा वे नही मानते थे; स्व-परप्रकाशक ज्ञानरूप से क्रमबद्ध उत्पन्न होते हुए उस समय के विकल्प को और बर्तन बनने की क्रिया को जानते थे । ज्ञातारूप से ही उत्पन्न होते थे किन्तु राग के या जड़ की क्रिया के कर्तारूप से उत्पन्न नही होते थे । देखो, यह धर्मी का कार्य ! ऐसी धर्मी की दशा है, इससे विपरीत माने तो वह अज्ञानी है, उसे धर्म के स्वरूप की खबर नही है ।

(५३) आहारदान प्रसंग के दृष्टान्त से ज्ञानी के कार्य की समझ

सुगुप्ति और गुप्ति नाम के मुनिओं का ऐसा अभिग्रह था कि राजकुमार हो, वन मे हो और अपने ही हाथ से बनाये हुए बर्तन मे विधिपूर्वक आहार दे तो वह आहार लेगे। ठीक उसी समय राम-लक्ष्मण-सीता वन मे थे, हाथ से बनाये हुए बर्तन मे आहार बनाया था और ऐसी भावना कर रहे थे कि कोई मुनिराज पधारे तो उन्हें आहार दे; वही सयोगवशात् वे मुनिवर पधारे और उन्हे विधिपूर्वक पडगाहन करके नवधा भक्तिपूर्वक आहारदान दिया। इसप्रकार मुनियो के अभिग्रह का प्राकृतिक संयोग मिल गया । ऐसा संयोग अपने आप हो जाता है ।

किन्तु ज्ञानी जानते हैं कि मैं तो ज्ञायक हूँ; यह आहार देने–लेने की क्रिया हुई वह मेरा कार्य नही है; मुनिवरो के प्रति भक्ति का शुभभाव हुआ वह भी वास्तव मे ज्ञाता का कार्य नही है। रामचन्द्रजी ज्ञानी थे, उन्हे इस सबकी खबर थी। आहारदान की बाह्यक्रिया के या उस ओर के विकल्प के, परमार्थ से ज्ञानी कर्ता नही है; उस समय अन्तर मे ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से प्रतिक्षरण ज्ञान–श्रद्धा–आनन्दादि की पर्याय का स्वय अपने को दान देता है, उस दान मे स्वय ही देनेवाला है और स्वयं ही लेनेवाला। निर्मल पर्यायरूप से उत्पन्न हुआ उसका कर्ता भी स्वय, और सम्प्रदान भी स्वयं। ज्ञान–आनन्द की पक्ति के सिवा रागादि का या पर की पर्याय का आत्मा ज्ञाता है किन्तु कर्ता नही है, अपनी निर्मल ज्ञान–आनन्ददशा का ही ज्ञानी कर्ता है।

छठवें–सातवे गुणस्थान मे झूलते हुए सन्त मुनिवरो को देखकर ज्ञानी कहे कि—"हे नाथ ! पधारो .पधारो !! मनशुद्धि–वचनशुद्धि–कायशुद्धि–आहारशुद्धि .हे प्रभो ! हमारे आँगन को पावन कीजिये ! हमारे आँगन मे आज कल्पवृक्ष फले, हमें जंगल मे मंगल हुआ।"—तथापि उससमय ज्ञानी उस भाषा के और रागके कर्तारूपसे परिणमित नही होते, किन्तु ज्ञायकपने की ही क्रमबद्धपर्याय के कर्तारूप से परिणमित होते हैं। अज्ञानियो को यह बात बैठना कठिन होता है।

(५४) रामचन्द्रजी के वनवास के दृष्टान्त द्वारा ज्ञानी के कार्य की समझ

राजगद्दी के बदले रामचन्द्रजी को वनवास हुआ,—तो क्या वह अक्रमबद्ध हुआ ? अथवा, राजगद्दी का क्रम था, किन्तु कैकेयी माता के कारण वह बदल गया—ऐसा है ?—नही, माता-पिता के या किसी और के कारण वनवास की अवस्था हुई ऐसा नही है; तथा अवस्था का क्रम बदल गया ऐसा भी नही है। रामचन्द्रजी जानते थे कि मैं तो ज्ञान हूँ, इस समय ऐसा ही क्षेत्र मेरे ज्ञान के ज्ञेयरूप से

होगा;—ऐसी ही स्व-परप्रकाशक-शक्तिरूप से मेरी ज्ञानपर्याय उत्पन्न हुई है। राजभवन मे होऊँ या वन में होऊँ, किन्तु मैं तो स्व-परप्रकाशक ज्ञायकरूप से ही उत्पन्न होता हूँ। राजमहल भी ज्ञेय है और यह वन भी मेरे ज्ञान का ज्ञेय है; इस समय इस वन को जाने ऐसी ही मेरे ज्ञान की स्व-परप्रकाशकशक्ति विकसित हुई है। इस प्रकार ज्ञानी को ज्ञायकदृष्टि नही छूटती; ज्ञायकदृष्टि मे वे निर्मल ज्ञानपर्यायरूप ही उत्पन्न होते हैं।

(५५) ज्ञानी ज्ञाता रहता है; अज्ञानी राग का कर्ता होता है और पर को बदलना चाहता है

मैं ज्ञायक हूँ—ऐसी दृष्टि करके ज्ञातारूप से न रहकर अज्ञानी रागादि का कर्ता हो कर पर के क्रम को बदलने जाता है। उसे अभी राग करना है और पर को बदलना है; किन्तु ज्ञातारूप से नही रहना है, उसे ज्ञातृत्व नहीं जमता इसलिये उसे ज्ञान के प्रति क्रोध है; तथा पर के क्रमबद्धपरिणमन पर (वस्तु के स्वभाव पर) द्वेष है इसलिये उसके क्रम को बदलना चाहता है,—इस प्रकार यह मिथ्यादृष्टि के अनंत राग-द्वेष है। अमुक समय अमुक प्रकार का राग बदलकर उसके बदले ऐसा ही राग करूँ—इस प्रकार जो हठ करके राग को बदलना चाहता है उसे भी राग के साथ एकत्वबुद्धि से मिथ्यात्व होता है। भूमिका अनुसार जो राग होता है उसे साधक जानते हैं, उस राग को ज्ञान का ज्ञेय बना देते हैं, किन्तु उसे ज्ञान का कार्य नहीं बनाते; और राग होने पर ज्ञान में शंका भी नहीं पड़ती। हठपूर्वक राग को बदलने जाये तो उसे उस समय के (राग को भी जाननेवाले) स्व-परप्रकाशक ज्ञान की प्रतीति नहीं है इसलिये ज्ञान पर ही द्वेष है। ज्ञानी तो ज्ञायकदृष्टि के बल से ज्ञानरूप से ही उत्पन्न होते हैं, रागरूप से उत्पन्न नहीं होते, राग के भी ज्ञातारूप से उत्पन्न होते हैं किन्तु उसके कर्तारूप से उत्पन्न नहीं होते। सम्यग्दृष्टि का ऐसा कार्य है। अज्ञानी को ज्ञानस्वभाव की

प्रतीति न रखकर, पर्यायमूढ़ होकर पर्याय को वदलना चाहता है; अथवा पर ज्ञेयो के कारण ज्ञान मानता है; इसलिये वह ज्ञेयो को जानते हुए उन्हींमे राग-द्वेप करके अटक जाता है, किन्तु इधर ज्ञायकस्वभाव की ओर नही ढलता।

(५६) जैन के वेप में वौद्ध

❀ वौद्धमती ऐसा कहते हैं कि-"ज्ञेयो के कारण ज्ञान होता है; सामने घड़ा हो तो यहाँ घडे का ही ज्ञान होता है। घडे के समय घडे का ही ज्ञान होता है कि "यह हाथी है"—ऐसा ज्ञात नही होता; इसलिये ज्ञेय के कारण ही ज्ञान होता है।" किन्तु उनकी यह बात मिथ्या है। ज्ञेयो के कारण ज्ञान नही होता किन्तु सामान्य ज्ञान स्वयं ही विशेष ज्ञानरूप परिणमित होकर जानता है इसलिये ज्ञान की अपनी ही वैसी योग्यता से घडे आदि का ज्ञान होता है; उस ज्ञान के समय घड़ा आदि ज्ञेय तो मात्र निमित्त हैं।—ऐसा युक्तिपूर्वक सिद्ध करके, अकलंकदेव आचार्यादि महान संतों ने, "ज्ञेयो के कारण ज्ञान होता है"—यह बात उडा दी है। उसके बदले आज जैन नाम धारण करनेवाले कुछ विद्वान भी ऐसा मानते हैं कि "निमित्त के कारण ज्ञान होता है, निमित्त के कारण कार्य होता है"—तो वे भी बौद्धमती जैसे मिथ्यादृष्टि सिद्ध हुए; बौद्ध के और उनके अभिप्राय मे कोई अन्तर न रहा।

❀ पुनश्च, जिस प्रकार ज्ञेय के कारण ज्ञान नही है, उसी प्रकार ज्ञान के कारण ज्ञेय की अवस्था हो—ऐसा भी नही है। जिस प्रकार ज्ञेय के कारण ज्ञान होना बौद्ध कहते हैं, उसी प्रकार जैन मे भी यदि कोई ऐसा माने कि—"ज्ञान के कारण ज्ञेय की अवस्था होती है,—जीव है इसलिये घडा होता है, जीव है इसलिये शरीर चलता है; जीव है इसलिये भाषा बोली जाती है"—तो यह मान्यता भी मिथ्या है। ज्ञान और ज्ञेय दोनो की अवस्था क्रमबद्ध स्वतत्ररूप से अपने-अपने कारण ही हो रही है।

* और, राग भी व्यवहार से ज्ञाता का ज्ञेय है। जिस प्रकार ज्ञेय के कारण ज्ञान, या ज्ञान के कारण ज्ञेय नही है, उसी प्रकार राग के कारण ज्ञान या ज्ञान के कारण राग भी नही है। राग हो वहाँ ज्ञान मे भी राग ही ज्ञात होता है वहाँ अज्ञानी को ऐसा भ्रम हो जाता है कि यह राग है इसलिये उसके कारण राग का ज्ञान होता है; इसलिये राग से पृथक्—राग के अवलम्बन से रहित—ऐसा ज्ञान उसे भासित नही होता। मैं ज्ञायक हूँ और मेरे ज्ञायकस्वभाव मे यह ज्ञान का प्रवाह आता है—ऐसी प्रतीति में ज्ञानी राग का भी ज्ञाता ही रहता है।

(५७) सच्चा समझनेवाले जीव का विवेक कैसा होता है ?

प्रश्नः—प्रत्येक वस्तु की क्रमबद्धपर्याय स्वयं अपने से ही होती है—ऐसी क्रमबद्धपर्याय की बात सुनेंगे तो लोग देव–गुरु–शास्त्र का बहुमान छोड़ देगे; और जिन–मन्दिरादि नही बनवायेंगे ?

उत्तरः—अरे भाई ! जो यह बात समझेगा उसीको समझानेवाले का सच्चा बहुमान आयेगा। निश्चय से अपने ज्ञायकस्वभाव को जाना तब क्रमबद्धपर्याय का ज्ञान सच्चा हुआ। ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख होकर क्रमबद्धपर्याय की अपूर्व बात जो समझा, उसे वह बात समझानेवाले वीतरागी देव–गुरु–शास्त्र के प्रति भक्ति का भाव आये विना नही रहेगा। "मैं ज्ञायक हूँ"—इस प्रकार ज्ञायक की श्रद्धा करके जो क्रमबद्धपर्याय को जानेगा वह अपनी भूमिका के राग को भी जानेगा। किस भूमिका मे कैसा राग होता है और कैसे निमित्त होते हैं उनका भी वह विवेक करेगा। यह तो जागृतमार्ग है, यह कही अधमार्ग नही है। साधकदशा में राग होता है, किन्तु उस राग की वृत्ति कुदेवादि के प्रति नही जाती, किन्तु सच्चे देव–गुरु के बहुमान की ओर वृत्ति जाती है। जो सच्चा समझे वह स्वच्छन्दी हो ही नही सकता, सच्ची समझ का फल तो वीतरागता है। वीतरागी देव–गुरु का बहुमान आने से बाह्य मे जिनमन्दिर बनवाने आदि के भाव

आते हैं; किन्तु बाह्य मे तो उसके अपने काल में जैसा होने योग्य हो वैसा होता है। इसी प्रकार अष्ट द्रव्यों से भगवान की पूजादि में भी समझ लेना चाहिये। उस काल वैसा राग होता है और उस समय ज्ञान भी वैसा ही जानता है, तथापि उस ज्ञान के या राग के कारण बाह्यक्रिया नही होती। उस समय भी ज्ञानी जीव तो अपने ज्ञानभाव का ही कर्ता है।

ज्ञानभाव जीवतत्त्व है;
राग आस्रवतत्त्व है; और
बाह्य शरीरादि की क्रिया अजीवतत्त्व है।

उसमे किसी के कारण कोई नही है। इस प्रकार प्रत्येक तत्त्व का भिन्न-भिन्न स्वरूप पहिचानना चाहिये, तभी सच्ची तत्त्वार्थ-श्रद्धा होती है।

(५८) अपनी पर्याय में ही अपना प्र...भाव है

कोई कहता है कि—आपके प्रभाव से यह सब रचना हुई !—यह सब तो विनय की भाषा है। वास्तव मे "प्रभाव" किसी का किसी पर नही है। सब की पर्याय मे अपना-अपना ही प्र. .भाव (विशेष प्रकार से भवन) है। आत्मा अपने ज्ञानरूप विशेषभाव से परिणमित हो, उसीमे उसका प्रभाव है, स्वय अपने जिस निर्मल भावरूप से परिणमित हो उसीमे अपना प्रभाव है। किन्तु जीव का प्रभाव अजीव पर या अजीव का प्रभाव जीव पर नही है; प्रत्येक तत्त्व भिन्न-भिन्न है; एकका दूसरे मे अभाव है, इसलिये किसी का प्रभाव दूसरे पर नही पडता। एक पर दूसरे का प्रभाव कहना, मात्र निमित्त का कथन है। (विशेष के लिये देखो, प्रथम भाग, प्रवचन चौथा, न० १०८)

(५९) क्रमबद्ध के नाम पर मूढ़ जीव की गड़बड़ी

कुछ मूढ लोग ऐसी गडबड़ी करते है कि—"पर्याय क्रमबद्ध जब होना हो तव हो जाती है, इसलिये चाहे जिस वेष मे और चाहे जिस दशा मे मुनिपना आ जाता है।" किन्तु चाहे जैसे मिथ्यासम्प्रदाय

को मानता हो और चाहे जैसे निमित्त मे विद्यमान हो, तथापि क्रम-बद्ध मे मुनिपना या सम्यग्दर्शन आ जाये—ऐसा कभी होता ही नही। अरे भाई! क्रमबद्धपर्याय क्या वस्तु है उसकी तुझे खबर नही है, सम्यग्दर्शन और मुनिपने की दशा कैसी होती है उसकी भी तुझे खबर नहीं है। अतरंग ज्ञायकभाव मे लीन होकर मुनिदशा प्रगट हुई वहाँ निमित्तरूप से जडशरीर की दशा नग्न ही होती है। अब यह बात प्रसिद्धि मे आने से कुछ स्वच्छन्दी लोग क्रमबद्ध के शब्द पकड़-कर वात करना सीखे हैं। किन्तु यदि क्रमबद्धपर्याय को यथार्थ समझें तब तो निमित्त आदि चारो पक्षों का मेल बराबर मिलना चाहिये।

(६०) ज्ञायक और क्रमबद्ध का निर्णय करके स्वाश्रय का परिणमन हुआ, उसमें व्रत–प्रतिक्रमण आदि सारा जैनशासन आ जाता है

प्रश्नः—इस क्रमबद्धपर्याय मे व्रत–समिति–गुप्ति–प्रतिक्रमण–प्रत्याख्यान–प्रायश्चित आदि कहाँ आये?

उत्तरः—जिसका ज्ञान पर से हटकर ज्ञायक मे एकाग्र हुआ है, उसीको क्रमबद्धपर्याय का निर्णय है, और ज्ञायक में एकाग्र होकर परिणमित हुआ उसमे व्रत–समिति आदि सब कुछ आ जाता है। ज्ञायकस्वभाव में ज्ञान की एकाग्रता–वह ध्यान है और उस ध्यान में निश्चय व्रत–तप–प्रत्याख्यानादि सबका समावेश हो जाता है। नियमसार की ११९ वी गाथा मे कहा है कि—

आत्मस्वरूपालम्बनभावेन तु सर्वभाव परिहारम्।
शक्नोति कर्तुं जीवस्तस्माद् ध्यानं भवेत् सर्वम्॥ ११९॥

निज आत्मा का आश्रय कर के ज्ञान एकाग्र हुआ वह निश्चय धर्मध्यान है, और वह निश्चय धर्मध्यान ही सर्व परभावों का अभाव करने में समर्थ है; "तम्हा झाण हवे सव्वं"–इसलिये ध्यान सर्वस्व है; शुद्ध आत्मा के ध्यान मे सर्व निश्चय आचारों (पंचाचार) का समावेश हो जाता है।

जो आत्मा के ज्ञायकस्वभाव का और क्रमबद्धपर्याय का निर्णय नही करता, उसे कभी धर्मध्यान नही होता। ध्यान अर्थात् ज्ञान की एकाग्रता। ज्ञायक की ओर न ढले, क्रमबद्धपर्यायको न जाने, और पर मे फेरफार करना माने—ऐसे जीव का ज्ञान परसन्मुखता से हटकर स्व मे एकाग्र होता ही नही, इसलिये उसे धर्मध्यान होता ही नही; पर मे एकाग्रता द्वारा उसे तो विपरीत ध्यान होता है। ज्ञानी तो ज्ञायक का और क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करके, ज्ञायक मे ही एकाग्रदृष्टि से क्रमबद्धज्ञातारूप से ही परिणमित होता है। ज्ञायक मे एकाग्रता का जो क्रमबद्धपरिणमन हुआ उसमे निश्चय प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-सामायिक-व्रत-तपादि सब आ गया। ज्ञाता तो क्रमबद्ध अपने ज्ञायकभावरूप ही परिणमित होता है—ज्ञायक के अवलम्बन से ही परिणमित होता है, वहाँ निर्मल पर्याये होती जाती हैं। बीच मे जो व्यवहार परिणति होती है उसे ज्ञान जानता है किन्तु उसमे एकाग्र होकर प्रवर्तित नही होता, स्वभाव मे एकाग्ररूप से ही वर्तता है और उसमे जैनशासन आ जाता है।

(६१) "अभाव, अतिभाव (—विभाव), और समभाव"

ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से ही सच्चा समभाव होता है, उसके बदले जो संयोग के आश्रय से समभाव होना मनाये, उसे वस्तु-स्वरूप की खबर नही है,—जैनशासन की खबर नही है। कोई अज्ञानी ऐसा कहते है कि—"गरीबों के पास धनादि का "अ भाव" है, और धनवानो के पास उसका "अतिभाव" है, इसलिये जगत मे प्रतिद्वन्दिता और क्लेश होता है, यदि अतिभाववाले अतिरिक्त का त्याग कर के अभाववालों को दे दे तो "समभाव" हो जाये और सबको शाति हो; इसलिये हम अणुव्रत का प्रचार करते हैं।"—यह सब अज्ञानी की संयोगदृष्टि की बातें हैं। क्लेश या समभाव क्या संयोग के कारण होता है ?—यह बात ही झूठी है। ज्ञायकस्वभाव से सभी जीव समान हैं, इसलिये ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि मे ही सच्चा "समभाव" है; पर का आत्मा मे "अभाव" है; और जो "विभाव"

है वह उपाधिभाव होने से त्यागने योग्य है। इसके सिवा बाह्य में "अभाव, अतिभाव और समभाव" की बात तो संयोगदृष्टि की बात है, वह कही सच्चा मार्ग नही है।

इसी प्रकार "वैभव कम हो तो खर्च घटे, और खर्च घटे तो पाप कम हो"—यह भी बाह्यदृष्टि की बात है। निगोदिया जीवो के पास एक पाई का भी वैभव या खर्च नही है; तथापि वे जीव अनंतपाप से महा दुःखी हो रहे है। कोई सम्यक्त्वी जीव चक्रवर्ती हो, छह खण्ड का राज्यवैभव हो और प्रतिदिन करोड़ों–अरबों का खर्च होता हो, तथापि उसके पाप अत्यल्प हैं; और वास्तव मे तो अखण्ड चैतन्यवैभव की दृष्टि मे उसे पाप नही है, वह ज्ञायकभावरूप ही उत्पन्न होता है; अल्प रागादि हैं वे तो ज्ञेय में जाते है, उनमें एकतारूप से ज्ञानी उत्पन्न नही होते।

(६२) अज्ञानी विरोध की पुकार करते हैं तो भले करें; उससे उनकी मान्यता मिथ्या होगी, किन्तु वस्तुस्वरूप नहीं बदल सकता!

आत्मा अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अपनी पर्याय के साथ अनन्य है और पर के साथ अनन्य नही है—ऐसा अनेकान्त है; जीव अपनी पर्याय में तन्मय है इसलिये उसका कर्ता है, और पर की पर्याय मे तन्मय नही है इसलिये उसका कर्ता नही है—ऐसा अनेकान्तस्वरूप है। आत्मा अपना करे और पर का भी करे—ऐसा अज्ञानी मानता है किन्तु वस्तुस्वरूप ऐसा नही है। वस्तु का अनेकान्तस्वरूप ही ऐसी पुकार कर रहा है कि आत्मा अपना ही करता है, पर का तीन काल में नही करता। अज्ञानी विरोध की पुकार करते हैं तो भले करें, किन्तु उससे कहीं वस्तुस्वरूप नही बदल सकता। "आप्तमीमांसा" गाथा ११० की टीका में कहते है कि—"वस्तु ही अपना स्वरूप अनेकान्तात्मक आप दिखावै है तो हम कहा करें? वादी पुकारै है "विरुद्ध है रे .विरुद्ध है ." तो पुकारो, किछु निरर्थक पुकारने मे साध्य है नही।"—वस्तु ही स्वयं अपना

स्वरूप अनेकान्तात्मक दिखलाती है तो हम क्या करें ? वादी–अज्ञानी पुकारते है कि "विरुद्ध है रे. विरुद्ध है"—तो भले पुकारो; उनकी निरर्थक पुकार से कुछ साध्य नही है। अज्ञानी विरोध की पुकार करें तो उससे कही वस्तुस्वरूप वदल नही जायेगा। प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावरूप स्वचतुष्टयरूप है और पर के चतुष्टय-रूप वह नही है,—ऐसा ही उसका अनेकान्तस्वरूप है। पर के चतुष्टय-रूप से आत्मा अभावरूप है, तो पर मे वह क्या करेगा ? अज्ञानी चिल्ल-पो मचाते हैं तो भले मचायें, किन्तु वस्तुस्वरूप तो ऐसा ही है। उसी प्रकार इस क्रमवद्धपर्याय के सम्बन्ध मे भी अज्ञानी अनेक प्रकार से विरुद्ध मानते हैं; वे विरुद्ध मानते हैं तो भले माने, उससे उनकी मान्यता मिथ्या होगी, किन्तु वस्तुस्वरूप तो जो है वही रहेगा, वह नही वदल सकता। ज्ञायक आत्मा एक साथ तीनकाल–तीनलोक को सम्पूर्णतया जानता है और जगत के समस्त पदार्थ क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होते हैं—ऐसा जो वस्तुस्वरूप है वह किसी से नही वदला जा सकता। ज्ञानी ऐसा वस्तुस्वरूप जानकर, ज्ञायकसन्मुख ज्ञानभावरूप से उत्पन्न होते हैं, अज्ञानी विपरीत मानकर मिथ्यादृष्टि होता है।

❁ प्रवचन : चौथा ❁

[आश्विन शुक्ला १०, वीर स. २४८०]

(६३) क्रमबद्ध में ज्ञायकसन्मुख निर्मल परिणमन की धारा प्रवाहित हो–उसीकी मुख्य बात है

इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार मे मुख्य बात यह है कि—अपने ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर जो विशुद्ध परिणाम उत्पन्न हुए उन्हीकी इसमे मुख्यता है, क्रमबद्धपरिणाम मे ज्ञानी को निर्मल परिणाम ही होते हैं। ज्ञानी स्वसन्मुख होकर श्रद्धा–ज्ञान–आनन्दादि के निर्मल

परिणमन की नियतधारा में परिणमित होता है, उसको क्रमबद्धपर्याय मे शुद्धता का प्रवाह चलता रहता है।

समस्त पदार्थों में मुख्य तो आत्मा का ज्ञानस्वभाव है; क्योंकि ज्ञान ही स्व-पर को जानता है। ज्ञानस्वभाव न हो तो स्व-पर को जानेगा कौन ? इसलिये ज्ञानस्वभाव ही मुख्य है। ज्ञानस्वभाव के निर्णय मे सात तत्त्वो का तथा देव-गुरु-शास्त्र का और क्रमबद्धपर्याय का निर्णय समा जाता है। यहाँ लोकालोक को जानने के सामर्थ्यरूप से ज्ञान परिणमित होता है और सामने लोकालोक ज्ञेयरूप से क्रमबद्ध परिणमित होते है, ऐसा ज्ञेय-ज्ञायक का मेल है किन्तु किसीके कारण कोई नही है। सब अपने-अपने क्रमबद्धप्रवाह मे स्वयं परिणमित हो रहे हैं।

(६४) ज्ञायकभाव के क्रमबद्धपरिणमन में सात तत्त्वों की प्रतीति

अपने क्रमबद्ध होनेवाले परिणामों के साथ तन्मय होकर प्रत्येक द्रव्य प्रतिसमय परिणमित हो रहा है; द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव चारों प्रतिसमय नई-नई पर्यायरूप से परिणमित हो रहे हैं। स्वस्वभावसन्मुख परिणमित आत्मा अपने ज्ञाताभाव के साथ अभेद है और राग से पृथक् है।—ऐसे आत्मा की प्रतीति जीवतत्त्व की सच्ची प्रतीति है।

मेरा ज्ञायकआत्मा ज्ञायकभावरूप से क्रमबद्ध उत्पन्न होता हुआ उसीमे तन्मय है, और अजीव मे तन्मय नही है—राग में तन्मय नहीं है;—ऐसी स्वसन्मुख प्रतीति मे साततत्त्वों की श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन आ जाता है।

(१) ज्ञायकभाव के साथ जीव की अभेदता है—ऐसी श्रद्धा हुई उसमें ज्ञायकस्वभावी जीव की प्रतीति आ गई।

(२) अपने ज्ञायकभाव की क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होनेवाले जीव का अजीव के साथ एकत्व नही है; तथा अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होनेवाले अजीव का जीव के साथ एकत्व नही है;—इस प्रकार अजीवतत्त्व की श्रद्धा भी आ गई।

(३–४) अब ज्ञायकभावरूप से परिणमित होनेवाला साधकजीव उस–उस काल के रागादि को भी जानता है;—किन्तु उन रागादि को अपने शुद्धजीव के साथ तन्मय नही जानता, उन्हें आस्रव–बंध के साथ तन्मय जानता है,—इस प्रकार आस्रव और बंध तत्त्वो की श्रद्धा भी आ गई।

(५–६) ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से अपने को श्रद्धा-ज्ञान-आनन्द आदि के निर्मल परिणाम होते हैं, वह संवर–निर्जरा है, उसे भी ज्ञानी जानते है, और इसलिये संवर—निर्जरा की प्रतीति भी आ गई।

(७) सवर–निर्जरारूप अंश में शुद्धपर्यायरूप से तो स्वयं परिणमित होता ही है, और पूर्ण शुद्धतारूप मोक्षदशा कैसी होती है—वह भी प्रतीति मे आ गया है, इसलिये मोक्षतत्त्व की श्रद्धा भी आ गई।

—इस प्रकार ज्ञायकभाव की क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित जीव को सातो तत्त्वों की प्रतीति आ गई है। ("क्रमबद्धपर्याय के निर्णय मे सातो तत्त्वो की श्रद्धा और जैनशासन"—इसके लिये देखिये आत्मधर्म अंक ११९–२० प्रवचन चौथा, नं० ९३—९५)

(९५) अज्ञानी के सातों तत्त्वों में भूल

(१–२) अज्ञानी को अपने ज्ञायकभाव की खबर नही है और शरीरादि अजीव की क्रमबद्धपर्यायों को मैं बदल सकता हूँ—ऐसा वह मानता है, यानी अजीव के साथ अपनी एकता मानता है, इसलिये उसकी जीव-अजीवतत्त्व की श्रद्धा मे भूल है।

(३–४) और जो शुभरागादि पुण्यभाव होते हैं वे आस्रव के साथ तन्मय है, उसके बदले उन्हे धर्म मानता है, यानी शुद्ध जीव के साथ एकमेक मानता है इसलिये उसकी आस्रव–बंध तत्त्वो की श्रद्धा मे भूल है।

(५–६) आत्मा की शुद्ध वीतरागीदशा संवर–निर्जरा है, उसके बदले पंचमहाव्रतादि के शुभराग को संवर–निर्जरा मानता है, इसलिये संवर–निर्जरा तत्त्व की श्रद्धा में भूल है।

(७) और मोक्ष का कारण भी उसने विपरीत माना इसलिये मोक्ष की श्रद्धा मे भी उसकी भूल है।

—इस प्रकार अज्ञानी की सातों तत्त्वों की श्रद्धा में भूल है।

(६६) भेदज्ञान का अधिकार

जीव–अजीव की क्रमबद्धपर्याय को पहिचाने तो उसमें भेदज्ञान और सातों तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा आ जाती है। इस प्रकार यह भेदज्ञान का अधिकार है।

(६७) "क्रमबद्धपर्याय" की उत्पत्ति अपनी अंतरंग योग्यता के सिवा अन्य किसी बाह्यकारण से नहीं होती

क्रमबद्धपर्याय कहो या "योग्यता" कहो, तदनुसार ही कार्य होता है। पर्याय की योग्यता स्वयं ही अंतरंगकारण है; दूसरा निमित्त तो बाह्यकारण है। अंतरंगकारण के अनुसार ही प्रत्येक कार्य होता है; बाह्यकारण से कार्य की उत्पत्ति नही होती। श्री षट्खण्डागम की धवलटीका मे वीरसेनाचार्यदेव ने इस सम्बन्ध मे अति अलौकिक स्पष्टीकरण किया है।

मोहनीय कर्म के परमाणु उत्कृष्ट ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक रहते है, जब कि आयुकर्म के परमाणुओं की स्थिति उत्कृष्ट ३३ सागरोपम की होती है:—ऐसी ही उस–उस कर्मप्रकृति की स्थिति है। कोई पूछे कि मोहकर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागर की और आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति मात्र ३३ सागर की ही:—ऐसा क्यों? तो षट्खण्डागम मे आचार्यदेव कहते है कि प्रकृतिविशेष होने से उस प्रकार स्थितिवन्ध होता है; अर्थात् उन-उन विशेषप्रकृतियो की वैसी ही अंतरंग योग्यता है, और उनकी योग्यतारूप अंतरंग–

कारण से ही वैसा कार्य होता है।—ऐसा कहकर वहाँ आचार्यदेव ने महान सिद्धान्त बतलाया है कि—"सर्वत्र अतरंगकारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है—ऐसा निश्चय करना चाहिये।"

दूसरा दृष्टान्त लें:—दसवें गुणस्थान में जीव को लोभ का सूक्ष्म अश और योग का कम्पन है; वहाँ उसे मोह और आयु को छोड़कर शेष छह कर्मो का बंध होता है; उनमे ज्ञानावरणादि की अंतर्मुहूर्त की स्थिति पड़ती है और सातावेदनीय की स्थिति १२ मुहूर्त की, तथा गोत्र और नामकर्म की स्थिति आठ मुहूर्त की बँधती है। छहों कर्मों का बन्ध एक साथ होने पर भी, स्थिति मे इस प्रकार अन्तर होता है। स्थिति मे क्यो ऐसा अन्तर होता है?—ऐसा प्रश्न उठने पर आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि "प्रकृतिविशेष होने से"—अर्थात् उस–उस मुख्य प्रकृति का अतरग कारण ही वैसा है, और उस अन्तरग कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है।

ऊपर भिन्न-भिन्न कर्म की भिन्न-भिन्न स्थिति के सम्बन्ध मे कहा उसी प्रकार "वेदनीय कर्म मे परमाणुओं की संख्या अधिक, और दूसरे कर्म मे थोडी—ऐसा क्यों?"—ऐसा प्रश्न कोई करे तो उसका भी यही समाधान है कि उन-उन प्रकृतियो का वैसा ही स्वभाव है। पर्याय का स्वभाव कहो, योग्यता कहो, या अन्तरंगकारण कहो—उसीसे कार्य की उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त बाह्यकारणो से कार्य की उत्पत्ति नही होती। यदि कभी बाह्यकारणो से कार्य की उत्पत्ति होती हो तो चावल के बीज मे से गेहूँ की उत्पत्ति होना चाहिए, किन्तु ऐसा कभी नही होता।

निमित्त तो बाह्यकारण है। उस बाह्यकारण के कोई द्रव्य-क्षेत्र-काल या भाव ऐसे सामर्थ्यवान नही हैं कि जिनके बल से नीम के वृक्ष से आमो की पैदावार हो, या चावल के पौधे से गेहूँ की उत्पत्ति हो अथवा जीव मे से अजीव हो जाये। यदि बाह्यकारणा-नुसार कार्य की उत्पत्ति होती हो, तब तो अजीव के निमित्त से जीव

भी अजीवरूप हो जायेगा।—किन्तु ऐसा कभी नही होता; क्योंकि बाह्यकारण से कार्य की उत्पत्ति नही होती; अन्तरंगकारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है। (देखो, षट्खण्डागम पुस्तक ६– पृष्ठ १६४)

(६८) निमित्त और नैमित्तिक की स्वतंत्रता

द्रव्य मे किस समय परिणमन नही है?—और जगतमे किस समय निमित्त नही है?—जगत के प्रत्येक द्रव्य मे प्रतिसमय परिणमन हो ही रहा है और निमित्त भी सदैव होता ही है;–तब फिर इस निमित्त के कारण यह हुआ–यह बात कहाँ रहती है? और निमित्त न हो तो नही हो सकता—यह प्रश्न भी कहाँ रहता है? यहाँ कार्य होने में और सामने निमित्त होने मे कही समयभेद नही है। निमित्त का अस्तित्व कही नैमित्तिककार्य की पराधीनता नही बतलाता; किन्तु निमित्त किसका?—कहते हैं नैमित्तिककार्य हुआ उसका,—इस प्रकार वह नैमित्तिक को प्रगट करता है।—ऐसी निमित्त –नैमित्तिक की स्वतत्रता भी जो न जाने उसे स्व–पर का भेदज्ञान नही है और अंतर में ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि तो उसे होती ही नही। यहाँ तो ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि होने से निमित्त के साथ का सम्बन्ध टूट जाता है—ऐसी सूक्ष्म बात है। ज्ञानी की दृष्टि मे कर्म के साथ का निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध छूट गया है।

(६९) ज्ञायकदृष्टि में ज्ञानी का अकर्तृत्व

ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होनेवाले जीव को परके साथ कार्य-कारणपना नही है; अर्थात् वह नवीन कर्मबन्धन मे निमित्त नही होता और पुराने कर्मो को निमित्त नही बनाता। कोई पूछे कि—राग का तो कर्ता है न? तो कहते हैं कि नही, राग पर दृष्टि न होने से ज्ञानी राग के कर्ता नही है; ज्ञायकदृष्टि मे ज्ञायकभावरूप भी उत्पन्न हों—और रागरूप भी उत्पन्न हो ऐसा नही होता। ज्ञायक तो ज्ञायकरूप से ही उत्पन्न होता है—रागरूप से उत्पन्न नही होता, राग के ज्ञातारूप से उत्पन्न होता है।

(७०) जीव के निमित्त बिना पुद्‌गल ता परिणमन

प्रश्नः—पुद्‌गल तो अजीव है, कहीं जीव के निमित्त बिना उसकी अवस्था हो सकती है ?

उत्तरः—भाई ! जगत मे अनन्तानन्त ऐसे सूक्ष्म परमाणु—पृथक् तथा स्कन्धरूप—है कि जिनको परिणमन मे कालद्रव्य ही निमित्त है, जीव का निमित्तपना नही है। जीव के साथ निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध तो अमुक पुद्‌गलस्कन्धो को ही है, किन्तु उनसे अनत-गुने परमाणु तो जीव के साथ निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध बिना ही परिणमित हो रहे हैं। एक पृथक् परमाणु एक अश मे से दो अश रूखेपन या चिकनेपनरूप परिणमित हो, वहाँ कौन-सा जीव निमित्त है !—उसे मात्र कालद्रव्य ही निमित्त है। अज्ञानी को सयोग मे से ही देखने की दृष्टि है इसलिये वह वस्तु के स्वाधीन परिणमन को नही देखता। (निमित्त न हो तो ?.. क्या निमित्त के बिना हो सकता है ?—इत्यादि प्रश्नो के स्पष्टीकरण के लिये अङ्क नं० ११९-१२० मे पहली बार के प्रवचनोमे न० १००-१०१, ११४ और १५० देखिये।)

(७१) ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होनेवाला ज्ञानी कर्म का निमित्तकर्ता भी नहीं है

यहाँ तो "सर्वविशुद्धज्ञान" की यानी जीव के स्वभाव की बात चल रही है। जीव का ज्ञानस्वभाव है वह पर का अकर्ता है।—निमित्तरूप से भी वह पर का अकर्ता है। पर मे यहाँ मुख्यरूप से मिथ्यात्वादि कर्मो की बात है। ज्ञानस्वभावरूप से उत्पन्न होनेवाले जीव को मिथ्यात्वादि कर्मों का निमित्तकर्तापना भी नही है। जीव को अजीव के साथ उत्पाद्य-उत्पादकभाव का अभाव है, इसलिये जीव अपने ज्ञायकस्वभावरूप से उत्पन्न होता हुआ, निमित्त होकर जड कर्म को भी उत्पन्न करे—ऐसा कभी नही होता।

सर्व द्रव्यो को दूसरे द्रव्यों के साथ उत्पाद्य-उत्पादकभाव का अभाव है। प्रत्येक द्रव्य अपने क्रमबद्धपरिणाम का उत्पादक है किन्तु

दूसरे के परिणाम का उत्पादक नहीं है। जैसे कि—कुम्हार अपने हाथ की हलन-चलनरूप अवस्था का उत्पादक है, किन्तु मिट्टी मे से जो घड़ारूप अवस्था हुई उसका वह उत्पादक नही है, उसका उत्पादक तो मिट्टी ही है;—मिट्टी स्वय ही उस अवस्था में तन्मय होकर घड़ारूप से उत्पन्न हुई है—कुम्हार नहीं। उसी प्रकार जीव अपने क्रमबद्ध ज्ञानादिपरिणामों का उत्पादक है, किन्तु अजीव का उत्पादक नहीं है। ज्ञानस्वभाव में तन्मय होकर ज्ञानभावरूप से उत्पन्न होनेवाला जीव अपने ज्ञानपरिणाम का उत्पादक है, किन्तु रागादि का उत्पादक नही है; क्योंकि वह रागादि के साथ तन्मय होकर उत्पन्न नही होता; और रागादि का उत्पादक न होने से कर्मबंधन मे वह निमित्त भी नही है; इस प्रकार वह जीव अकर्ता ही है। यह सारा विषय अन्तर्दृष्टि का है। अतर् की ज्ञायकदृष्टि के बिना ऐसा अकर्तापना या क्रमबद्धपना समझ में नही आ सकता।

(७२) ज्ञानी को कैसा व्यवहार होता है, और कैसा नहीं होता ?

देखो, तत्त्वार्थसूत्र (अध्याय ५, सूत्र २१) मे जीव के परस्पर उपकार की बात की है। वहाँ उपकार का अर्थ "निमित्त" है। एक जीव ने दूसरे का उपकार किया—ऐसा निमित्त से कहा जाता है। किन्ही ज्ञानीगुरु के निमित्त से अपूर्व आत्मज्ञान की प्राप्ति हो, वहाँ ऐसा कहा जाता है कि—"अहो ! इन गुरुदेव का मुझपर अनंत उपकार हुआ..." यद्यपि गुरु कही शिष्य के ज्ञान के उत्पादक नही हैं, तथापि वहाँ तो विनय के लिये निमित्त से गुरु का उपकार कहा जाता है; लेकिन उसी प्रकार यहाँ ज्ञानी को तो मिथ्यात्वादि कर्मो के साथ ऐसा निमित्त-नैमित्तिकभाव भी लागू नही होता। ज्ञानी निमित्त होकर मिथ्यात्वादि कर्मों की उत्पत्ति करें—ऐसा नही होता। "अहो ! गुरु ही मेरे ज्ञान के उत्पादक है, गुरु ने ही मुझे ज्ञान दिया, गुरु ने ही आत्मा दिया"—ऐसा गुरु के उपकार के निमित्त से कहा जाता है—ऐसा व्यवहार तो ज्ञानी के होता है, किन्तु निमित्त होकर मिथ्यात्वादि कर्म के उत्पादक हों—ऐसा व्यवहार ज्ञानी को लागू नही

होता। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से निश्चय अकर्तृत्व को जान लें, तब भूमिकानुसार कैसा व्यवहार होता है उसकी खबर पडे। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि के बिना जो अकेले व्यवहार को जानने जाये, वह अधा है; स्व–परप्रकाशकज्ञान जागृत हुए बिना व्यवहार को जानेगा कौन ? अज्ञानी तो व्यवहार को जानते हुए उसीको आत्मा का परमार्थस्वरूप मान लेता है, इसलिये उसे निश्चय या व्यवहार का सच्चा ज्ञान नही होता। ज्ञाता जागृत हुआ वही व्यवहार को यथावत् जानता है।

(७३) "मूलभूत ज्ञानकला" कैसे उत्पन्न होती है ?

मूलभूत भेदज्ञान क्या वस्तु है, उसे लोग भूल गये हैं। पं० बनारसीदासजी कहते हैं कि:—

चेतनरूप अनूप अमूरति, सिद्धसमान सदा पद मेरो।
मोह महातम आतम अंग, कियो परसग महातम घेरो॥
ज्ञानकला उपजी अब मोहि, कहूँ गुन नाटक आगम केरो।
जासु प्रसाद सधे सिवमारग, वेगि मिटे भववास वसेरो॥११॥

—इसमे कहते है कि मेरे ज्ञानकला उत्पन्न हुई, किस प्रकार उत्पन्न हुई ? क्या किसी बाह्यसाधन से या व्यवहार के अवलम्बन से ज्ञानकला उत्पन्न हुई ? नही, अन्तर मे मेरा स्वरूप सिद्धसमान चैतन्यमूर्ति है—उसीके अवलम्बन से भेदज्ञानरूपी अपूर्व ज्ञानकला उत्पन्न हुई, जैसे सिद्धभगवान ज्ञायकबिम्ब हैं, उसी प्रकार मेरा स्वभाव भी ज्ञायक ही है,—इसप्रकार ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि और अनुभव से ज्ञानकला उत्पन्न हुई। इसके सिवा अन्य रीति माने तो वह सिद्ध-भगवान या पंचपरमेष्ठीपद को नही मानना है।

(७४) "व्यवहार का लोप !!"–लेकिन किस व्यवहार का ? और किसे ?

अरे ! इसमे तो व्यवहार का लोप हो जायेगा !!—ऐसा कोई पूछे तो उसका उत्तर:—"भाई ! कौन से व्यवहार का लोप होगा ? प्रथम तो बाह्य मे शरीरादि जड़ की क्रिया तो आत्मा की कभी

है ही नहीं; इसलिये उसके लोप होने—न होने का प्रश्न ही नही रहता। अज्ञानी को विपरीतदृष्टि में कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिकपने का व्यवहार रहता है; इस ज्ञायकदृष्टि में मिथ्यात्वादि कर्म के कर्तृत्वरूप उस व्यवहार का लोप हो जाता है। अज्ञानी को व्यवहार का अभाव नही करना है, किन्तु अभी व्यवहार रखना है; इसलिये कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिकसंबंध का व्यवहारसंबंध रखकर उसे संसार में भटकना है—ऐसा उसका अर्थ हुआ। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से कर्म के साथ का निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध तोड़ डाला वहाँ दृष्टि-अपेक्षा से तो सम्यक्त्वी मुक्त ही है। इस प्रकार दृष्टि में व्यवहार का निषेध करने के पश्चात् साधकपने मे जिस-जिस भूमिका में जैसा-जैसा व्यवहार होता है उसे वह सम्यक्ज्ञान द्वारा जानता है। और पश्चात् भी, ज्ञायकस्वभाव मे एकाग्रता द्वारा शुभरागरूप व्यवहार का अभाव होगा तो वीतरागता होगी। किन्तु व्यवहार के अवलम्बन की ही जिसे रुचि और उल्लास है उसे तो ज्ञायकस्वभावोन्मुख होकर सम्यग्दर्शन करने का भी अवकाश नही है। अन्तर में ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन बिना अपनी क्रमबद्धपर्याय में सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें नही होती। ज्ञानी तो अपने ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से ही सम्यग्दर्शनादि निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूप परिणमित होता है, उसका नाम धर्म और मुक्ति का मार्ग है।

प्रवचन पाँचवाँ

[आश्विन शुक्ला ११, वीर स० २४८०]

(७५) क्रमबद्धपर्याय कब की है ?—और वह कब निर्मल होती है ?

आत्मा ज्ञायकस्वभाव है, वह पर का अकर्ता है; यह बतलाने के लिये क्रमबद्धपर्याय की बात चल रही है।

प्रश्नः—यह क्रमबद्धपर्याय कब से चल रही है ?

उत्तरः—अनादि से चल रही है। जिस प्रकार द्रव्य अनादि है, उसी प्रकार उसकी पर्याय का क्रम भी अनादि से चल ही रहा है। जितने तीनकाल के समय है उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें है।

प्रश्नः—अनादिकाल से क्रमबद्धपर्याय हो रही है, तथापि अभी निर्मल पर्याय क्यों नही हुई ?

उत्तरः—समस्त जीवों को अनादि से क्रमबद्धपर्याय हो रही है, तथापि ज्ञायक की ओर के सच्चे पुरुषार्थ बिना निर्मल पर्याय हो जाये—ऐसा कभी नही होता। विपरीत पुरुषार्थ हो वहाँ क्रमबद्धपर्याय भी विकारी ही होती है। अज्ञानी को ज्ञायकस्वभाव के भान बिना क्रमबद्धपर्याय की सच्ची प्रतीति नही है, और ज्ञायकस्वभाव के पुरुषार्थ बिना निर्मल पर्याय नही होती। ज्ञानी को अपने ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति होने से क्रमबद्धपर्याय की भी सच्ची प्रतीति है, और ज्ञायक-स्वभावसन्मुख के पुरुषार्थ द्वारा उसे निर्मल क्रमबद्धपर्याय होती है। इस प्रकार ज्ञायकस्वभावसन्मुख का पुरुषार्थ करने का यह उपदेश है—ऐसा समझे वही क्रमबद्धपर्याय को समझा है।

(७६) क्रमबद्धपर्याय के निर्णय का मूल

"क्रमबद्धपर्याय रूप से उत्पन्न होता है. ."
—कौन उत्पन्न होता है ?
"द्रव्य उत्पन्न होता है "
—कैसा द्रव्य ?
"ज्ञायकस्वभावी द्रव्य।"

जिसे ऐसे द्रव्यस्वभाव की सन्मुखता हो उसीको क्रमबद्धपर्याय यथार्थ समझ मे आती है। इस प्रकार ज्ञायकस्वभाव की सन्मुखता ही क्रमबद्धपर्याय के निर्णय का मूल है।

(७७) इस समय पर्याय का पर में "अकर्तृत्व" सिद्ध करने की मुख्यता है, पर में निरपेक्षता सिद्ध करने की मुख्यता नहीं है

यहाँ, पर्याय का पर में अकर्तृत्व बतलाना है, इसलिये "द्रव्य

उत्पन्न होता है"—यह बात की है। द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, और उत्पन्न होता हुआ उस पर्याय में वह तन्मय है,—इस प्रकार द्रव्य-पर्याय दोनों की अभेदता बतलाकर पर का अकर्तृत्व सिद्ध किया है।

जब सामान्यधर्म और विशेषधर्म—ऐसे दोनों धर्म ही सिद्ध करना हों तब तो ऐसा कहा जाता है कि पर्याय तो पर्यायधर्म से ही है—द्रव्य के कारण नही है। क्योंकि यदि सामान्य और विशेष (द्रव्य और पर्याय) दोनों धर्मो को निरपेक्ष न मानकर सामान्य के कारण विशेष मानें तो विशेषधर्म की हानि होती है; इसलिये पर्याय भी अपने से सत् है।—पर्यायधर्म को निरपेक्ष सिद्ध करना हो तब इस प्रकार कहा जाता है।

❀ श्री समन्तभद्रस्वामी "आप्तमीमांसा" मे कहते हैं कि—

(श्लोक : ७३)—जो धर्म धर्मी आदि के एकान्त करि आपेक्षिक सिद्धि मानिए, तो धर्म धर्मी दोऊ ही न ठहरे। बहुरि अपेक्षा विना एकान्त करि सिद्धि मानिए तो सामान्य विशेषपणां न ठहरे।

(श्लोक : ७५) धर्म अरु धर्मी के अविनाभाव है सो तो परस्पर अपेक्षा करि सिद्ध है; धर्म विना धर्मी नांही। बहुरि धर्म धर्मी का स्वरूप है सो परस्पर अपेक्षा करि सिद्ध नाही है, स्वरूप है सो स्वतः-सिद्ध है।

❀ प्रवचनसार की १७२ वी गाथा मे "अलिंगग्रहण" के अर्थ मे कहा है कि—"×××इस प्रकार आत्मा द्रव्य से न आलिगत ऐसा शुद्ध पर्याय है।"

❀ फिर १०१ वी गाथा में कहते हैं कि—"अंशी ऐसे द्रव्यके नष्ट होता हुआ भाव, उत्पन्न होता हुआ भाव और अवस्थित रहता हुआ भाव, इन स्वरूप तीन अंश—भग-उत्पादक-ध्रौव्य-स्वरूप-निज-धर्मो द्वारा आलम्बित एक साथ ही भासित होते हैं।" व्यय नष्ट होते

हुए भाव के आश्रित है; उत्पाद उत्पन्न होते हुए भाव के आश्रित है और ध्रौव्य अवस्थित रहते हुए भाव के आश्रित है।

❀ फिर श्री अमितगति आचार्यकृत योगसार में कहते हैं कि—

ज्ञानदृष्टि चारित्राणि ह्रियंते नाक्षगोचरैः।
क्रियन्ते न च गुर्वाद्यैः सेव्यमानैरनारतं ॥१८॥
उत्पद्यते विनश्यन्ति जीवस्य परिणामिनः।
ततः स्वयं स दाता न परतो न कदाचन ॥१६॥

—इसमे कहते हैं कि आत्मा में ज्ञानादिक की हीनता या अधिकता अपनी पर्याय के कारण ही होती है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र का न तो इद्रियो के विषय से हरण होता है, और न तो गुरुओ की निरन्तर सेवा से उनकी उत्पत्ति होती है; परन्तु जीव स्वय परिणमन-शील होनेसे प्रतिसमय उसके गुणों की पर्याय बदलती है,—मतिज्ञानादिक पर्यायों की उत्पत्ति और विनाश होता रहता है; इसलिये मतिज्ञानादि का उत्पाद या विनाश, पर से भी नही है और द्रव्य स्वयं भी उसका दाता नही है। प्रतिसमय पर्याय की योग्यता से पर्याय होती है; सामान्य द्रव्य को उसका दाता कहना वह सापेक्ष है, पर्याय को निरपेक्षरूप से देखें तो वह पर्याय स्वयं वैसी परिणमित हुई है। उस समय का पर्यायधर्म ही वैसा है। सामान्यद्रव्य को उसका दाता कहना वह सापेक्ष है, किन्तु द्रव्य-पर्याय की निरपेक्षता के कथन मे यह बात नही आती। निरपेक्षता के बिना एकान्त सापेक्षता ही मानें तो सामान्य-विशेष दो धर्म ही सिद्ध नही हो सकते।

❀ प्रवचनसार की १६ वी गाथा मे आचार्यदेव कहते हैं कि—शुद्धोपयोग से होनेवाली शुद्धस्वभाव की प्राप्ति अन्य कारकों से निरपेक्ष होने से अत्यन्त आत्माधीन है। शुद्धोपयोग से केवलज्ञान की प्राप्ति हो उसमे आत्मा स्वयमेव छह कारकरूप होता है इसलिये "स्वयंभू" कहा जाता है। द्रव्य स्वयं ही अपनी अनन्त शक्तिरूप सम्पदा

से परिपूर्ण है इसलिये स्वयं ही छह कारकरूप होकर अपना कार्य उत्पन्न करने में समर्थ है; उसे बाह्यसामग्री कुछ भी सहायता नही दे सकती। अहो! प्रत्येक पर्याय के छहों कारक स्वतंत्र हैं।

❀ षट्खण्डागम–सिद्धान्त में भी कहा है कि—"सर्वत्र अन्तरंगकारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है—ऐसा निश्चय करना चाहिये।" वहाँ अन्तरंगकारण कहने से पर्याय की योग्यता बतलाना है। भिन्न-भिन्न कर्मों के स्थितिबंध में हीनाधिकता क्यों है?—ऐसे प्रश्न के उत्तर मे सिद्धांतकार कहते हैं कि—प्रकृतिविशेष होने से, अर्थात् उस–उस प्रकृति का वैसा ही विशेषस्वभाव होने से, इस प्रकार हीनाधिक स्थितिबंध होता है; उसकी योग्यतारूप अन्तरंगकारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है, बाह्यकारणो से कार्य की उत्पत्ति नही होती।

—(विशेष के लिये देखिये—इस का ही चौथा प्रवचन, नं. ६७)

❀ (यहाँ समयसार गाथा ३०८ से ३११ में) कहते हैं कि—अन्य द्रव्य से निरपेक्षरूप से, स्वद्रव्य मे ही कर्ता–कर्म की सिद्धि है, और इसलिये जीव पर का अकर्ता है।

इस समय इस चालू अधिकार में पर्याय की निरपेक्षता सिद्ध करने की मुख्यता नही है, किन्तु प्रत्येक द्रव्य को अपनी क्रमबद्धपर्याय के साथ तन्मयता होने से पर के साथ उसे कर्ताकर्मपना नही है—इस प्रकार अकर्तृत्व सिद्ध करके, "ज्ञायक आत्मा कर्म का अकर्ता है"—ऐसा बतलाना है। क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होनेवाले द्रव्य को अपनी पर्याय के साथ अभेदता है। ज्ञायकआत्मा स्वसन्मुख होकर निर्मल पर्यायरूप से उत्पन्न हुआ उसमें वह तन्मय है, किन्तु रागादि मे तन्मय नही है, इसलिये वह रागादि का कर्ता नही है और कर्मों का निमित्तकर्ता भी नही है। इस प्रकार आत्मा अकर्ता है।

(७८) साधक को चारित्र की एक पर्याय में अनेक बोल; उसमें वर्तता हुआ भेदज्ञान; और उसके दृष्टान्त से निश्चय-व्यवहार का आवश्यक स्पष्टीकरण

साधकदशा मे ज्ञानी को श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रादि अनंत गुणों की पर्यायें स्वभाव के अवलंबन से निर्मल होती जाती हैं। यद्यपि अभी चारित्रगुण की पर्याय से अमुक रागादि भी होते हैं, परन्तु ज्ञानी को उनमें एकता नही है, इसलिये वास्तव मे उनके रागादि का कर्तृत्व नही है। चारित्र की पर्याय मे जो रागादि हैं उन्हे वे आस्रव—बंध का कारण समझते है और स्वभाव के अवलबन से जो शुद्धता हुई है उसे संवर–निर्जरा मानते हैं;—इस प्रकार आस्रव और संवर को भिन्न–भिन्न जानते हैं।

देखो, ज्ञानी को चारित्र गुण की एक पर्याय मे सवर-निर्जरा, आस्रव और बध—यह चारों प्रकार एकसाथ वर्तते हैं, उनमे समय-भेद नही है, एक ही पर्याय में एकसाथ चारों प्रकार वर्तते है, तथापि उनमे जो आस्रव है वह संवर नही है, और सवर है वह आस्रव नही है। और उनके कर्ता–कर्म आदि छहो कारक स्वतत्र हैं। जो सवर का कर्तृत्व है वह आस्रव का नही है, और जो आस्रव का कर्तृत्व है वह संवर का नही है।

आस्रव, बध, सवर और निर्जरा—ऐसे चारो प्रकार एक-साथ तो चारित्रगुण की पर्याय मे ही होते हैं, और वह साधक के ही होती है।

अहो, एक पर्याय में आस्रव और सवर दोनों एकसाथ वर्तें, तथापि दोनों के छह कारक भिन्न! अभी जो बाह्यकारणो से आस्रव या संवर मानता हो, वह अन्तरंग सूक्ष्म भेदज्ञान की यह बात कहाँ से समझेगा? आस्रव के कारण आस्रव, और सवर के कारण संवर,—दोनो एकसाथ हैं तथापि दोनो के कारण भिन्न हैं। यदि आस्रव के कारण संवर माने तो वह मिथ्यादृष्टि है।

—इसी प्रकार, व्यवहार और निश्चय दोनों एकसाथ (साधक को) होते है; किन्तु वहाँ व्यवहार के कारण निश्चय माने, अथवा ऐसा माने कि व्यवहारसाधन करते करते उससे निश्चय प्रगट हो जायेगा, तो वह भी मिथ्यादृष्टि है, उसे आस्रव और संवर तत्त्व की खबर नही है। व्यवहार रत्नत्रय का जो शुभराग है वह तो आस्रव है, और निश्चय सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप जो मोक्षमार्ग है वह संवर–निर्जरा है; आस्रव और सवर दोनों भिन्न–भिन्न तत्त्व हैं, दोनों के कारण भिन्न है। उसके बदले जिसने व्यवहार के कारण निश्चय होना माना, उसने आस्रव से संवर माना है; आस्रव और सवर तत्त्व को भिन्न न मानकर एक माना, इसलिये उसके तत्त्वार्थश्रद्धान मे ही भूल है—वह मिथ्यादृष्टि है।

(७९) क्रमबद्धपर्याय की गहरी बात !

यहाँ तो ज्ञायकदृष्टि की सूक्ष्म बात है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में ज्ञानी निर्मल पर्याय के ही कर्तारूप से परिणमित होता है। अन्य कारकों से निरपेक्ष होकर, अपने–अपने स्वभाव के ही छहो कारकों से श्रद्धा–ज्ञान–आनन्दादि अनन्तगुण ज्ञायक के अवलम्बन से निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूप से ज्ञानी के परिणमित हो रहे हैं, इसका नाम अभूत-पूर्व धर्म है और यही मुक्ति का मार्ग है। ज्ञायकस्वभाव के ही अवलम्बन बिना, राग के या व्यवहार के अवलम्बन से मोक्षमार्ग माने तो वह जीव आत्मा के ज्ञायकस्वभाव को, केवलीभगवान को या सात तत्त्वो को नही जानता है। निर्मल पर्याय की क्या स्थिति है अर्थात् किस प्रकार क्रमबद्धपर्याय निर्मल होती है उसे भी वह नही जानता, इसलिये वास्तव मे वह क्रमबद्धपर्याय नही जानता। भाई, यह तो बड़ी गहरी बात है।

(८०) "मोती ढूँढ़नेवाला" (गोताखोर) गहरे पानी में उतरता है; उसी प्रकार जो गहराई तक उतरकर यह बात समझेगा वह निहाल हो जायेगा !

प्रश्नः—गहरे पानी मे उतरने में डूब जाने का डर है ?!

उत्तरः—इस पानी में उतरे तो विकार का मैल धुल जाये; इस गहरे पानी में उतरे बिना वस्तु हाथ मे नही आ सकती। समुद्र में से मोती ढूढने के लिये भी गहरे पानी मे उतरना पडता है; किनारे पर खड़े-खड़े हाथ लम्बाये तो मोती हाथ मे नही आ सकते। उसी प्रकार अतर के ज्ञायकस्वभाव की और क्रमबद्धपर्याय की यह बात अन्तर मे गहराई तक उतरे बिना समझ मे नही आ सकती। यह तो अलौकिक बात प्रगट हो गई है, जो समझेगा वह निहाल हो जायेगा।

"सहेजे समुद्र उल्लसियो त्यां मोती तणाया जाय'
भाग्यवान कर वापरे तेनी मूठी मोतीए भराय।"

यहाँ "भाग्यवान" अर्थात् अन्तर के पुरुषार्थवान ! अन्तर्-स्वभाव की दृष्टि का प्रयत्न करे उसकी मुट्ठी मोतियो से भर जाये अर्थात् निर्मल-निर्मल क्रमबद्धपर्यायें होती जायें; किन्तु जो ऐसा प्रयत्न नही करता उसके लिये कहते है कि—

"भाग्यहीन कर वापरे तेनी शखले मूठी भराय"

समझने का प्रयत्न करके अन्तर मे न उतरे और यो ही अकेले शुभभाव मे रुका रहे तो उसकी "शखले से मूठी भराय" यानी पुण्यबंध हो किन्तु स्वभाव की प्राप्ति नही हो सकती—धर्म का लाभ नही हो सकता।

(८१) केवलज्ञान की खड़ी

यह तो केवलज्ञान की खड़ी है। आज से पचास-साठ वर्ष पहले जब पाठशाला मे पढने जाते थे तब सब से पहले "सिद्धो वर्ण समाम्नाय"—ऐसा रटाते थे, यानी "वर्णोच्चार का समुदाय स्वयं-सिद्ध—अनादि से चला आ रहा है, वही हम सिखलायेगे"—ऐसा इसका अर्थ है। उसी प्रकार यहाँ भी जो बात कही जा रही है वह अनादि केवलज्ञान से सिद्ध हो गई है। और जो खडी सिखाते थे उस मे ऐसा भी आता था कि—"कक्का केवली का" उसी प्रकार यहाँ

भी यह केवलज्ञान की खड़ी सिखाई जा रही है। इसे समझे बिना धर्म का प्रारम्भ नहीं होता। "खड़ी" में ही केवलज्ञान की बात करते हुए "ब्रह्मविलास" में कहा है कि—

"कक्का" कहे करन वश कीजे, कनक कामनी दृष्टि न दीजे।
करिके ध्यान निरंजन गहिये, "केवलपद" इहि विधिसों लहिये ॥

(८२) क्रमबद्धपर्याय ही वस्तुस्वरूप है

देखो, यह क्रमबद्धपर्याय वस्तु का स्वरूप है; ज्ञायक का स्वभाव सब व्यवस्थित जानने का है और ज्ञेयों का स्वभाव व्यवस्थित क्रमबद्ध नियमित पर्याय से परिणमित होने का है। इस प्रकार इसमे यथार्थ वस्तुस्थिति का निर्णय आ जाता है; इससे विपरीत माने तो वह वस्तुस्वरूप को नहीं जानता।

कोई ऐसा कहे कि—"निश्चय से तो पर्यायें क्रमबद्ध है, किंतु व्यवहार से अक्रम है"—तो वह बात मिथ्या है।

और कोई ऐसा कहे कि—"केवली भगवान के लिये सब क्रमबद्ध है क्योकि उन्हे तो तीनकाल का पूर्ण ज्ञान है, किन्तु छद्मस्थ के लिये अक्रमबद्ध है क्यो कि उसे तीनकाल का पूर्ण ज्ञान नही है"—तो यह बात भी मिथ्या है। इसकी मान्यता केवली से विपरीत हुई। कही केवली के लिये अलग वस्तुस्वरूप हो और छद्मस्थ के लिये अलग—ऐसा नही है।

(८३) क्रमबद्धपर्याय में निश्चय-व्यवहार की संधि, निमित्त-नैमित्तिक की संधि;—आदि संबंधी आवश्यक स्पष्टीकरण और तत्संबंधी स्वच्छन्दियों की विपरीत कल्पनाओं का निराकरण

और क्रमबद्धपर्याय मे ऐसा भी नही है कि वस्त्रादि सहित दशा मे भी मुनित्व का या केवलज्ञान का क्रम आ जाये! आत्मा मे मुनिदशा का क्रम हो वहाँ शरीर मे दिगम्बरदशा ही होती है। वस्त्रों

का छोड़ना कही जीव का कार्य नहीं है किन्तु उस समय ऐसी ही दशा होती है। मुनिदशा का स्वरूप इससे विपरीत माने तो उसे निश्चयव्यवहार की कोई खबर नही है, तथा क्रमबद्धपर्याय के नियम की या देव-गुरु के स्वरूप की खबर नही है।

और जहाँ मुनिपना होता है वहाँ, खड़े-खडे हाथ मे ही आहार लेने की क्रिया होती है; पात्रादि मे आहार की क्रिया वहाँ नही होती; तथापि वहाँ अजीव की (हाथ की या आहार की) वैसी पर्याय जीव ने उत्पन्न की है—ऐसा नही है; इसी प्रकार सदोष आहार के त्यागादि में भी समझ लेना चाहिये। उस-उस दशा मे ऐसा ही सहज निमित्त-नैमित्तिकमेल होता है, उसका मेल नही टूटता, और जीव ज्ञायक मिटकर अजीव का कर्ता भी नही होता। ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करे तो अजीव के कर्तृत्व का सब भ्रम छूट जाये और मिथ्यात्वादि कर्मों का निमित्तकर्तापना भी न रहे।

ऊपर जैसा मुनिदशा के सम्बन्ध मे कहा है वैसी ही समस्त पर्यायो मे यथायोग्य समझना चाहिये। जैसे कि—सम्यक्त्वी के मासादि का आहार होता ही नही। यहाँ जीव को सम्यग्दर्शनपर्याय का क्रम हो और सामने मांसादि का आहार भी हो—ऐसा कभी नही होता। तिर्यंच—सिह आदि को जब सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है, तब उनको भी मांसादि का आहार छूट ही जाता है,—ऐसा ही उस भूमिका का स्वरूप है। तथापि पर की क्रिया का उत्पादक आत्मा नही है, ज्ञायक तो पर का अकर्ता ही है।

"हम तो सम्यक्त्वी हैं, अथवा हम तो मुनि हैं; फिर बाह्य मे भले ही चाहे जैसे आहारादि का योग हो"—ऐसा कहे तो वह मिथ्यादृष्टि स्वच्छन्दी ही है। किस भूमिका मे कैसा व्यवहार होता है, वैसा निमित्त होता है, तथा कैसे निमित्त और कैसा राग छूट जाता है उसकी उसे खबर नही है।—ऐसे स्वच्छन्दी जीव को क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति या सम्यग्दर्शनादि नही होते; फिर मुनिदशा तो होगी ही कहाँ से ?

ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि मे निर्मल-निर्मल क्रमवद्धपर्यायें होती जाती हैं और उन–उन पर्यायों मे योग्य निमित्त होता है वह भी क्रमवद्ध है; इसलिये "निमित्त जुटाऊँ"—यह बात नही रहती। जैसे कि—"मुनिदशा मे निमित्तरूप से निर्दोष आहार ही होता है, इसलिये निर्दोष आहार का निमित्त जुटाऊँ तो मेरी मुनिदशा वनी रहेगी"—ऐसा कोई माने उसकी निमित्ताधीन दृष्टि है। स्वभाव में एकाग्रता से मुनिदशा स्थित रहती है उसके बदले सयोग के आधार से मुनिदशा मानता है उसकी दृष्टि ही विपरीत है। निमित्त को जुटाना नही पडता, किन्तु सहजरूप से उसी प्रकार का निमित्त होता है; निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध सहज ही बन जाता है।—"अपने को जैसा कार्य करने की इच्छा हो, तदनुसार निमित्त जुटाना चाहिये"—ऐसा माने तो उसे ज्ञानस्वभाव की या क्रमवद्धपर्याय की श्रद्धा कहाँ रही ?—उसके तो अभी इच्छा का और निमित्त का कर्तृत्व विद्यमान है। अरे भाई ! निमित्तो को जुटाना या दूर करना कहाँ तेरे हाथ की वात है ? निमित्त तो परद्रव्य है, उसकी क्रमवद्धपर्याय तेरे आधीन नही है।

(८४) "ज्ञा...य...क" क्या करता है ?

ज्ञायक क्रमवद्ध अपने ज्ञायकप्रवाह की धारारूप से उत्पन्न होता है; ज्ञायकरूप से उत्पन्न होता हुआ वह किसे लेगा ? किसे छोड़ेगा ? या किसे वदलेगा ? ज्ञायक तो ज्ञायकभाव का ही कर्ता है, पर का अकर्ता है। यदि दूसरे का कर्ता होने जाये तो यहाँ अपने मे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नही रहती इसलिये मिथ्यादृष्टिपना हो जाता है। ज्ञायक पर का ज्ञाता भी व्यवहार से है; निश्चय से (तन्मयरूप से) स्वयं ज्ञायक का ज्ञाता है। ज्ञायकसन्मुख एकाग्रता मे परज्ञेय का भी ज्ञान हो जाता है, किन्तु पर का उत्पादक नही है। इस प्रकार ज्ञायक आत्मा अकर्ता है। सर्वज्ञभगवान स्व-पर के "ज्ञायक" है, ज्ञेयों को जैसे का तैसा प्रसिद्ध करते हैं इसलिये "ज्ञापक" भी हैं, और अपने "कारक" भी हैं; किन्तु पर के कारण नही हैं। पर के ज्ञायक तो हैं

किन्तु कारक नही हैं।—इस प्रकार समस्त आत्माओं का ऐसा ज्ञायकस्वभाव है और पर का अकर्तृत्व है।—यह बात यहाँ समझाई है।

(८५) ज्ञायकस्वभाव की दृष्टिपूर्वक चरणानुयोग की विधि

शास्त्रो मे चरणानुयोग की विधि का अनेक प्रकार से वर्णन आता है, किन्तु उस सबमे इस ज्ञायकस्वभाव की मूल दृष्टि रख कर समझे तभी समझ मे आ सकता है। मुनि–दीक्षा लेने के भाव हों तब माता–पितादि के निकट जाकर इस प्रकार आज्ञा माँगना चाहिये, उन्हे इस प्रकार समझाना चाहिये इसका वर्णन प्रवचनसार आदि मे अच्छी तरह किया है; और दीक्षा लेनेवाले को भी ऐसा विकल्प आये और माता के निकट जाकर कहे कि—"हे माताजी! अब मुझे दीक्षा की आज्ञा दीजिये। हे इस शरीर की जननी, मेरा अनादिकालीन जनक ऐसा जो आत्मा है उसके निकट जाने की मुझे अनुमति दीजिये। भगवती दीक्षा की अनुमति दीजिये।" तथापि अतर मे उस समय ज्ञान है कि इस वचन का कर्ता मैं नही हूँ, मेरे कारण इस वचन का परिणमन नही होता।

माता–पितादि की आज्ञा लेकर फिर गुरु के निकट—आचार्य मुनि के पास जाकर विनयपूर्वक कहते हैं कि "हे प्रभो! मुझे शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धिरूप सिद्धि से अनुगृहीत कीजिये। हे नाथ! मुझे इस भवबधन से छुड़ाकर भगवती मुनिदीक्षा दीजिये!"–तब श्रीगुरु भी उसे—"यह तुझे शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धिरूप सिद्धि"—ऐसा कहकर दीक्षा देते हैं।—इस प्रकार चरणानुयोग की विधि है; तथापि वहाँ दीक्षा देनेवाले और लेनेवाले दोनो जानते हैं कि हम तो ज्ञायक हैं, इस अचेतन भाषा के हम उत्पादक नही हैं, और इस विकल्प के भी वास्तवमे हम उत्पादक नही हैं, हम तो अपने ज्ञायकभावके ही उत्पादक हैं, ज्ञायकभाव मे ही हमारी तन्मयता है।—ऐसे यथार्थभान के बिना कदापि मुनिदशा नही होती।

मैं ज्ञायक हूँ-ऐसा अंतर्भान, और क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति होने पर भी, तीर्थंकर भगवान आदि के विरह में, अथवा पुत्रादि के वियोग में सम्यक्त्वी की आँखों से आँसू बहे, तथापि उस समय उन आँसुओं के वे उत्पादक नही हैं, और अतर में शोक के किंचित् परिणाम हुए उनके भी वास्तव में वे उत्पादक नही है, उस समय भी वे अपने ज्ञायकस्वभावरूप से उत्पन्न होते हुए ज्ञाता ही है,—हर्ष-शोक के कर्ता-भोक्ता नही है। यह अंतर्दृष्टि की अपूर्व बात है। यह दृष्टि प्रगट किये बिना कभी किसी को धर्म का अंश भी नही होता।

(८६) साधकदशा में व्यवहार का यथार्थ ज्ञान

ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि रखकर ज्ञायकजीव व्यवहार को भी यथार्थरूप से जानता है। क्रमबद्धपर्याय के यथार्थज्ञान में व्यवहार का ज्ञान भी आ जाता है। पंचाध्यायी में भिन्न प्रकार व्यवहार के चारों प्रकारों का वर्णन है:—

(१) व्यक्तराग, वह असद्भूत उपचरित व्यवहारनय का विषय,

(२) अव्यक्तराग, वह असद्भूत अनुपचरित व्यवहारनय का विषय;

(३) ज्ञान पर को जानता है, वहाँ "परका ज्ञान अथवा रागका ज्ञान" कहना वह सद्भूत उपचरित व्यवहारनय का विषय है,

(४) ज्ञान सो आत्मा—ऐसा गुण-गुणी भेद वह सद्भूत अनुपचरित व्यवहारनय का विषय है।

("नय के इन चारों प्रकारो का स्वरूप तथा ज्ञायक के आश्रय से—निश्चय के आश्रय से उन का निषेध" इस सम्बन्ध में पूज्य गुरुदेव के विस्तृत प्रवचन के लिये देखिये—आत्मधर्म अक ६० तथा. ६४)

एकाकार ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से जहाँ निश्चय सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रगट हुए और रागादि से भिन्नता जानी वहाँ साधकदशा में उपरोक्तानुसार जो-जो व्यवहार होते हैं उन्हें ज्ञानी अपने ज्ञान का ज्ञेय बनाते है। यद्यपि दृष्टि तो ज्ञायकस्वभाव पर ही पड़ी है, किंतु

पर्याय में व्यवहार है ही नही, राग है ही नही—ऐसा नहीं मानते; और उस व्यवहार की खतौनी परमार्थ मे भी नही करते,—अर्थात् उस व्यवहार के अवलम्बन से लाभ नही मानते, उसे ज्ञान के ज्ञेय-रूप से ज्यो का त्यों जानते हैं। यहाँ ज्ञायकसन्मुख ज्ञान के क्रम मे रहकर राग के क्रम को भी यथावत् जानते ही हैं, किन्तु ज्ञायक की अधिकता मे उस राग के भी अकर्ता हैं;—ऐसे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि धर्म की मूल नीव है।

(यहाँ क्रमबद्धपर्याय के प्रवचन पूर्ण हुए; इन प्रवचनों के अरसे मे तत्सबन्धी बहुत कुछ चर्चा हुई थी; वह भी उपयोगी होने से यहाँ दी जा रही है।)

(८७) "केवली के ज्ञान में सब नोट है", पर को जानने की ज्ञान की सामर्थ्य है, वह कहीं अभूतार्थ नहीं है

यह क्रमबद्धपर्याय तो वस्तु का ही स्वरूप है; उसे सिद्ध करने के लिये केवलज्ञान की दलील देकर ऐसा सिद्ध किया जाता है कि—सर्वज्ञदेव ने केवलज्ञान मे एकसमय मे तीनकाल–तीनलोक के स्व–पर समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष देखे हैं; और तदनुसार ही परिणमन होता है।

तब इसके समक्ष कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि—"केवली भगवान पर को तो व्यवहार से जानते हैं, और व्यवहार तो अभूतार्थ है—ऐसा शास्त्र मे कहा है; इसलिये केवली पर को नहीं जानते।"—ऐसा कहकर वे इस क्रमबद्धपर्याय का विरोध करना चाहते हैं। किन्तु वास्तव मे तो वे केवलज्ञान की और शास्त्र के कथन की मजाक उड़ाते है; शास्त्र की ओट लेकर अपने स्वच्छन्द की पुष्टि करना चाहते हैं। अरे भाई! केवली को स्व–परप्रकाशक पूर्ण ज्ञानसामर्थ्य प्रगट हो गया है; वह ज्ञान कही अभूतार्थ नही है। क्या ज्ञान का जो परप्रकाशक सामर्थ्य है वह कही अभूतार्थ है ?—नही। जिस प्रकार समयसार की ७ वी गाथा मे दर्शन–ज्ञान–चारित्र

के गुणभेद को अभूतार्थ कहा—तो क्या आत्मा में वे गुण हैं ही नही ?—हैं तो अवश्य। उसी प्रकार केवलीभगवान पर को जाने—उसे व्यवहार कहा है; तो क्या पर का ज्ञातृत्व नही है ? पर को भी जानते तो है ही। केवली पर को जानते ही नहीं—ऐसा नहीं है। केवली को पर का आश्रय नही है—पर मे तन्मय होकर नही जानते—पर सन्मुख होकर नही जानते—इसलिये परप्रकाशकपने को व्यवहार कहा है। परप्रकाशकपने का ज्ञान का जो सामर्थ्य है वह कही व्यवहार नही है; वह तो निश्चय से अपना स्वरूप है। भगवान के केवलज्ञान मे त्रिकाल के पदार्थों की नोंध है। प. राजमलजी समयसार कलश की टीका मे कहते हैं कि—संसारी जीवों मे एक भव्यराशि है, और एक अभव्यराशि है; उसमे अभव्यराशि जीव तो तीनकाल मे मोक्ष प्राप्त नही करते; भव्य जीवों मे से कुछ जीव मोक्ष जाने योग्य हैं और उनका मोक्ष मे पहुँचने का कालपरिमाण है अर्थात् यह जीव इतना कालव्यतीत होनेपर मोक्ष जायेगा—ऐसी केवलज्ञान में नोंध है—"यह जीव इतना काल वीत्या मोक्ष जासै—इसौ न्यौधु केवलज्ञान माँहे छै।" (पृष्ठ १०) केवलीभगवान के ज्ञान में तीनकाल–तीनलोक की सारी नोंध है। जिस जीव को अंतर्‌स्वभाव के ज्ञान का पुरुषार्थ हुआ उसे अल्पकाल मे मोक्ष होना है—ऐसा केवलज्ञान की नोंध में आ गया है। जिसके ज्ञान मे सर्वज्ञभगवान विद्यमान हो गये उसकी मुक्ति भगवान के ज्ञान मे लिखी गई।

प्रश्नः—केवली भगवान को विकल्प तो नही है, तव फिर विकल्प के बिना पर को किस प्रकार जानेगे ?

उत्तरः—पर को जानते हुए केवली को कहीं पर की ओर उपयोग नही डालना पडता; किन्तु अपना ज्ञानसामर्थ्य ही ऐसा स्व-परप्रकाशक विकसित हो गया है कि—स्व-पर सव एकसाथ विकल्प बिना—ज्ञान में ज्ञात हो जाता है। पर को जानना वह कही विकल्प नही है। (ज्ञान को सविकल्प कहा जाता है उसमे अलग अपेक्षा है।

यहाँ रागरूप विकल्प की बात है।) केवलीभगवान को ज्ञान का सामर्थ्य ही ऐसा परिणमित हो रहा है कि राग के विकल्प बिना ही स्व-पर सब प्रत्यक्ष ज्ञात होता है।

अहो, आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, उस स्वभाव मे से जो केवलज्ञान विकसित हुआ उसका अचित्य सामर्थ्य है। वह केवलज्ञान—

अस्पष्ट नही जानता।
विकल्प से नही जानता।
परसन्मुख होकर नही जानता।
तथापि जाने बिना कुछ भी नही रहता।
—ऐसा केवलज्ञान है।

ऐसे केवलज्ञान को यथार्थरूप से पहिचाने तो आत्मा के ज्ञायकस्वभाव की सन्मुखता होकर सम्यग्दर्शन हुए बिना न रहे। प्रवचनसार की ८० वी गाथा मे आचार्यभगवान ने यही बात अलौकिक रीति से कही है।

(८८) भविष्य की पर्याय होने से पूर्व केवलज्ञान उसे किस प्रकार जानेगा ?—उसका स्पष्टीकरण

प्रश्नः—भविष्य की जो पर्यायें नही हुई हैं, किन्तु होनेवाली हैं, उन्हे ज्ञान वर्तमान में जान सकता है ?

उत्तरः—हाँ, केवलज्ञान एक समय की वर्तमान पर्याय मे तीनोकाल का सब कुछ जान लेता है।

प्रश्नः—तो क्या भविष्य मे जो पर्याय होनेवाली है उसे वर्तमान में प्रगटरूप से जानता है ?

उत्तरः—भविष्य की पर्याय को भविष्यरूप से जानता है, किन्तु वह पर्याय वर्तमान मे प्रगटरूप से वर्तती है—ऐसा नही जानता। जानता तो सब वर्तमान मे है, किन्तु जैसा हो वैसा जानता है। भविष्य मे जो होना हो उसे वर्तमान में भविष्यरूप से जानता है। स्पष्टरूप से जानता है।

प्रश्नः—ज्ञान में भविष्य की पर्याय को भी जानने की शक्ति है, इसलिये जब वह पर्याय होगी तव ज्ञान उसे जानेगा,—इस प्रकार है ?

उत्तरः—नही, ऐसा नही है। भविष्य को भी जानने का कार्य तो वर्तमान मे ही है; वह कही भविष्य में नही है। जैसे कि—अमुक जीव को अमुक समय भविष्य मे केवलज्ञान होना है, तो ज्ञान वर्तमान मे ऐसा जानता है कि इस जीव के इस समय ऐसी पर्याय होगी; किन्तु ज्ञान कही ऐसा नही जानता कि इस जीव को इस समय केवलज्ञान पर्याय व्यक्तरूप से वर्तती है ! और भविष्य की वह पर्याय होगी तब ज्ञान उसे जानेगा—ऐसा भी नहीं है। भविष्य की पर्याय को भविष्य की पर्यायरूप से वर्तमान मे ही ज्ञान जानता है। जिस प्रकार भूतकाल की पर्याय वर्तमान मे वर्तती न होने पर भी वर्तमानज्ञान उसे जानता है, उस प्रकार भविष्य की पर्याय वर्तमान मे वर्तती न होने पर भी ज्ञान उसे प्रत्यक्ष जानता है।

(८९) केवली को क्रमवद्ध, और छद्मस्थ को अक्रम—ऐसा नहीं है

प्रश्नः—"सब क्रमवद्ध है"—यह वात केवलीभगवान के लिये वरावर है। केवलीभगवान ने सब जाना है, इसलिये उनके लिये तो सब क्रमवद्ध ही है, किन्तु छद्मस्थ को तो पूर्णज्ञान नहीं है, इसलिये उसके लिये सब क्रमवद्ध नही है, छद्मस्थ के तो फेरफार भी हो सकता है—इस प्रकार कोई कहे तो वह वरावर है ?

उत्तरः—नही, यह वात वरावर नही है। वस्तुस्वरूप सब के लिये एक-सा ही है। केवली के लिये अलग वस्तुस्वरूप और छद्मस्थ के लिये अलग—ऐसा दो प्रकार का वस्तुस्वरूप नही है। केवली के लिये सब क्रमवद्ध और छद्मस्थ के लिये अक्रमवद्ध अर्थात् छद्मस्थ उसमे उलटा-सीधा भी कर सकता है—ऐसा माननेवाले को क्रमवद्ध-पर्याय के स्वरूप की खबर नही है। केवलीभगवान भले ही पूर्ण प्रत्यक्ष जानें और छद्मस्थ पूर्ण प्रत्यक्ष न जानें, तथापि वस्तुस्वरूप का (क्रमवद्ध-

पर्याय आदि का) निर्णय तो दोनों को एक-सा ही है। केवलीभगवान सर्व द्रव्यो की क्रमवद्धपर्याय होना जाने, और छद्मस्थ उनका अक्रम से होना माने, तब तो उसके निर्णय मे ही विपरीतता हुई। मैं ज्ञायक हूँ और पदार्थों की क्रमवद्ध अवस्था है—ऐसा निर्णय करके ज्ञायक-स्वभावसन्मुख परिणमित होनेवाले ज्ञानी को तो ज्ञाताभाव का ही परिणमन विकसित होते–होते अनुक्रम से केवलज्ञान हो जाता है। परन्तु अभी जिसके निर्णय मे ही भूल है उसके ज्ञातापने का परिणमन नही होता, किन्तु विकार का ही कर्तापना रहता है।

(६०) ज्ञान और ज्ञेय का मेल, तथापि दोनों की स्वतंत्रता

प्रश्नः—केवलीभगवान ने जैसा जाना उसी प्रकार इस जीव को परिणमित होना पडता है ? या जैसा यह जीव परिणमित हो वैसा केवलीभगवान जानते हैं ?

उत्तरः—पहली बात यह है कि केवलज्ञान का निर्णय करने-वाले ने "ज्ञानशक्ति" के अवलम्बन से यह निर्णय किया है इसलिये उसमे निर्मल परिणमन (सम्यग्दर्शनादि) हो गया है और केवली-भगवान ने भी वैसा ही जाना है।

केवलीभगवान का ज्ञान और इस जीव का परिणमन—इन दोनों का ज्ञेय-ज्ञायकपने का मेल होने पर भी कोई किसी के आधीन नही है। केवलीभगवान ने तो सर्व पदार्थों की तीनोंकाल की अवस्थाये एक साथ जान ली हैं, और पदार्थ मे परिणमन तो एक के बाद एक अवस्था का होता है। केवली ने जाना इसलिये पदार्थ को वैसा परिणमित होना पडता है, ऐसा नही है, अथवा पदार्थ वैसा परिण-मित होता है, इसलिये केवली वैसा जानते हैं—ऐसा भी नही है। ऐसा होने पर भी केवलज्ञान और ज्ञेय की संधि नही टूटती; केवलज्ञान ने जाना उससे दूसरे प्रकार से वस्तु परिणमित हो, अथवा तो वस्तु परिणमित हो उससे दूसरे प्रकार से केवलज्ञान जाने ऐसा कभी नही होता।

इसमें, केवलज्ञान की अर्थात् आत्मा के ज्ञायकस्वभाव की महत्ता समझना चाहिये और ज्ञायकसन्मुख होकर परिणमित होना चाहिये; वही मूलभूत वस्तु है।

(९१) आगम को जानेगा कौन ?

प्रश्नः—यह पर्याय की जैसी बात आप कहते हैं वैसी आगम में नहीं मिलती।

उत्तरः—अरे भाई ! अभी तुझे सर्वज्ञ का तो निर्णय नही है; तब फिर सर्वज्ञ के निर्णय बिना, "सर्वज्ञ के आगम कैसे होते है और उनमे क्या कहा है" उसकी तुझे क्या खबर पड़ेगी ? गुरुगम के बिना, अपनी विपरीतदृष्टि से आगम के यथार्थ अर्थ भासित हों ऐसा नही है। आगम कहता है कि आत्मा का ज्ञानस्वभाव है और उसमे सर्वज्ञता का सामर्थ्य है। यदि ऐसे ज्ञानस्वभाव को और सर्वज्ञता को न जाने तो उसने आगम को जाना ही नही है। और यदि ऐसे ज्ञान-स्वभाव को माने तो क्रमबद्धपर्याय का निर्णय उसमें आ ही जाता है।

जो क्रमबद्धपर्याय को सीधी रीति से न समझे उसे समझाने के लिये यह केवलज्ञान की दलील दी जाती है; बाकी वस्तु तो स्वयं ही वैसे स्वभाववाली है; क्रमबद्धपर्याय वह वस्तु का ही स्वरूप है, वह कही केवलज्ञान के कारण नही है।

(९२) केवलज्ञान के और क्रमबद्धपर्याय के निर्णय बिना धर्म क्यों नहीं होता ?

प्रश्नः—आप केवलज्ञान और क्रमबद्धपर्याय पर इतना अधिक भार देते हैं, तो क्या सर्वज्ञ के निर्णय बिना या क्रमवद्धपर्याय के निर्णय बिना धर्म नही हो सकता ?

उत्तरः—नही; भाई ! यह केवलज्ञान का या क्रमवद्धपर्याय का निर्णय तो ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन से होता है, और इसके बिना

कभी धर्म नही होता। ज्ञानस्वभाव कहो, केवलज्ञान कहो या क्रमबद्ध-पर्याय कहो,—इन तीनों मे से एक के निर्णय मे दूसरे दो का निर्णय भी आ जाता है; और यदि केवलज्ञान को या क्रमबद्धपर्याय को न माने तो वह वास्तव में आत्मा के ज्ञानस्वभाव को ही नही मानता। यह तो जैनधर्म की मूल वस्तु है, उसके निर्णय बिना धर्म का प्रारम्भ हो ऐसा कभी नही होता। स्वसन्मुख होकर "मैं ज्ञान हूँ"—ऐसी ज्ञाताबुद्धि होने से सर्वज्ञता का निर्णय भी हो गया; क्रमबद्धपर्याय का भी निर्णय हो गया, कही फेरफार करने की बुद्धि न रही,—इसका नाम धर्म है।

(९३) तिर्यंच-सम्यक्त्वी को भी क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति

प्रश्नः—तिर्यंच मे भी कोई-कोई जीव (मेढक आदि) सम्यक्त्वी होते हैं तो क्या उन तिर्यंच सम्यक्त्वियों को भी ऐसी क्रम-बद्धपर्याय की श्रद्धा होती है ?

उत्तर:—हाँ; "क्र म . ब...द्ध" ऐसे शब्द की भले ही उसे खबर न हो, किन्तु "मैं ज्ञायक हूँ, मेरा आत्मा सब जानने के स्वभाव-वाला है"—ऐसे अंतर्वेदन मे क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति भी उसे आ जाती है, क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति का जो कार्य है वह कार्य उसे हो ही रहा है। उसका ज्ञान ज्ञाताभावरूप ही परिणमित होता है। पर का कर्ता या राग का कर्ता—ऐसी बुद्धि उसके नही है; ज्ञाताबुद्धि ही है और उसमे क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति समा जाती है। ज्ञानपर्याय को अन्तरोन्मुख करके "मैं ज्ञायकभावरूप जीवतत्त्व हूँ"—ऐसी प्रतीति हुई है वहाँ क्रमबद्धपर्याय का ज्ञातृत्व ही है।

और देखो, उन मेढक या चिड़िया आदि तिर्यंचो को सम्य-ग्दर्शन होने से स्वसन्मुख होकर संवर-निर्जरादशा प्रगट हुई है, किन्तु अभी केवलज्ञान नही हुआ है। पर्याय मे अभी अल्पता और राग भी है, तथापि उस पर्याय को जानते हुए उन्हे ऐसा विकल्प या सदेह नही उठता कि "इस समय ऐसी पर्याय क्यो ? और केवलज्ञानपर्याय क्यो नही ?" ऐसा ही उस पर्याय का क्रम है ऐसा जानते हैं। केवलज्ञान

नहीं है इसलिये कहीं सम्यग्दर्शन में शंका नहीं पड़ती। इसी प्रकार उस पर्याय मे राग है उसे भी जानते हैं; किन्तु उस राग को जानते हुए वे तिर्यंच सम्यक्त्वी उसका स्वभावरूप से वेदन नही करते, राग से भिन्न ज्ञायकस्वभावरूप ही स्वयं का अनुभव करते हैं। राग है उतने अंश में उसका वेदन है; किन्तु ज्ञायकदृष्टि मे उसका वेदन है ही नही। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से ज्ञान समाधानरूप से वर्तता है, कही पर को इधर-उधर करने की मिथ्याबुद्धि नहो होती, यही क्रमबद्ध-पर्याय की प्रतीति का फल है।

—इस प्रकार, जो भी सम्यक्त्वी जीव हैं उन सबको अपने ज्ञायकस्वभाव के निर्णय में, सर्वज्ञ की और क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति भी साथ में आ ही जाती है;—इससे विपरीत माननेवाले को सम्यग्दर्शन नही होता।

सम्यग्दर्शन कहो, "के ..व .ल" ज्ञान (अर्थात् राग से भिन्न ज्ञान) कहो, भेदज्ञान कहो, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय कहो, जैनशासन कहो, या धर्म का प्रारम्भ कहो—वह सब इसमे एकसाथ आ जाता है।

(९४) क्रमबद्धपर्याय के निर्णय का फल—"अबंधता," "ज्ञायक को बंधन नहीं है"

जीव और अजीव दोनों की क्रमबद्धपर्याय अपने-अपने से स्वतंत्र है; ज्ञायकस्वरूप जीव अपने ज्ञायकपने की क्रमबद्धपर्याय में परिणमित होता हुआ उसका ज्ञाता है, किन्तु पर का अकर्ता है। इस प्रकार अकर्तारूप से परिणमित होते हुए ज्ञायक को वन्धन होता ही नही।

—ऐसा होने पर भी, अज्ञानी को वन्धन क्यों होता है? आचार्यदेव कहते हैं कि यह उसके अज्ञान की महिमा प्रगट है; उसके अज्ञान के कारण ही उसे बन्धन होता है। ज्ञायकस्वभाव की महिमा

कभी धर्म नहीं होता। ज्ञानस्वभाव कहो, केवलज्ञान कहो या क्रमवद्ध-पर्याय कहो,—इन तीनो मे से एक के निर्णय मे दूसरे दो का निर्णय भी आ जाता है; और यदि केवलज्ञान को या क्रमवद्धपर्याय को न माने तो वह वास्तव मे आत्मा के ज्ञानस्वभाव को ही नही मानता। यह तो जैनधर्म की मूल वस्तु है; उसके निर्णय विना धर्म का प्रारम्भ हो ऐसा कभी नही होता। स्वसन्मुख होकर "मैं ज्ञान हूँ"—ऐसी ज्ञाताबुद्धि होने से सर्वज्ञता का निर्णय भी हो गया, क्रमबद्धपर्याय का भी निर्णय हो गया, कही फेरफार करने की बुद्धि न रही,—इसका नाम धर्म है।

(९३) तिर्यँच–सम्यक्त्वी को भी क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति

प्रश्नः—तिर्यंच मे भी कोई–कोई जीव (मेंढक आदि) सम्यक्त्वी होते है तो क्या उन तिर्यंच सम्यक्त्वियों को भी ऐसी क्रम-वद्धपर्याय की श्रद्धा होती है ?

उत्तर.—हाँ; "क्र. म ब.. द्ध" ऐसे शब्द की भले ही उसे खबर न हो, किन्तु "मैं ज्ञायक हूँ, मेरा आत्मा सब जानने के स्वभाव-वाला है"—ऐसे अंतर्वेदन मे क्रमवद्धपर्याय की प्रतीति भी उसे आ जाती है, क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति का जो कार्य है वह कार्य उसे हो ही रहा है। उसका ज्ञान ज्ञाताभावरूप ही परिणमित होता है। पर का कर्ता या राग का कर्ता—ऐसी बुद्धि उसके नही है, ज्ञाताबुद्धि ही है और उसमें क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति समा जाती है। ज्ञानपर्याय को अन्तरोन्मुख करके "मैं ज्ञायकभावरूप जीवतत्त्व हूँ"—ऐसी प्रतीति हुई है वहाँ क्रमबद्धपर्याय का ज्ञातृत्व ही है।

और देखो, उन मेढक या चिड़िया आदि तिर्यंचो को सम्य-ग्दर्शन होने से स्वसन्मुख होकर संवर–निर्जरादशा प्रगट हुई है, किन्तु अभी केवलज्ञान नही हुआ है। पर्याय मे अभी अल्पता और राग भी है, तथापि उस पर्याय को जानते हुए उन्हे ऐसा विकल्प या सदेह नही उठता कि "इस समय ऐसी पर्याय क्यो ? और केवलज्ञानपर्याय क्यो नही ?" ऐसा ही उस पर्याय का क्रम है ऐसा जानते है। केवलज्ञान

नहीं है इसलिये कहीं सम्यग्दर्शन में शंका नहीं पड़ती। इसी प्रकार उस पर्याय में राग है उसे भी जानते है; किन्तु उस राग को जानते हुए वे तिर्यंच सम्यक्त्वी उसका स्वभावरूप से वेदन नही करते, राग से भिन्न ज्ञायकस्वभावरूप ही स्वयं का अनुभव करते है। राग है उतने अंश में उसका वेदन है; किन्तु ज्ञायकदृष्टि में उसका वेदन है ही नही। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से ज्ञान समाधानरूप से वर्तता है; कही पर को इधर-उधर करने की मिथ्याबुद्धि नहीं होती, यही क्रमबद्ध-पर्याय की प्रतीति का फल है।

—इस प्रकार, जो भी सम्यक्त्वी जीव हैं उन सबको अपने ज्ञायकस्वभाव के निर्णय में, सर्वज्ञ की और क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति भी साथ में आ ही जाती है;—इससे विपरीत माननेवाले को सम्य-ग्दर्शन नही होता।

सम्यग्दर्शन कहो, "के...व ..ल" ज्ञान (अर्थात् राग से भिन्न ज्ञान) कहो, भेदज्ञान कहो, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय कहो, जैनशासन कहो, या धर्म का प्रारम्भ कहो—वह सब इसमे एकसाथ आ जाता है।

(९४) क्रमबद्धपर्याय के निर्णय का फल—"अबंधता," "ज्ञायक को बंधन नहीं है"

जीव और अजीव दोनों की क्रमबद्धपर्याय अपने-अपने से स्वतंत्र है; ज्ञायकस्वरूप जीव अपने ज्ञायकपने की क्रमबद्धपर्याय मे परिणमित होता हुआ उसका ज्ञाता है, किन्तु पर का अकर्ता है। इस प्रकार अकर्तारूप से परिणमित होते हुए ज्ञायक को बन्धन होता ही नही।

—ऐसा होने पर भी, अज्ञानी को बन्धन क्यों होता है? आचार्यदेव कहते हैं कि यह उसके अज्ञान की महिमा प्रगट है; उसके अज्ञान के कारण ही उसे बन्धन होता है। ज्ञायकस्वभाव की महिमा

जाने तो बन्धन न हो। ज्ञायकस्वभाव की महिमा भूलकर जो पर का कर्ता होता है उसके अज्ञान की महिमा प्रगट हुई है और इसीसे उसे बंधन होता है।

ज्ञायकस्वभावरूप परिणमित होनेवाला जीव, मिथ्यात्वादि कर्म के बधन मे निमित्त भी नही होता, निमित्तरूप से भी वह मिथ्यात्वादि का अकर्ता ही है।

"अजीव की क्रमबद्धपर्याय भी स्वतंत्र है; इसलिये उसमे जो मिथ्यात्वकर्मरूप से परिणमित होने का उपादान हो तो हमे भी मिथ्यात्वभाव करके उसे निमित्त होना पडेगा !"—ऐसी जिसकी दृष्टि है उसके अज्ञान की महिमा प्रगट है अर्थात् वह महान अज्ञानी है। ज्ञायकस्वभाव की या क्रमवद्धपर्याय की उसे खबर नही है। ज्ञानी नें तो ज्ञानस्वभाव पर दृष्टि रखकर क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किया है; इसलिये उसकी दृष्टि का परिणमन तो स्वभावोन्मुख हो गया है; कर्म को निमित्त होने पर उसकी दृष्टि नही है। मिथ्यात्वादि कर्म उसके बँधता ही नही है।

क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय करनेवाले को अपने में मिथ्यात्व का क्रम नही होता—यह बात पहले की और निमित्तरूप से अजीव मे भी उसे मिथ्यात्व का क्रम नही होता।

"जड़ मे मिथ्यात्व का क्रम हो तो जीव को मिथ्यात्व करना पडता है"—यह दलील तीव्र मिथ्यादृष्टि अज्ञानी की है, वह अजीव को ही देखता है, किन्तु जीव को नही देखता, जीव के स्वभाव का निर्णय करके जीव की ओर से न लेकर अजीव की दृष्टि की ओर से लेता है वह विपरीतदृष्टि है—उसके अज्ञान की गहनता है। क्रमवद्ध के निर्णय का फल तो स्वोन्मुख होना आता है, स्वभावोन्मुख होकर ज्ञायक हुआ उसे मिथ्यात्व नही होता और मिथ्यात्वकर्म का निमित्तकर्तापना भी उसके नही रहता; अजीव मे दर्शनमोह होने का क्रम उसके लिये होता ही

नहीं। इस प्रकार कर्म के साथ का निमित्त—नैमित्तिकसम्बन्ध भी उसको छूट गया है।

आत्मा निश्चय से अजीव का कर्ता नहीं है; इसलिये कोई ऐसा कहे कि—"पुद्गल के मिथ्यात्व का निश्चय से अकर्ता, किन्तु उसमें मिथ्यात्वकर्म बंधे तब जीव मिथ्यात्व करके उसका निमित्तकर्ता होता है अर्थात् व्यवहार से उसका कर्ता है।—इस प्रकार निश्चय से अकर्ता और व्यवहार से कर्ता—ऐसा हो तो ?"

—तो यह भी मिथ्यादृष्टि की ही बात है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में कर्म का निमित्तकर्तापना आता ही नही। मिथ्यात्वादि कर्मों का व्यवहार कर्तापना मिथ्यादृष्टि को ही लागू होता है, ज्ञानी को वह किसी प्रकार लागू नहीं होता। यहाँ ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि कर के स्वयं ज्ञायकभाव से (सम्यग्दर्शनादिरूप से) परिणमित हुआ, वहाँ निश्चित् हो गया कि मेरी पर्याय मे मिथ्यात्व होने की योग्यता नही है, और मेरे निमित्त से पुद्गल में मिथ्यात्व कर्म हो—ऐसा भी हो ही नहीं सकता—यह भी निर्णय हो गया। अहो! अतर में ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करके क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ, अन्तरोन्मुख होकर ज्ञायक हुआ.. अकर्ता हुआ, वह अब बन्धन का कर्ता हो यह कैसे हो सकता है ?? नहीं ही हो सकता। ज्ञायकभाव बन्धन का कर्ता हो ही नहीं सकता। वह तो निजरस से—ज्ञायकभाव से शुद्धरूप ही परिणमित होता है—बन्धन के अकर्तारूप से ही परिणमित होता है। इस प्रकार ज्ञायक को बन्धन होता ही नहीं है। ऐसा अबन्धपना क्रमबद्धपर्याय के निर्णय का फल है। अबन्धपना कहो या मोक्षमार्ग कहो, या धर्म कहो—उसकी यह रीति है।

(९५) स्वच्छन्दी जीव इस बात के श्रवण का भी पात्र नहीं है

जीव ज्ञायकस्वभाव है; उस ज्ञायक की क्रमबद्धपर्याय में विकार के कर्तृत्व की बात नही आती। क्योंकि ज्ञाता के परिणमन में विकार कहाँ से आया ? भाई! अपने ज्ञायकत्व का निर्णय करके

पहले तू ज्ञाता हो, तो तुझे क्रमबद्धपर्याय की खबर पडेगी। ज्ञाता के क्रम मे राग आता ही नही; वह ज्ञेयरूप मे भले हो। वास्तव मे तो राग को ज्ञेय करने की भी मुख्यता नही है, अंतर मे ज्ञायकस्वभाव को ही ज्ञेय बनाकर उस मे अभेद हो—उसीकी मुख्यता है। ज्ञायक-स्वभाव को ज्ञेय बनाये बिना, राग का यथार्थ ज्ञान नही हो सकता।

क्रमबद्धपर्याय का नाम लेकर रागादि का भय न रखे, और स्वच्छन्दरूप से विषय–कषायो मे वर्ते—ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवो की यहाँ बात ही नही है, वह तो इस बात के श्रवण का पात्र नही है। क्रमबद्ध की ओट लेकर स्वच्छन्दरूप से वर्ते, तो न रहा पाप का भय, और न रहा सत्य के श्रवण का भी प्रेम, इसलिये सत्य के श्रवण की भी योग्यता न हो वहाँ ज्ञान के परिणमन की तो योग्यता हो कहाँ से हो ? जो स्वच्छन्द को छुड़ाकर मोक्षमार्ग मे ले जाने की बात है, उसी की ओट मे जो ढिठाई से स्वच्छन्द की पुष्टि करता है उसे आत्मा की दरकार नही है, भवभ्रमण का भय नही है।

(९६) सम्यग्दर्शन कब होता है ?—तो कहते हैं पुरुषार्थ करे तब

कुछ अज्ञानी इस बात को समझे बिना ऐसा कहते हैं कि—हमे तो क्रमबद्धपर्याय मे सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्याये होना होगी तो हो जायेंगी।—किन्तु उनकी बात विपरीत है, वे सिर्फ पर की ओर देख कर क्रमबद्धपर्याय की बात करते हैं, वह ठीक नही है। भाई रे, तू अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर का पुरुषार्थ करेगा तभी तेरी निर्मल पर्याय होगी। क्रमबद्धपर्याय की समझ का फल तो ज्ञायकस्वभावो-न्मुख होना है, जो ज्ञायकस्वभावोन्मुख हुआ है उसके तो निर्मल पर्याय का क्रम हो ही गया है, और जिसकी उन्मुखता ज्ञायकस्वभाव की ओर नही है वह वास्तव मे क्रमबद्धपर्याय को जानता ही नही है। अन्तरोन्मुख होकर ज्ञायकस्वभाव पर जोर देते हुए भगवान ने क्रम-बद्धपर्याय मे जिस निर्मल पर्याय का होना देखा है वही पर्याय आ खड़ी होती है। किसी भी जीव को ज्ञायकस्वभाव की ओर के पुरुषार्थ बिना निर्मल पर्याय होती है—ऐसा भगवान ने नही देखा है।

"समस्त पर्यायें क्रमबद्ध हैं इसलिये जैसा क्रम होगा वैसी पर्यायें होती रहेगीं, अब अपने को पुरुषार्थ की कोई आवश्यकता नहीं है"—ऐसा कोई माने तो उससे कहते हैं कि भाई ! ज्ञायक की ओर के पुरुषार्थ के बिना तू क्रमबद्ध का ज्ञाता कैसे हुआ ? अपने ज्ञायक-स्वभाव के निर्णय का प्रयत्न किये बिना क्रमबद्धपर्याय को तू किस प्रकार समझा ? स्वसन्मुख होकर ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करे उसीको क्रमबद्धपर्याय समझ मे आती है और उसकी पर्यायमें निर्मलता का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार, स्वसन्मुख पर्याय और क्रमबद्धपर्याय के निर्णय की सन्धि है।

(९७) क्रमबद्धपर्याय और उसका कर्तृत्व

प्रश्नः—क्रमबद्धपर्याय है उसमें कर्तृत्व है या नहीं ?

उत्तरः—हाँ, जिसने स्वसन्मुख होकर अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय किया है, उसे अपनी निर्मल क्रमबद्धपर्याय का कर्तृत्व है; और जिसके ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नही है तथा पर में कर्तृत्वबुद्धि है उसे अपने मे मिथ्यात्व आदि मलिन भावो का, कर्तृत्व है।

अजीव को उस अजीव की क्रमबद्धअवस्था का कर्तृत्व है। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय कर के जो जीव ज्ञायकस्वभाव की ओर ढल गया है उसे विकार का कर्तृत्व नही है; वह तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल ज्ञानभाव का ही कर्ता है।

(९८) सूक्ष्म-किन्तु समझ में आ जाये ऐसा

प्रश्नः—आप कहते हैं वह बात तो बहुत सरल है, किन्तु बड़ी सूक्ष्म बात है !

उत्तरः—भाई ! सूक्ष्म तो अवश्य है, किन्तु समझ मे आ सके ऐसा सूक्ष्म है या न आये ऐसा ? आत्मा का स्वभाव ही सूक्ष्म (अतीन्द्रिय) है, इसलिये उसकी बात भी सूक्ष्म ही होती है। यह सूक्ष्म होने पर भी समझ में आ सके ऐसा है। आत्मा की सचमुच

जिज्ञासा हो तो वह समझ में आये बिना नही रह सकता। वस्तुस्वरूप मे जैसा हो रहा है वही समझने को कहा जा रहा है; इसलिये सूक्ष्म लगे, तो भी "समझ मे आये ऐसा है; और यह समझने में ही मेरा हित है"—ऐसा विश्वास और उल्लास लाकर अन्तर मे प्रयास करना चाहिये। यह समझे बिना ज्ञान कभी सच्चा नहीं हो सकता, और सच्चे ज्ञान बिना शांति नही हो सकती। "सूक्ष्म है इसलिये मेरी समझ मे नही आ सकता"—ऐसा नही मानना चाहिये, किन्तु सूक्ष्म है इसलिये उसे समझने के लिये मुझे अपूर्व प्रयत्न करना चाहिये—ऐसा बहुमान लाकर समझना चाहे तो यह अवश्य ही समझ मे आ सकता है।

अहो! यह तो अंतर की अध्यात्मविद्या है; इस अध्यात्मविद्या से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय किए बिना, अन्य सब बाह्य ज्ञातृत्व तो म्लेच्छविद्या समान हैं; उससे आत्मा का कुछ भी हित नही है।

पूर्वं अनन्तकाल मे यह बात नही समझा इसलिये सूक्ष्म है, तथापि जिज्ञासु होकर समझना चाहे तो समझ मे आ सकती है। भाई! तू उलझन मे मत पड़, किन्तु अन्तर मे देख, उलझन कोई मार्गं नही हैं; ज्ञानस्वभाव को लक्ष मे पकड़कर अन्तर्मुख हो वर्तमान मे जो ज्ञान जानने का कार्य कर रहा है वह किसका है? उस ज्ञान के सहारे-सहारे अन्तर मे जा और अव्यक्त चिदानन्दस्वभाव को ग्रहण कर ले .अन्तर के चैतन्यद्वार को खोल। इस चैतन्यस्वभाव मे उतरते ही सब समझ मे आ जाता है, और उलझन मिट जाती है।

(९९) सच्चा विश्रामस्थल

प्रश्न:—क्रमवद्धपर्याय प्रतिसमय सदैव होती ही रहती है, उसमे वीच मे कही जरा भी विश्राम नही है?

उत्तर:—भाई, यह समझ तो तेरे अनादिकालीन भवभ्रमण की थकान दूर कर दे ऐसी है। क्रमवद्धपर्याय की प्रतीति करके ज्ञायकस्वभाव की ओर एकाग्र हुआ वही सच्चा विश्रामस्थल है।—

उसमें भी प्रतिसमय पर्याय का परिणमन तो होता ही रहता है; किन्तु वह परिणमन ज्ञान और आनन्दमय है, इसलिये उसमें आकुलता या थकान नही है; उसमें तो परम अनाकुलता है और वही सच्चा विश्रामस्थल है। अज्ञानी जीव ज्ञायकपने को भूलकर "पर में यह करूँ. यह ..करूँ"—ऐसी मिथ्यामान्यता से आकुल-व्याकुल—दुःखी हो रहा है और भवभ्रमण में भटक रहा है। यदि यह ज्ञायकस्वभाव की और क्रमबद्धपर्याय की बात समझे तो अनन्ती आकुलता मिट जाये, अन्तर्स्वभाव में ज्ञान—आनन्द के अनुभवरूप सच्चा विश्रामस्थल प्राप्त हो।

(१००) सम्यक्त्वी कहते हैं—"श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ है"

इस क्रमबद्धपर्याय के यथार्थ निर्णय में ज्ञानस्वभाव का और केवलज्ञान का निर्णय आ जाता है। जिस प्रकार केवलीभगवान परिपूर्ण ज्ञायक ही है, उसी प्रकार मेरा स्वभाव भी ज्ञायक ही है—ऐसा निर्णय होने पर श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ। अभी साधकदशा में अल्पज्ञान है, तथापि वह भी ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से ज्ञातापने का ही कार्य करता है, इसलिये केवलज्ञान की श्रद्धा तो हो गई, अर्थात् श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी कहा है कि—"यद्यपि कभी वर्तमान में प्रगट रूप से केवलज्ञान की उत्पत्ति नही हुई है, किन्तु जिनके वचन के विचारयोग से शक्तिरूप से केवलज्ञान है—ऐसा स्पष्ट जाना है,

—ऐसा श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ है,

—विचारदशारूप से केवलज्ञान हुआ है,

—इच्छादशारूप से केवलज्ञान हुआ है,

—मुख्यनय के हेतु से केवलज्ञान वर्तता है,

—वह सर्व अव्याबाध सुख का प्रगट करनेवाला केवलज्ञान जिनके योग से सहजमात्र मे जीव प्राप्त करने योग्य हुआ उन सत्पुरुष

के उपकार को सर्वोत्कृष्ट भक्ति से नमस्कार हो ! नमस्कार हो !"

देखो, इतने–से कथन मे कितनी गंभीरता है !

सर्व प्रथम ऐसा कहा कि—"यद्यपि कभी वर्तमान मे प्रगट-रूप से केवलज्ञान की उत्पत्ति नही हुई है"—इस कथन मे यह बात भी गर्भित रूप से रखी है कि—वर्तमान मे प्रगट नही है किन्तु शक्ति-रूप से है; और वर्तमान मे प्रगट नही है किन्तु भविष्य मे अल्पकाल मे केवलज्ञान प्रगट होना है।"

※ फिर कहा है कि—"जिनके वचन के विचारयोग से शक्तिरूप से केवलज्ञान है—ऐसा स्पष्ट जाना है।"—केवलज्ञान प्रगट नही है, तथापि वह प्रगट होने का सामर्थ्य मुझमे है—ऐसा जाना है—स्पष्ट जाना है, अर्थात् स्वसन्मुख होकर नि शक जाना है। किसने जाना ?—तो कहते हैं कि वर्तमान पर्याय ने जाना है। मुझमे सर्वज्ञता का सामर्थ्य है ऐसा पहले नही जाना था, और अब स्वसन्मुख होकर जाना इसलिये पर्याय मे निर्मलता का क्रम प्रारभ हो गया।

मेरी शक्ति मे केवलज्ञान है—ऐसा "स्पष्ट" जाना है अर्थात् राग के अवलम्बन बिना जाना है,—स्वभाव के अवलम्बन से जाना है, स्वसवेदन से जाना है।

※ जानने मे निमित्त कौन ? तो कहते हैं कि—"जिन के वचन के विचारयोग से .जाना है;" जिन के वचन अर्थात् केवली-भगवान, गणधरदेव, कुन्दकुन्दाचार्य आदि सत–मुनि और सम्यक्त्वी–इन सबके वचन उसमे आ जाते हैं। अज्ञानी की वाणी उसमे निमित्त नही होती, सम्यक्त्वी से लेकर केवलीभगवान तक के सबकी वाणी अविरुद्ध है, जैसी केवलीभगवान की वाणी है वैसी ही सम्यक्त्वी की वाणी है, भले ही केवलीभगवान की वाणी मे बहुत आए और सम्यक्त्वी की वाणी मे कम आए, किन्तु दोनो का अभिप्राय तो एक ही है।

और, "जिन के वचन के विचारयोग से जाना"—इसमे

"विचारयोग" वह अपने उपादान की तैयारी बतलाता है। ज्ञानी के वचन वह निमित्त, और उन वचनों को झेलकर समझने की योग्यता अपनी,—इस प्रकार उपादान–निमित्त दोनों की बात आ गई है।

वर्तमानपर्याय मे केवलज्ञान न होने पर भी, तेरे स्वभाव में केवलज्ञान का सामर्थ्य है—ऐसा ज्ञानी के वचन बतलाते हैं, इसलिये तुझमे जो शक्ति विद्यमान है उसके अवलम्बन से तेरा केवलज्ञान प्रगट होगा, अन्य किसीके (निमित्त के व्यवहार के) अवलम्बन से केवलज्ञान नही होगा,—ऐसा ज्ञानी बतलाते है, इससे विरुद्ध जो कहते हों वे वचन ज्ञानी के नही है।

❀ "यद्यपि वर्तमान मे कभी प्रगट रूप से केवलज्ञान की उत्पत्ति नही हुई है, किन्तु जिन के वचन के विचारयोग से शक्तिरूप से केवलज्ञान है—ऐसा स्पष्ट जाना है"—ऐसा जानने में क्या हुआ वह अब कहते हैः—

—"ऐसा श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ है;

केवलज्ञान प्रगट नही है, तथापि उसकी श्रद्धा तो प्रगट हुई है, इसलिये श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ है। देखो, अज्ञानी तो कहते है कि—"भव्य–अभव्य का निर्णय अपने से नही हो सकता, वह केवली जाने," तब यहाँ तो कहते है कि केवलज्ञान का निर्णय हो गया है, श्रद्धा में केवलज्ञान हो गया है। जिसमें से केवलज्ञान प्रगट होना है—ऐसा अखंड ज्ञायकस्वभाव जहाँ प्रतीति मे आ गया वहाँ श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ है।

❀"श्रद्धा" की बात की, अब ज्ञान-चारित्र की बात करते है।

—"विचारदशारूप से केवलज्ञान हुआ है,"

—"इच्छादशारूप से केवलज्ञान हुआ है,"

विचारदशारूप से केवलज्ञान हुआ है इसलिये केवलज्ञान कैसा होता है वह ज्ञान में आ गया है–सर्वज्ञता का निर्णय हो गया है। तथा इच्छादशारूप से केवलज्ञान हुआ है अर्थात् भावना केवलज्ञान की

ही वर्त रही है, राग की या व्यवहार की भावना नहीं है; किन्तु केवलज्ञान की ही भावना है।

❀ इतनी बात तो केवलज्ञान पर्याय की कही, किन्तु केवलज्ञान प्रगट कहाँ से होगा—वह बात भी साथ में बतलाते हैं।

"मुख्यनय के हेतु से केवलज्ञान वर्तता है"

निश्चयनय अर्थात् मुख्यनय। अध्यात्म में मुख्यनय तो निश्चय-नय ही है। उस निश्चय में वर्तमान में ही शक्तिरूप से केवलज्ञान वर्त रहा है।

शक्तिरूप से केवलज्ञान तो सभी जीवों के है, किन्तु ऐसा कहता कौन है ?—कि जिसे उस शक्ति की प्रतीति हुई है वह। इसलिये श्रद्धा तो प्रगट हुई है।

—इस प्रकार इसमें जैनशासन भर दिया है। शक्ति क्या है, व्यक्ति क्या है, शक्ति की प्रतीति क्या है, केवलज्ञान क्या है,—यह सब इसमे आ जाता है।

❀ अहो, सम्यग्दर्शन होने पर सम्यक्त्वी कहता है कि—"श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ," यहाँ ज्ञायकोन्मुख होकर क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किया उसमें भी श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ .....प्रतीति तो वर्तमान मे प्रगट हुई है। जिस प्रकार केवलीभगवान ज्ञायकत्व का ही काम करते हैं, उसी प्रकार मेरा स्वभाव भी ज्ञायक है, मेरा ज्ञान भी ज्ञायकोन्मुख रहकर ज्ञातृत्व का ही कार्य करता है—ऐसी सम्यक्त्वी को प्रतीति हुई है—इस प्रकार श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ है।

❀ सर्वज्ञस्वभाव के अवलम्बन से ऐसी श्रद्धा होने पर जीव केवलज्ञान प्राप्त करने योग्य हुआ। उसके उल्लास मे भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हुए कहते हैं कि अहो ! सर्व अव्याबाध सुख का प्रगट करनेवाला ऐसा केवलज्ञान जिनके योग से सहजमात्र मे जीव प्राप्त करने योग्य हुआ उन सत्पुरुष के उपकार को सर्वोत्कृष्ट भक्ति से नमस्कार हो ...नमस्कार हो.. !

(१०१) "केवलज्ञान की खड़ी" के तेरह प्रवचन...और केवलज्ञान के साथ संधिपूर्वक उनका अंतमंगल

—इस क्रमबद्धपर्याय पर पहलीबार के "आठ" और दूसरीबार के "पाँच"—इस प्रकार कुल तेरह प्रवचन हुए। तेरहवाँ गुणस्थान केवलज्ञान का है और ज्ञायकोन्मुख होकर इस क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करना वह "केवलज्ञान की खड़ी" है; उसका फल केवलज्ञान है। जो इसका निर्णय करे उसे क्रमबद्धपर्यायमें अल्पकाल मे केवलज्ञान हुए बिना नही रहेगा। इस क्रमबद्ध का निर्णय करनेवाला "केवली-भगवान का पुत्र" हुआ, प्रतीतिरूप से केवलज्ञान प्रगट हुआ, उसे अब विशेष भव नही हो सकते। ज्ञायकस्वभाव सन्मुख होकर यह निर्णय करने से अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, और फिर निर्मल निर्मल क्रमबद्धपर्यायें होने पर अनुक्रम से चारित्रदशा और केवलज्ञान होता है।

—इसप्रकार केवलज्ञान के साथ संधिपूर्वक ज्ञायकस्वभाव और क्रमबद्धपर्याय का अलौकिक रहस्य प्रगट करनेवाला यह विषय पूर्ण होता है।

नियत के अतिरिक्त पुरुषार्थ आदि धर्मों को यहाँ 'अनियत' कहा है—ऐसा समझना।] इस प्रकार वस्तु मे 'नियत' 'अनियत' दोनों धर्म एक समय एक साथ हैं इसलिये अनेकान्त स्वभाव है, और उसकी श्रद्धा मे अनेकान्तवाद है।

क्रमबद्धपर्याय मे पुरुषार्थ आदि का क्रम भी साथ ही है, इसलिये क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति भी आ ही जाती है। पुरुषार्थ कही क्रमबद्धपर्यायों से दूर नही रह जाता; इसलिये नियत के निर्णय में पुरुषार्थ उड नही जाता परन्तु साथ ही आ जाता है। इसलिये नियत स्वभाव की श्रद्धा वह अनेकान्तवाद है—ऐसा समझना। जो वस्तु की पर्यायों का नियत–क्रमबद्ध होना न मानें, अथवा तो क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में विद्यमान सम्यक्–पुरुषार्थ को न माने उसे अनेकान्तमय वस्तुस्वभाव की खबर नही है, वह मिथ्यादृष्टि है।

—श्री समयसार कलश २ पर पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचन से।

❀ अनेकान्त ❀

[प्रत्येक वस्तु को अनेकान्त 'अपने से पूर्ण' और 'पर से पृथक्' घोषित करता है]

प्रत्येक वस्तु अनेकान्तरूप से निश्चित् होती है। एक वस्तु में वस्तुपने को उत्पन्न करनेवाली अस्ति—नास्ति आदि परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना सो अनेकान्त है। प्रत्येक वस्तु अपने रूप से अस्तिरूप है और पररूप से नास्तिरूप है; ऐसे अस्ति—नास्तिरूप अनेकान्त द्वारा प्रत्येक वस्तु का स्वरूप निश्चित् होता है। इसी न्याय से, उपादान-निमित्त, निश्चय—व्यवहार और द्रव्य—पर्याय, इस प्रत्येक बोल का स्वरूप भी अस्ति—नास्तिरूप अनेकान्त द्वारा निम्नानुसार निश्चित् होता है:—

निमित्त सम्बन्धी अनेकान्त

उपादान और निमित्त यह दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं; दोनों पदार्थ अपने अपने स्वरूप से अस्तिरूप हैं और दूसरे के स्वरूप से नास्तिरूप है; इस प्रकार निमित्त स्व-रूप से है और पर-रूप से नही है; निमित्त निमित्तरूप से है और उपादानरूप से वह नास्तिरूप है। इसलिये उपादान में निमित्त का अभाव है, इससे उपादान मे निमित्त कुछ नही कर सकता। निमित्त निमित्त का कार्य करता है, उपादान का कार्य नही करता—ऐसा अनेकान्तस्वरूप है। ऐसे अनेकान्तस्वरूप से निमित्त को जाने तभी निमित्त का यथार्थ ज्ञान होता है। 'निमित्त निमित्त का कार्य भी करता है और निमित्त उपादान का कार्य भी करता है'—ऐसा कोई माने तो उसका अर्थ यह हुआ कि निमित्त अपनेरूप से अस्तिरूप है और पररूप से भी अस्तिरूप है; ऐसा होने

से निमित्त पदार्थ में अस्ति–नास्तिरूप परस्पर विरुद्ध दो धर्म सिद्ध नही हुए, इसलिए वह मान्यता एकान्त है। इसलिये 'निमित्त उपादान का कुछ करता है'—ऐसा जिसने माना उसने अस्ति–नास्तिरूप अनेकान्त द्वारा निमित्त के स्वरूप को नही जाना किन्तु अपनी मिथ्या-कल्पना से एकान्त मान लिया है; उसने उपादान—निमित्त की भिन्नता, स्वतन्त्रता नही मानी किन्तु उन दोनों की एकता मानी है इसलिये उसकी मान्यता मिथ्या है।

उपादान सम्बन्धी अनेकान्त

उपादान स्व–रूप से है और पररूप से नही है, इस प्रकार उपादान का अस्ति–नास्तिरूप अनेकान्तस्वभाव है। उपादान के कार्य में उपादान के कार्य की अस्ति है और उपादान के कार्य में निमित्त के कार्य की नास्ति है।—ऐसे अनेकान्त द्वारा प्रत्येक वस्तु का भिन्न भिन्न स्वरूप ज्ञात होता है, तो उपादान मे निमित्त क्या करे? कुछ भी नही कर सकता। जो ऐसा जानता है उसने उपादान को अनेकात स्वरूप से जाना है; किन्तु 'उपादान मे निमित्त कुछ भी करता है' —ऐसा जो माने उसने उपादान के अनेकान्तस्वरूप को नही जाना है किन्तु एकान्तस्वरूप से माना है; इसलिये उसकी मान्यता मिथ्या है। निश्चय–व्यवहार भी मिथ्या है।

निश्चय और व्यवहार सम्बन्धी अनेकान्त

उपादान–निमित्त की भाँति निश्चय और व्यवहार का भी अनेकान्तस्वरूप है। निश्चय है वह निश्चयरूप से अस्तिरूप है और व्यवहाररूप से नास्तिरूप है, व्यवहार है वह व्यवहाररूप से अस्तिरूप है और निश्चयरूप से नास्तिरूप है। इस प्रकार कथचित् परस्पर विरुद्ध दो धर्म होने से वह अनेकान्तस्वरूप है। निश्चय और व्यवहार का एक दूसरे मे अभाव है, परस्पर लक्षण भी विरुद्ध है—ऐसा अनेकान्त बतलाता है, तब फिर व्यवहार निश्चय मे क्या करेगा?

व्यवहार व्यवहार का कार्य करता है और निश्चय का कार्य नही करता, अर्थात् व्यवहार बन्धन का कार्य करता है और अबन्ध-

पने का कार्य नहीं करता—ऐसा व्यवहार का अनेकान्तस्वभाव है। इसके बदले व्यवहार व्यवहार का भी कार्य करता है और व्यवहार निश्चय का कार्य भी करता है—ऐसा जो मानता है उसने व्यवहार के अनेकान्तस्वरूप को नही जाना है किन्तु व्यवहार को एकान्तरूप से माना है। वह व्यवहाराभासमात्र का धारक मिथ्यादृष्टि है।

व्यवहार करते करते निश्चय होता है अर्थात् व्यवहार निश्चय का कारण होता है—ऐसा माना उसने निश्चय और व्यवहार को पृथक् नही जाना किन्तु दोनों को एक ही माना है, इसलिये वह भी एकान्त मान्यता हुई।

द्रव्य और पर्याय सम्बन्धी अनेकान्त

द्रव्य–पर्याय सम्बन्धी अनेकान्तस्वरूप इस प्रकार है: द्रव्य द्रव्यरूप से है और सम्पूर्ण द्रव्य एक पर्यायरूप नही है। पर्याय पर्याय-रूप है और एक पर्याय संपूर्ण द्रव्यरूप नही है। उसमे द्रव्य के आश्रय से धर्म नही होता है, पर्याय के आश्रय से धर्म नही होता। पर्यायबुद्धि से धर्म होता है–ऐसा मानना वह एकान्त है। स्व-द्रव्य के आश्रय से धर्म होता है उसके बदले अंश के–पर्याय के आश्रय से जिसने धर्म माना उसकी मान्यता मे पर्याय ने ही द्रव्य का काम किया अर्थात् पर्याय ही द्रव्य हो गई; उसकी मान्यता में द्रव्य–पर्याय का अनेकान्तस्वरूप नहीं आया है। द्रव्यदृष्टि से (द्रव्य के आश्रय से) ही धर्म होता है और पर्यायबुद्धि से धर्म नही होता—ऐसा मानना सो अनेकान्त है।

इस प्रकार एकान्त–अनेकान्त का स्वरूप समझना चाहिये।

जो जीव ऐसा अनेकान्त वस्तुस्वरूप समझे वह जीव निमित्त, व्यवहार या पर्याय का आश्रय छोड़कर अपने द्रव्यस्वभाव की ओर ढले बिना नही रहता; अर्थात् स्वभाव के आश्रय से उसे सम्यग्दर्शन —ज्ञानादि धर्म होते है। इस प्रकार अनेकान्त की पहिचान से धर्म का प्रारम्भ होता है। जो जीव ऐसा अनेकान्तस्वरूप न जाने वह कभी पर का आश्रय छोडकर अपने स्वभाव की ओर नही ढलेगा और न उसे धर्म होगा।

अनेकान्त का प्रयोजन

'हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि बाह्य व्यवहार के अनेक विधि-निषेध के कर्तृत्व की महिमा मे कोई कल्याण नही है। यह कही ऐकान्तिक दृष्टि से लिखा है अथवा अन्य कोई हेतु है ऐसा विचार छोडकर उन वचनो से जो भी अन्तर्मुख वृत्ति होने की प्रेरणा मिले उसे करने का विचार रखना सो सुविचार दृष्टि है।...बाह्य क्रिया के अंतर्मुखदृष्टिहीन विधि-निषेध मे कुछ भी वास्तविक कल्याण नही है।...अनेकान्तिक मार्ग भी सम्यक् एकान्त-निज पद की प्राप्ति कराने के अतिरिक्त अन्य किसी भी हेतु से उपकारी नही है, यह जानकर ही लिखा है। यह मात्र अनुकम्पाबुद्धि से, निराग्रह से, निष्कपट भाव से, निर्दम्भता से और हित दृष्टि से लिखा है; यदि इस प्रकार विचार करोगे तो यह यथार्थ दृष्टिगोचर होगा।.."

(श्रीमद् राजचन्द्र, गु. पृष्ठ ३४६-४७)

जीव और कर्म दोनों स्वतंत्र हैं

श्री अमितगति आचार्य कृत योगसार (–अर्थात् अध्यात्मतरंगिणी) के नववे अधिकार की ४६ वी गाथा मे (पृष्ठ १८६) कहा है कि—

न कर्म हंति जीवस्य न जीवः कर्मणो गुणान् ।
वध्य घातक भावोऽस्ति नान्योन्यं जीव कर्मणोः ॥ ४६ ॥

अर्थ—न तो कर्म जीव के गुणों को नष्ट करता है और न जीव ही कर्म के गुणों को नष्ट करता है इसलिये जीव और कर्म का आपस में वध्य घातक सम्बन्ध नही ।

भावार्थ—"वध्य घातक भाव" नामक विरोध में वध्य का अर्थ मरनेवाला और घात का अर्थ मारनेवाला है, यह विरोध अहिन-कुल, अग्नि–जल आदि में देखने में आता है अर्थात् नोला सर्प को मार देता है इसलिये सर्प वध्य और नोला घातक कहा जाता है तथा जल अग्नि को बुझा देता है इसलिये अग्नि वध्य और जल घातक होता है; यहाँ पर जीव और कर्मों मे यह विरोध देखने मे नहीं आता क्योकि यदि कर्म जीव के गुणों को नष्ट करता अथवा जीव कर्म के गुणों को नष्ट करता तब तो जीव और कर्म में वध्य घातक भाव नामक विरोध होता । सो तो है नहीं, इसलिये जीव और कर्म में वध्य घातक भाव नामक विरोध नही हो सकता ।

अनन्त पुरुषार्थ

> स्वभाव का अनन्त पुरुषार्थ क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में आता है। क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा नियतवाद नही किन्तु सम्यक्—पुरुषार्थवाद है।

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३२१–३२२–३२३ पर पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन

['वस्तु की पर्याय क्रमबद्ध ही होती है तथापि पुरुषार्थ के बिना शुद्ध पर्याय प्रगट नही होती' इसी सिद्धान्त पर मुख्यतया यह प्रवचन है। इस प्रवचन मे निम्नलिखित विषयो के स्वरूप का स्पष्टीकरण हो जाता है:—

१—पुरुषार्थ, २—सम्यग्दृष्टि की धर्मभावना, ३–सर्वज्ञ की यथार्थ श्रद्धा, ४–द्रव्यदृष्टि, ५–जड और चेतन पदार्थो की क्रमबद्ध-पर्याय, ६–उपादान निमित्त, ७–सम्यग्दर्शन, ८–कर्तृत्व और ज्ञातृत्व, १०–साधकदशा, ११–कर्म मे उदीरणा इत्यादि के प्रकार १२–मुक्ति की निःसन्देह प्रतिध्वनि, १३–सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि, १४–अनेकान्त और एकान्त, १५–पाँच समवाय, १६–अस्ति–नास्ति, १७–नैमित्तिक सबध, १८–निश्चय–व्यवहार, १९–आत्मज्ञ और सर्वज्ञ, २०–निमित्त की उपस्थिति होने पर भी निमित्त के बिना कार्य होता है। इसमे अनेक पहलुओ से—प्रकारान्तर से बारबार स्वतत्र पुरुषार्थ को सिद्ध किया है, और इस प्रकार पुरुषार्थस्वभावी आत्मा की पहचान कराई है। जिज्ञासुजन इस प्रवचन के रहस्य को समझकर आत्मा के स्वतत्र सत्य पुरुषार्थ की पहचान करके उस ओर उन्मुख हो यही भावना है।]

स्वामी कार्तिकेय आचार्यने तीन गाथाओ मे यह बताया है कि सम्यग्दृष्टि जीव वस्तुस्वरूप का कैसा चिंतवन करते हैं, तथा किस प्रकार पुरुषार्थ की भावना करते हैं। यह विशेष ज्ञातव्य होने से यहाँ वर्णित किया जा रहा है। वे मूल गाथायें इस प्रकार हैं:—

जं जस्स जम्मिदेसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि ।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरण वा ॥ ३२१ ॥
तं तस्स तम्मिदेसे तेणविहाणेण तम्मि कालम्मि ।
को सक्कइ चालेदुं इंदो वा अह जिणिंदो वा ॥ ३२२ ॥

अर्थः—जिस जीव को जिस देश में, जिस काल में, जिस विधि से जन्म-मरण, सुख-दुःख तथा रोग और दारिद्रय इत्यादि जैसे सर्वज्ञदेव ने जाने हैं उसी प्रकार वे सब नियम से होगे । सर्वज्ञदेव ने जिस प्रकार जाना है उसी प्रकार उस जीव के उसी देश में, उसी काल में और उसी विधि से नियम पूर्वक सब होता है, उसके निवारण करने के लिए इन्द्र या जिनेन्द्र तीर्थंकरदेव कोई भी समर्थ नही है ।

भावार्थः—सर्वज्ञदेव समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अवस्थाओ को जानते है । सर्वज्ञ के ज्ञान मे जो कुछ प्रतिभासित हुआ है, वह सब निश्चय से होता है; उसमें हीनाधिक कुछ भी नही होता, इस प्रकार सम्यग्दृष्टि विचार करता है । (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा पृष्ठ १२५)

इस गाथा मे यह वताया है कि सम्यग्दृष्टि की धर्मानुप्रेक्षा कैसी होती है । सम्यग्दृष्टि जीव वस्तु के स्वरूप का किस प्रकार चितवन करता है यह बात यहाँ बताई है । सम्यग्दृष्टि की यह भावना दुःख मे धीरज दिलाने के लिये अथवा झूठा आश्वासन देने के लिये नही है किन्तु जिनेन्द्रदेव के द्वारा देखा गया वस्तुस्वरूप जिस प्रकार है उसी प्रकार स्वयं चितवन करता है; वस्तुस्वरूप ऐसा ही है, वह कोई कल्पना नही है । यह धर्म की बात है । 'जिस काल मे जो होने वाली अवस्था सर्वज्ञभगवान ने देखी है उस काल मे वही अवस्था होती है दूसरी नही होती' इसमें एकान्तवाद या नियतवाद नही है किन्तु इसीमे सच्चा अनेकान्तवाद और सर्वज्ञता की भावना तथा ज्ञान का अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है ।

आत्मा सामान्य-विशेषस्वरूप वस्तु है, अनादि अनन्त ज्ञान-

स्वरूप है उस सामान्य और उस ज्ञान मे से समय समय पर जो पर्याय होती है वह विशेष है। सामान्य स्वयं ध्रुव रहकर विशेषरूप मे परिणमन करता है; उस विशेष पर्याय मे यदि स्वरूप की रुचि करे तो समय समय पर विशेष मे शुद्धता होती है, और यदि उस विशेष पर्याय में ऐसी विपरीत रुचि करे कि 'जो रागादि, देहादि हैं वह मैं हूँ' तो विशेष मे अशुद्धता होती है। इस प्रकार यदि स्वरूप की रुचि करे तो शुद्ध पर्याय क्रमवद्ध प्रगट होती है, और यदि विकार की—पर की रुचि होती है तो अशुद्ध पर्याय क्रमवद्ध प्रगट होती है, चैतन्य की क्रमवद्धपर्याय मे अन्तर नही पड़ता, किन्तु क्रमबद्ध का ऐसा नियम है कि जिस ओर की रुचि करता उस तरफ की क्रमबद्ध दशा होती है, जिसे क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होती है उसे द्रव्य की रुचि होती है और जिसे द्रव्य की रुचि होती है उसकी क्रमबद्धपर्याय शुद्ध ही होती है, अर्थात् सर्वज्ञभगवान के ज्ञान के अनुसार क्रमबद्धपर्याय ही होती है उसमें कोई अन्तर नही पड़ता। इतना निश्चय करने मे तो द्रव्य की ओर का अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है। यहाँ पर्याय का क्रम नही बदलना है किन्तु अपनी ओर रुचि करनी है।

प्रश्न—जगत के पदार्थों की अवस्था क्रमवद्ध होती है। जड अथवा चेतन इत्यादि सभी मे एक के वाद दूसरी क्रमवद्ध अवस्था श्री सर्वज्ञदेव ने देखी है उसीके अनुसार अनादि अनन्त समयवद्ध होती है तब फिर इसमे पुरुषार्थ करने की वात ही कहाँ रही ?

उत्तर—मात्र आत्मा की ओर का ही पुरुपार्थ किया जाता है तव ही क्रमवद्धपर्याय की श्रद्धा होती है। जिसने अपने आत्मा में क्रमवद्धपर्याय का निर्णय किया कि अहो! जड और चैतन्य सभी की अवस्था क्रमवद्ध स्वयं हुआ करती है, मैं पर में क्या कर सकता हूँ? मेरा ऐसा स्वरूप है कि मात्र जैसा होता है मैं वैसा ही जानता हूं; ऐसे निर्णय में पर की अवस्था मे अच्छा बुरा मानना नही रह जाता किन्तु ज्ञातृत्व ही रहता है, अर्थात् विपरीत मान्यता और अन-

न्तानुबन्धी कषाय का नाश हो जाता है। अनन्त पर द्रव्य के कर्तृत्व का महा मिथ्यात्वभाव दूर होकर अपने ज्ञाता स्वभाव की अनन्त दृढता हो गई। ऐसा अपनी ओर का अनन्त पुरुषार्थ क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा मे हुआ है।

समस्त द्रव्यो की अवस्था क्रमबद्ध होती है। मैं उसे जानता हूँ किन्तु मैं किसी का कुछ नही करता ऐसी मान्यता के द्वारा मिथ्यात्व का नाश करके पर से पुनरावृत्त होकर जीव अपनी ओर झुकता है। सर्वज्ञदेव के ज्ञान मे जो प्रतिभासित हुआ है उसमे कोई अन्तर नहीं पड़ता, समस्त पदार्थों की समय समय पर जो अवस्था क्रमबद्ध होती है वही होती है, ऐसे निर्णय मे सम्यग्दर्शन भी आ जाता है। इसमें पुरुषार्थ किस प्रकार आया सो बतलाते हैं।

१—पर की अवस्था उसके क्रमानुसार होती ही रहती है, मैं पर का कुछ नही करता यह निश्चय किया कि सभी पर द्रव्यो का अभिमान दूर हो जाता है।

२—विपरीत मान्यता के कारण पर की अवस्था में अच्छा बुरा मानकर जो अनन्तानुबन्धी रागद्वेष करता था वह दूर हो गया। इस प्रकार क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करने पर परद्रव्य के लक्ष से हटकर स्वय रागद्वेष रहित अपने ज्ञातास्वभाव मे आ गया अर्थात् अपने हित के लिये परमुखापेक्षा रुक गई और ज्ञान अपनी ओर प्रवृत्त हो गया। अपने द्रव्य में भी एक के बाद दूसरी अवस्था क्रमबद्ध होती है। मैं तो तीनोकाल की क्रमबद्ध अवस्थाओं का पिंडरूप द्रव्य हूँ, वस्तु तो ज्ञाता ही है, एक अवस्था जितनी वस्तु नही है, अवस्था में जो राग-द्वेष होता है वह पर वस्तु के कारण नही किन्तु वर्तमान अवस्था की दुर्बलता से होता है, उस दुर्बलता को भी देखना नही रहा किन्तु पुरुषार्थ से परिपूर्ण ज्ञातास्वरूप मे ही देखना रहा। उस स्वरूप के लक्ष से पुरुषार्थ की दुर्बलता अल्प काल मे टूट जायगी।

क्रमबद्धपर्याय द्रव्य में से आती है, पर पदार्थ मे से नही आती, तथा एक पर्याय मे से दूसरी पर्याय प्रगट नही होती इसलिये अपनी पर्याय के लिये पर द्रव्य की ओर अथवा पर्याय को नही देखना रहा किन्तु मात्र ज्ञातास्वरूप को ही देखना रहा। जिसकी ऐसी दशा हो जाती है, समझना चाहिये कि उसने सर्वज्ञ के ज्ञान के अनुसार क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किया है।

प्रश्न—सर्वज्ञभगवान ने देखा हो तभी तो आत्मा की रुचि होती है न ?

उत्तरः—यह किसने निश्चय किया कि सर्वज्ञभगवान सब कुछ जानते है ? जिसने सर्वज्ञभगवान की ज्ञानशक्ति को अपनी पर्याय मे निश्चित् किया है उसकी पर्याय ससार से और राग से हटकर अपने स्वभाव की ओर लग गई है; तभी तो वह सर्वज्ञ का निर्णय करता है। जिसकी पर्याय ज्ञानस्वभाव की ओर हो गई है उसे आत्मा की ही रुचि होती है। जिसने यह यथार्थतया निश्चय किया कि 'अहो ! केवलीभगवान तीनकाल और तीनलोक के ज्ञाता हैं; वे अपने ज्ञान से सब कुछ जानते हैं किन्तु किसी का कुछ नही करते,' उसने अपने आत्मा को ज्ञातास्वभाव के रूप मे मान लिया और उसकी तीनकाल और तीनलोक के समस्त पदार्थों की कर्तृत्वबुद्धि दूर हो गई है अर्थात् अभिप्राय की अपेक्षा से वह सर्वज्ञ हो गया है। ऐसा स्वभाव का अनंत पुरुषार्थ क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा मे आता है। क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा एकान्त नियतवाद नही है किन्तु पाँचो समवाय सहित सम्यक् पुरुषार्थवाद है।

प्रस्तुत द्रव्यों की एक के बाद दूसरी जो अवस्था होती है उसका कर्ता स्वयं वही द्रव्य होता है, किन्तु मैं उसका कर्ता नही हूँ और न मेरी अवस्था को कोई अन्य करता है। किसी निमित्तकारण से रागद्वेष नही होते। इस प्रकार निमित्त और रागद्वेष को जाननेवाली मात्र स्वसन्मुख ज्ञान की अवस्था रह जाती है, वह अवस्था ज्ञाता-

स्वरूप को जानती है, रागको जानती है और सभी पर को भी जानती है, मात्र जानना ही ज्ञान का स्वरूप है। जो राग होता है वह ज्ञान का ज्ञेय है किन्तु राग उस ज्ञान का स्वरूप नही है—ऐसी श्रद्धा मे ज्ञान का अनन्त पुरुषार्थ समाविष्ट रहता है। यह समझने के लिये ही आचार्यदेव ने यहाँ पर दो गाथायें देकर वस्तु स्वरूप बताया है। सम्यग्दृष्टि को अभी केवलज्ञान नही हुआ इससे पूर्व अपने केवलज्ञान की भावना को करता हुआ वस्तुस्वरूप का विचार करता है। सर्वज्ञता के होने पर वस्तुस्वरूप कैसा ज्ञात होगा इसका चिंतवन करता है।

आत्मा की अवस्था क्रमबद्ध होती है। जब आत्मा की जो अवस्था होती है तब उस अवस्था के लिये अनुकूल निमित्तरूप पर वस्तु स्वयं उपस्थित होती ही है। आत्मा की क्रमबद्ध पर्याय की जो योग्यता हो उसके अनुसार यदि निमित्त न आये तो वह पर्याय कही अटक जायगी सो बात नही है। यह प्रश्न ही अज्ञान से परिपूर्ण है कि यदि निमित्त न होगा तो यह कैसे होगा, उपादानस्वरूप की दृष्टिवाले के यह प्रश्न ही नही उठ सकता। वस्तु मे अपने क्रम से जब अवस्था होती है तब निमित्त होता ही है, ऐसा नियम है।

धूप परमाणु की ही प्रकाशमान दशा है और छाया भी परमाणु की काली दशा है। परमाणु मे जिस समय काली अवस्था होनी होती है उसी समय काली अवस्था उसके द्वारा स्वय होती है, और उस समय सामने दूसरी वस्तु उपस्थित होती है। परमाणु की काली दशा के क्रम को बदलने के लिये कोई समर्थ नही है। धूप मे बीच में हाथ रखने पर नीचे जो परछाईं पडती है वह हाथ के कारण नही होती, किन्तु वहाँ के परमाणु की ही उस उस समय क्रमबद्ध अवस्था काली होती है। अमुक परमाणुओं मे दोपहर को ३ बजे काली अवस्था होनी है ऐसा सर्वज्ञदेव ने देखा है और यदि उस समय हाथ न आये तो उन परमाणुओ की ३ बजे होनेवाली दशा अटक जायगी ? नही ! ऐसा बनता ही नही। परमाणुओं में ठीक ३ बजे काली अवस्था होनी हो, तो ठीक उसी समय हाथ इत्यादि निमित्त

स्वयं उपस्थित होते ही है; सर्वज्ञदेव ने अपने ज्ञान मे यह देखा हो कि ३ बजे अमुक परमाणुओ की काली अवस्था होनी है और यदि निमित्त का अभाव होने से अथवा निमित्त के विलम्ब से आने के कारण वह अवस्था विलंब से हो तो सर्वज्ञ का ज्ञान गलत ठहरेगा, किन्तु यह असंभव है। जिस समय वस्तु की जो क्रमबद्ध अवस्था होनी होती है उस समय निमित्त उपस्थित न हो, यह हो ही नही सकता। निमित्त होता तो है किन्तु वह कुछ करता नही है।

यहाँ पर पुद्गल का दृष्टात दिया गया है इसी प्रकार अब जीव का दृष्टांत देकर समझाते हैं। किसी जीव के केवलज्ञान प्रगट होना हो और शरीर मे वज्रवृषभनाराचसंहनन न हो तो केवलज्ञान रुक जायगा ऐसी मान्यता बिलकुल असत्य पराधीन दृष्टि की है। जीव केवलज्ञान प्राप्त करने की तैयारी मे हो और शरीर मे वज्रवृषभनाराचसंहनन न हो ऐसा कदापि हो ही नही सकता। जहाँ उपादान स्वयं सन्नद्ध हो वहाँ निमित्त स्वय उपस्थित होता ही है। जिस समय उपदान कार्यरूप में परिणमित होता है उसी समय दूसरी वस्तु निमित्तरूप उपस्थित होती है, निमित्त बाद में आता हो सो बात नही है। जिस समय उपादान का कार्य होता है उसी समय निमित्त की उपस्थिति भी होती है, ऐसा होने पर भी निमित्त-उपादान के कार्य मे किसी भी प्रकार की सहायता, असर, प्रभाव अथवा परिवर्तन नही करता। यह नही हो सकता कि निमित्त न हो; और निमित्त से कार्य हो ऐसा भी नहीं हो सकता। चेतन अथवा जड़ द्रव्य मे उसकी अपनी जो क्रमबद्ध अवस्था जव होनी होती है तब अनुकूल निमित्त उपस्थित होते हैं। ऐसा जो स्वाधीनदृष्टि का विषय है उसे सम्यग्दृष्टि ही जानता है, मिथ्यादृष्टियो को वस्तु की स्वतन्त्रता की प्रतीति नही होती इसलिये उनकी दृष्टि निमित्त पर जाती है।

अज्ञानी को वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान नही है इसलिये वस्तु की क्रमबद्धपर्याय मे शंका करता है कि यह ऐसा कैसे हो गया ? उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की और वस्तु की स्वतंत्रता की प्रतीति नही है; ज्ञानी को

वस्तुस्वरूप में शंका नहीं होती। वह जानता है कि जिस काल में जिस वस्तु की जो पर्याय होती है वह उस की क्रमबद्ध अवस्था है, मै तो मात्र जाननेवाला हूँ; इस प्रकार ज्ञानी को अपने ज्ञातृत्वस्वभाव की प्रतीति है। इसलिये सर्वज्ञभगवान के द्वारा जाने गये वस्तुस्वरूप का चिंतवन करके वह अपने ज्ञान की भावना को बढ़ाता है कि जिस समय जो जैसा होता है उसका मैं वैसा ज्ञायक ही हूँ; अपने ज्ञायक-स्वरूप की भावना करते करते मेरा केवलज्ञान प्रगट हो जायगा।

ऐसी भावना केवलीभगवान के नहीं होती किन्तु जिसे अभी अल्प रागद्वेष होता है ऐसे चौथे, पाचवें और छठे गुणस्थानवाले ज्ञानी की धर्मभावना का यह विचार है; इसमें यथार्थ वस्तुस्वरूप की भावना है यह कोई मिथ्या कल्पना या दुःख के आश्वासन के लिये नही है। सम्यग्दृष्टि किसी भी संयोग-वियोग को आपत्ति का कारण नही मानते किन्तु ज्ञान की अपूर्णदशा के कारण अपनी दुर्बलता से अल्प राग-द्वेष होता है—उस समय सपूर्ण ज्ञानदशा किस प्रकार की होती है इसका वे इस तरह चिंतवन करते हैं।

जिस काल मे जिस वस्तु की जो अवस्था सर्वज्ञदेव के ज्ञानमें ज्ञात हुई है उसी प्रकार क्रमबद्ध अवस्था होगी। भगवान तीर्थंकरदेव भी उसे बदलने मे समर्थ नही हैं, देखिये इस मे सम्यग्दृष्टि की भावना कि निःशकता का कितना बल है। 'भगवान भी उसे बदलने में समर्थ नही हैं' यह कहने में वास्तव मे अपने ज्ञान की निःशंकता ही है। सर्वज्ञदेव मात्र ज्ञाता हैं किन्तु वे किसी भी तरह का परिवर्तन करने मे समर्थ नही हैं, तब फिर मैं तो कर ही क्या सकता हूँ ? मैं भी मात्र ज्ञाता ही हूँ, इस प्रकार अपने ज्ञान की पूर्णता की भावना का बल है।

जिस क्षेत्र मे जिस शरीर के जीवन या मरण, सुख या दुःख का संयोग इत्यादि जिस विधि से होना है उसमे किंचित् मात्र भी अतर नही आ सकता। सांप का काटना, पानी मे डूबना, अग्नि मे जलना

इत्यादि जो संयोग होना है उसे बदलने मे कोई भी तीनकाल और तीन-लोक मे समर्थ नही है। स्मरण रहे कि इसमे महानतम सिद्धात निहित है जो कि मात्र पुरुपार्थ को सिद्ध करता है। इसमें स्वामी कार्तिकेय आचार्य ने वारह भावना का स्वरूप वर्णित किया है। वे महा सन्तमुनि थे, वे दो हजार वर्ष पूर्व हो गये हैं। वस्तुस्वरूप को दृष्टि में रखकर इस शास्त्र मे भावनाओं के स्वरूप का वर्णन किया गया है। यह शास्त्र सनातन जैन परम्परा मे वहुत प्राचीन माना जाता है। स्वामी कार्तिकेय के सम्बन्ध मे श्रीमद् राजचन्द्र ने भी कहा है कि—'नमस्कार हो उन स्वामी कार्तिकेय को'। इन महा सन्तमुनि के कथन मे वहुत गहन रहस्य भरा हुआ है।

'जो जिस जीव के' अर्थात् सभी जीवो के लिए यही नियम है कि जिस जीव को जिस काल मे जीवन, मरण इत्यादि का कोई भी संयोग, सुख दुःख का निमित्त आने वाला है उसमे परिवर्तन करने के लिये देवेन्द्र, नरेन्द्र अथवा जिनेन्द्र इत्यादि कोई भी समर्थ नहीं हैं। यह सम्यग्दृष्टि जीव के यथार्थज्ञान की पूर्णता की भावना का विचार है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है, उसे अपने ज्ञान मे लिया जाता है किन्तु किसी संयोग के भय से आड़ लेने के लिये यह विचार नही है। एक पर्याय मे तीन काल और तीन लोक के पदार्थों का ज्ञान इस प्रकार ज्ञात हो जाय सम्यग्दृष्टि इसका विचार करता है।

यहाँ सुख दुःख के संयोग की बात की गई है। सयोग के समय भीतर स्वयं जो शुभ या अशुभभाव होता है वह आत्मा के वीर्य का कार्य है। पुरुषार्थ की दुर्वलता से राग-द्वेष होता है, वहाँ सम्यग्दृष्टि अपनी पर्याय की हीनता को स्व-लक्ष से जानता है, वह यह नही मानता कि संयोग के कारण से निज को रागद्वेष होता है, किन्तु वह यह मानता है कि जैसा सर्वज्ञदेव ने देखा है वैसा ही सयोग वियोग क्रमशः होता है मिथ्यादृष्टि जीव यह मानता है कि पर-सयोग के कारण से निज को रागद्वेष होता है इसलिये वह संयोग को बदलना चाहता है, उसे वीतरागशासन के प्रति श्रद्धा नही है।

उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की भी श्रद्धा नहीं है, क्योंकि जो कुछ होता है वह सब सर्वज्ञदेव के ज्ञान के अनुसार होता है फिर भी वह शंका करता है कि ऐसा क्यों कर हुआ ? यदि उसे सर्वज्ञ की श्रद्धा हो तो उसे यह निश्चय करना चाहिये कि जो कुछ सर्वज्ञदेव ने देखा है उसीके अनुसार सब कुछ होता है, और ऐसा होने से यह मान्यता दूर हो जाती है कि संयोग के कारण अपने में रागद्वेष होता है। और यह मान्यता भी दूर हो जाती है कि मैं संयोग को बदल सकता हूँ। जो इस सम्बन्ध मे थोड़ा-सा भी अन्यथा मानता है, समझना चाहिये कि उसे वीतरागशासन के प्रति थोड़ी भी श्रद्धा नही है।

जिस जीव को जिस निमित्त के द्वारा जो अन्न-जल मिलना होता है उस जीव को उसी निमित्त के द्वारा वे ही रज-कण मिलेगे, उसमें एक समयमात्र अथवा एक परमाणुमात्र का परिवर्तन करने के लिये कोई समर्थ नही है। जीवन, मरण, सुख, दुःख और दरिद्रता इत्यादि जो जब जैसा होने वाला है वैसा ही होगा, उसमें लाख प्रकार की सावधानी रखनेपर भी किंचित् मात्र परिवर्तन नही हो सकता; उसे इन्द्र, नरेन्द्र, अथवा जिनेन्द्र आदि कोई भी बदलने मे समर्थ नही है। इसमे नियतवाद नही है किन्तु मात्र ज्ञायकपन का पुरुषार्थवाद ही है।

'जैसा सर्वज्ञभगवान ने देखा है वैसा ही होता है, इसमे किंचित् मात्र भी परिवर्तन नही होता' ऐसी दृढ प्रतीति को नियतवाद नही कहते किन्तु यह तो सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा का पुरुषार्थवाद है। सम्यग्दर्शन के बिना यह बात नही जमती। पर मे कुछ नही देखना है किन्तु निज में ही देखना है। जिसकी दृष्टि मात्र परपदार्थ पर ही है उसे भ्रम से ऐसा लगता है कि यह तो नियतवाद है; किन्तु यदि स्व-वस्तु की ओर से देखे तो इसमे मात्र स्वाधीन तत्त्वदृष्टि का पुरुषार्थ ही भरा हुआ है, वस्तु का परिणमन सर्वज्ञ के ज्ञान के अनुसार क्रमबद्ध होता है, जहाँ ऐसा निश्चय किया कि जीव समस्त पर

द्रव्यों से उदास हो जाता है और इसलिये उसे स्व–द्रव्य में ही देखना होता है और उसीमें सम्यक् पुरुषार्थ आ जाता है। इस पुरुषार्थ में मोक्ष के पाँचों समवाय समाविष्ट हो जाते हैं। इस क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा के भाव सर्वज्ञभगवान के ज्ञान का अवलम्बन करनेवाले हैं; यह भाव तीनकाल और तीनलोक मे बदलनेवाले नही हैं। यदि सर्वज्ञ का केवलज्ञान गलत हो जाय तो यह भाव बदले, जो कि सर्वथा अशक्य है। जगत जगत ही है, यदि जगत के जीवों के यह बात नही बैठती तो इससे क्या? जो वस्तु–स्वरूप सर्वज्ञदेव ने देखा है वह कभी नहीं बदल सकता। जैसा सर्वज्ञदेव ने देखा है वैसा ही होता है, इसमें जो शंका करता है वह मिथ्यादृष्टि है। निमित्त और सयोग मे मैं परिवर्तन कर सकता हूँ ऐसा माननेवाला सर्वज्ञ के ज्ञान मे शंका करता है, और इसलिये वह प्रगटरूप मिथ्यादृष्टि अज्ञानी मूढ है।

अहो! इस एक सत्य को समझ लेने पर जगत के समस्त द्रव्यों के प्रति कितना उदासीनभाव हो जाता है। चाहे कम खाने का भाव करे या अधिक खाने का भाव करे किन्तु जितने और जो परमाणु आना हैं उतने और वे ही परमाणु आयेंगे, उनमे से एक भी परमाणु को बदलने मे कोई जीव समर्थ नही है। बस, ऐसा जान कर शरीर का और पर का कर्तृत्व छूटकर ज्ञानस्वभाव की प्रतीति होनी चाहिये। इसे मानने मे अनन्त वीर्य अपनी ओर कार्य करता है। जो जीव पर का कर्तृत्व अन्तरंग से मानता हो, पर मे सुखबुद्धि हो और कहे कि जो होना है सो होगा, यह तो शुष्कता है, यह बात ऐसी नही है। जब अनन्त पर द्रव्यो से पृथक् होकर जब जीव मात्र स्वभाव मे संतोष मानता है तब यह बात यथार्थ बैठती है, इसकी स्वीकृति मे तो सभी पर पदार्थों से हटकर ज्ञान, ज्ञान मे ही लगता है, अर्थात् मात्र वीतरागभाव का पुरुषार्थ प्रगट हुआ है। नरेन्द्र, देवेन्द्र अथवा जिनेन्द्र तीनकाल और तीनलोक मे एक परमाणु को भी बदलने मे समर्थ नही हैं। जिसके ऐसी प्रतीति है वह ज्ञान की ओर उन्मुख हुआ है और

उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त है; वह क्रमशः ज्ञान की दृढ़ता के बल से राग का नाश करके अल्प काल में ही केवलज्ञान को प्राप्त कर लेगा, क्योंकि यह निश्चय किया हुआ है कि सब कुछ क्रमबद्ध ही होता है इसलिये वह अब ज्ञाताभाव से जानता ही है, ज्ञान की एकाग्रता की कचाई के कारण वर्तमान में कुछ अपूर्ण जानता है और अल्प राग-द्वेष भी होता है, परन्तु मैं तो ज्ञान ही हूँ ऐसी श्रद्धा के बल से, पुरुषार्थ की पूर्णता करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेगा; इसलिये 'मैं तो ज्ञातास्वरूप हूँ, पर पदार्थों की क्रिया स्वतंत्र होती है उसका मै कर्ता नही हूँ किन्तु ज्ञाता ही हूँ' इस प्रकार की यथार्थ श्रद्धा ही केवलज्ञान को प्रगट करने का एक मात्र अपूर्व और अफर (अप्रतिहत) उपाय है।

जो कुछ वस्तु में होता है वह सब केवली जानता है और जो कुछ केवली ने जाना है वह सब वस्तु मे होता है। इस प्रकार ज्ञेय और ज्ञायक का परस्पर मेल—संबंध है। यदि ज्ञेय ज्ञायक का मेल न माने और कर्ता कर्म का किंचितमात्र भी मेल माने तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है। केवलज्ञानी सम्पूर्ण ज्ञायक है, उनके किसी भी पदार्थ के प्रति कर्तृत्व या रागद्वेषभाव नहीं होता। सम्यग्दृष्टि के भी ऐसी श्रद्धा होती है कि केवलज्ञानी की तरह मैं भी ज्ञाता ही हूँ, मै किसी भी वस्तु का कुछ नहीं कर सकता तथा किसी वस्तु के कारण मुझमे कुछ परिवर्तन नही होता, यदि अस्थिरता से राग हो जाय तो वह मेरा स्वरूप नही है। इस प्रकार श्रद्धा की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि भी ज्ञायक ही है। जिसने यह माना कि नियमपूर्वक वस्तु की क्रमबद्धदशा होती है वह वस्तुस्वरूप का ज्ञाता है।

हे भाई! यह नियतवाद नही है, किन्तु अपने ज्ञान मे समस्त पदार्थों के नियति (क्रमबद्ध अवस्थाओं) का निर्णय करनेवाला पुरुषार्थवाद है। जब कि समस्त पदार्थो की क्रमबद्ध अवस्था होती है तो मैं उसके लिये क्या करूँ ? मै किसी की अवस्था का क्रम बदलने के लिये समर्थ नही हूँ, मेरी क्रमबद्ध अवस्था मेरे द्रव्यस्वभाव मे से प्रगट होती है, इसलिये मैं अपने द्रव्यस्वभाव मे एकाग्र रह कर सब का ज्ञाता

ही हूँ—ऐसी स्वभावदृष्टि (द्रव्यदृष्टि) मे अनंत पुरुषार्थ आ जाता है।

प्रश्न—जब कि सभी क्रमबद्ध है और उसमे जीव कोई भी परिवर्तन नही कर सकता तो फिर जीव मे पुरुषार्थ कहाँ रहा ?

उत्तर—सब कुछ क्रमबद्ध है, इस निर्णय मे ही जीव का अनन्त पुरुषार्थ समाविष्ट है, किन्तु उसमें कोई परिवर्तन करना आत्मा के पुरुषार्थ का कार्य नही है। भगवान जगत का सब कुछ मात्र जानते ही हैं किन्तु वे भी कोई परिवर्तन नही कर सकते, तब क्या इससे भगवान का पुरुषार्थ परिमित हो गया ? नही, नही, भगवान का अनंत अपरिमित पुरुषार्थ अपने ज्ञान मे समाविष्ट है। भगवान का पुरुषार्थ निज मे है, पर मे नही। पुरुषार्थ जीव द्रव्य की पर्याय है इसलिये उसका कार्य जीव की पर्याय मे होता है किन्तु जीव के पुरुषार्थ का कार्य पर मे नही होता।

जो यह मानता है कि सम्यग्दर्शन और केवलज्ञानदशा आत्मा के पुरुषार्थ के बिना होती है वह मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानी प्रतिक्षण स्वभाव की पूर्णता के पुरुषार्थ की भावना करता है। अहो ! जिनका पूर्ण ज्ञायकस्वभाव प्रगट हो गया है वे केवलज्ञानी हैं; उनके ज्ञान मे सब कुछ एक ही साथ ज्ञात होता है। ऐसी प्रतीति करने पर स्वयं भी निज दृष्टि से देखनेवाला ही रहा, ज्ञान के अतिरिक्त पर का कर्तृत्व अथवा रागादिक सब कुछ अभिप्राय मे से दूर हो गया। ऐसी द्रव्यदृष्टि के बल से ज्ञान की पूर्णता की भावना से वस्तुस्वरूप का चितवन करता है। यह भावना ज्ञानी की है, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि की नही है; क्योकि मिथ्यादृष्टि जीव पर का कर्तृत्व मानता है और कर्तृत्व की मान्यतावाला जीव ज्ञातृत्व की यथार्थ भावना नही कर सकता, क्योकि कर्तृत्व और ज्ञातृत्व का परस्पर विरोध है।

'सर्वज्ञभगवान ने अपने केवलज्ञान मे जैसा देखा है वही होता है। यदि हम उसमे कोई परिवर्तन नही कर सकते तो फिर उसमे पुरुषार्थ नही रहता,' इसप्रकार जो मानते हैं वे अज्ञानी हैं। हे भाई ! तू किसके ज्ञान से बात करता है ? अपने ज्ञान से या दूसरे के ज्ञान

से ? यदि तू अपने ज्ञान से ही बात करता है तो फिर जिस ज्ञान ने सर्वज्ञ का और सभी द्रव्यों की अवस्था का निर्णय कर लिया उस ज्ञान में स्वद्रव्य का निर्णय न हो यह हो ही कैसे सकता है ? स्वद्रव्य का निर्णय करनेवाले ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ है।

तूने अपने तर्क मे कहा है कि 'सर्वज्ञभगवान ने अपने केवलज्ञान में जैसा देखा हो वैसा होता है' तो वह मात्र बात करने के लिये कहा है—अथवा तुझे सर्वज्ञ के केवलज्ञान का निर्णय है ? पहले तो यदि तुझे केवलज्ञान का निर्णय न हो तो सर्वप्रथम वह निर्णय कर और यदि तू सर्वज्ञ के निर्णयपूर्वक कहता हो तो सर्वज्ञभगवान के केवलज्ञान के निर्णयवाले ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ आ ही जाता है। सर्वज्ञ का निर्णय करने मे ज्ञान का अनन्तवीर्य कार्य करता है तथापि उससे इन्कार करके तू कहता है कि क्रमवद्धपर्याय में पुरुषार्थ कहाँ रहा ? सच तो यह है कि तुझे पूर्ण केवलज्ञान के स्वरूप की ही श्रद्धा नही है, और केवलज्ञान को स्वीकार करने का अनन्त पुरुषार्थ तुझमें प्रगट नही हुआ। केवलज्ञान को स्वीकार करने में अनन्त पुरुषार्थ का अस्तित्व आ जाता है तथापि यदि उसे स्वीकार नहीं करता तो कहना होगा कि तू मात्र वातें ही करता है किन्तु तुझे सर्वज्ञ का निर्णय नही हुआ। यदि सर्वज्ञ का निर्णय हो तो पुरुषार्थ की और भव की शंका न रहे। यथार्थ निर्णय हो जाय और पुरुषार्थ न आये यह हो ही नही सकता।

अनन्त पदार्थों को जाननेवाले, अनन्त पदार्थों से परिपूर्ण और भवरहित केवलज्ञान का जिस ज्ञान ने अपने पुरुषार्थ के द्वारा निर्णय किया उस ज्ञानने अपने पुरुषार्थ के द्वारा निर्णय किया है या विना ही पुरुषार्थ के ? जिसने भवरहित केवलज्ञान को प्रतीति मे लिया है उसने राग मे लिप्त होकर प्रतीति नही की किन्तु राग से पृथक् करके अपने ज्ञानस्वभाव में स्थिर होकर भवरहित केवलज्ञान की प्रतीति की है। जिस ज्ञान ने ज्ञान में स्थिर होकर भवरहित केवलज्ञान

की प्रतीति की है वह ज्ञान स्वयं भवरहित है और इसलिये उस ज्ञान मे भव की शंका नही है। पहले केवलज्ञान की प्रतीति नही थी तब वह अनंत भव की शंका में झूलता रहता था और अब प्रतीति होने पर अनत भव की शंका दूर हो गई है और एकाध भव में मोक्ष के लिये ज्ञान निःशंक हो गया है। उस ज्ञान मे अनन्त पुरुषार्थ निहित है। इस प्रकार 'सर्वज्ञभगवान ने अपने केवलज्ञान में जैसा देखा हो वैसा ही होता है,' ऐसी यथार्थ श्रद्धा में अपनी भवरहितता का निर्णय समाविष्ट हो जाता है, अर्थात् उसमे मोक्ष का पुरुषार्थ आ जाता है। यथार्थ निर्णय के बल से मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

सभी द्रव्यो की तरह अपने द्रव्य की अवस्था भी क्रमबद्ध ही है। जैसे अन्य द्रव्यो की क्रमबद्धपर्याय इस जीव से नही होती वैसे ही इस जीव की क्रमबद्धपर्याय अन्य द्रव्यो से नही होती। अपनी क्रमबद्ध-पर्याय के स्वभाव की प्रतीति करने पर अपने द्रव्यस्वभाव में ही देखा जाता है कि अहो! मेरी पर्यायें तो मेरे द्रव्य मे से ही आती है, द्रव्य मे रागद्वेष नही है, कोई परद्रव्य मुझे रागद्वेष नही कराता। पर्याय मे जो अल्प रागद्वेष है वह मेरी नबलाई का कारण है; वह नबलाई भी मेरे द्रव्य मे नही है। ऐसा होने से उस जीव को पर मे न देखकर अपने स्वभाव में ही देखना रह जाता है अर्थात् द्रव्यदृष्टि मे स्थिर होना रह जाता है। स्वभाव के बल से अल्प काल मे राग को दूर करके वह केवलज्ञान को अवश्य प्राप्त करेगा। बस, इसी का नाम क्रमबद्ध-पर्याय की श्रद्धा है, इस जीव ने ही सर्वज्ञ को यथार्थतया जाना है, और यही जीव स्वभावदृष्टि से साधक हुआ है, उसका फल सर्वज्ञ-दशा है।

द्रव्य मे समय समय पर जो विशेष अवस्था होती है वह विशेष सामान्य मे से ही आती है, सामान्य मे से विशेष प्रगट होता है, इसमें केवलज्ञान भरा हुआ है। जैन के अतिरिक्त सामान्य—विशेष की यह बात जैन को छोड़कर अन्यत्र कही भी नही है और सम्यग्दृष्टि के अतिरिक्त अन्य लोग उसे यथार्थतया समझ नही सकते। सामान्य में

से विशेष होता है इतना सिद्धांत निश्चित् करने पर वह परिणमन निज की ओर ढल जाता है। पर से मेरी पर्याय नहीं होती, निमित्त से भी नहीं होती, विकल्प से भी नहीं होती और पर्याय में से भी मेरी पर्याय नही होती। इस प्रकार सब से लक्ष हटाकर जो जीव मात्र द्रव्य की ओर झुका है उस जीव को ऐसी प्रतीति हो गई है कि सामान्य मे से ही विशेष होता है। अज्ञानी को ऐसी स्वाधीनता की प्रतीति नही होती।

भगवान ने जैसा देखा है वैसा ही होता है यह निश्चय करनेवाले का वीर्य पर से हटकर निज में स्तम्भित हो गया है। ज्ञान ने निज में स्थिर होकर सर्वज्ञ की ज्ञानशक्ति का और समस्त द्रव्यों का निर्णय किया है। वह निर्णयरूप पर्याय न तो किसी पर में से आई है और न विकल्प मे से भी आई है। किन्तु वह निर्णय की शक्ति द्रव्य मे से प्रगट हुई है, अर्थात् निर्णय करनेवाले ने द्रव्य को प्रतीति मे लेकर निर्णय किया है। ऐसा निर्णय करनेवाला जीव ही सर्वज्ञ का सच्चा भक्त है। उसका झुकाव अपने सर्वज्ञस्वभाव की ओर हुआ है अतः वह कहीं भी न रुककर अल्प काल में ही संपूर्ण सर्वज्ञ हो जायगा। इससे विरुद्ध अर्थात् कोई द्रव्य अन्य द्रव्य का कुछ कर सकता है, ऐसा जो मानता है वह वास्तव में अपने आत्मा को, सर्वज्ञ के ज्ञान को, न्याय को तथा द्रव्य पर्याय को नही मानता।

१—अपना आत्मा पर से भिन्न है तथापि वह पर का कुछ करता है इस प्रकार मानना सो आत्मा को पर रूप मानना है अथवा आत्मा को नही मानना ही है।

२—वस्तु की अवस्था सर्वज्ञदेव के देखे हुए अनुसार होती है उसकी जगह मानना कि मैं उसे बदल सकता हूँ, सर्वज्ञ के ज्ञान को यथार्थ न मानने के समान है।

३—वस्तु की ही क्रमबद्ध अवस्था होती है, वहाँ निमित्त करता है अथवा निमित्त कोई परिवर्तन कर डालता है यह बात कहाँ

रही ? निमित्त पर का कुछ भी नही करता तथापि जो यह मानता है कि मेरे निमित्त से पर मे कोई परिवर्तन होता है वह सच्चे न्याय को नही मानता।

४—द्रव्य की पर्याय द्रव्य मे से ही आती है, उसकी जगह जो यह मानता है कि पर मे से द्रव्य की पर्याय आती है (अर्थात् जो यह मानता है कि मैं पर की पर्याय को करता हूँ) वह द्रव्य–पर्याय के स्वरूप को ही नही मानता। इस प्रकार एक विपरीत मान्यता मे अनन्त असत् का सेवन आ जाता है।

वस्तु मे से क्रमबद्धपर्याय आती है, वह दूसरा कुछ नही करता, तथापि उस समय निमित्त अवश्य उपस्थित होता है, किन्तु निमित्त के द्वारा कोई भी कार्य नही होता। निमित्त सहायता करता हो सो बात नही है और न ऐसा ही होता है कि निमित्त की उपस्थिति न हो। जैसे ज्ञान समस्त वस्तु को मात्र जानता है किन्तु किसी का कुछ करता नही है, इसी प्रकार निमित्त मात्र उपस्थित होता है, वह उपादान के लिये कोई असर, सहायता अथवा प्रेरणा नही करता और प्रभाव भी नही डालता।

जिस समय निजलक्ष के पुरुषार्थ के द्वारा आत्मा की सम्यग्दर्शनपर्याय प्रगट होती है उस समय सच्चे देव, गुरु, शास्त्र निमित्तरूप अवश्य होते हैं।

प्रश्न—जीव को सम्यग्दर्शन के प्रगट होने की तैयारी हो और सच्चे देव, गुरु, शास्त्र न मिले तो क्या सम्यग्दर्शन नही होता ?

उत्तर—यह हो ही नही सकता कि जीव की तैयारी हो और सच्चे देव, गुरु, शास्त्र न हो। जब उपादानकारण तैयार होता है तब निमित्तकारण स्वयमेव उपस्थित होता है, किन्तु कोई किसी का कर्ता नही होता। उपादान के कारण न तो निमित्त आता है और न निमित्त के कारण उपादान का कार्य होता है। दोनो स्वतन्त्ररूप मे अपने अपने कार्य के कर्ता है।

अहो ! वस्तु कितनी स्वतंत्र है ! समस्त वस्तुओं में क्रम-वर्तित्व चल ही रहा है, एक के बाद दूसरी पर्याय कहो या क्रमबद्ध-पर्याय कहो, जो पर्याय होनी है वह होती ही रहती है। ज्ञानी जीव ज्ञाता के रूप में जानता रहता है और अज्ञानी जीव कर्तृत्व का मिथ्याभिमान करता है। जो पर का अभिमान करता है उसकी पर्याय क्रमबद्ध हीन परिणमित होती है और जो ज्ञाता रहता है उसकी ज्ञानपर्याय क्रमशः विकसित होकर केवलज्ञान को प्राप्त हो जाती है।

वस्तु की अनादि अनन्त समय की पर्याय में से एक भी पर्याय का क्रम नही बदलता। अनादि अनन्त काल के जितने समय हैं उतनी ही प्रत्येक वस्तु की पर्यायें है। पहले समय की पहली पर्याय, दूसरे समय की दूसरी पर्याय और तीसरे समय की तीसरी पर्याय के क्रम से जितने समय है उतनी ही पर्यायें क्रमबद्ध होती है। जिसने ऐसा स्वीकार किया उसकी दृष्टि एक एक पर्याय पर से हटकर अभेद द्रव्य पर हो गई और वह पर से उदास हो गया। यदि कोई यह कहे कि मैं पर की पर्याय कर दूं तो इसका मतलब यह हुआ कि वह वस्तु की अनादि अनन्त काल की पर्यायो मे परिवर्तन करना मानता है, अर्थात् वह वस्तुस्वरूप को विपरीतरूप में मानता है, और इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है।

वस्तु और वस्तु के गुण अनादि अनन्त है। अनादि अनन्त काल के जितने समय हैं उतनी ही उस उस समय की पर्यायें वस्तु मे से क्रमबद्ध प्रगट होती हैं। जिस समय की जो पर्याय है उस समय वही पर्याय प्रगट होती है, उल्टी सीधी नही होती तथा आगे पीछे भी नही होती। पर्याय के क्रम मे परिवर्तन करने के लिये कोई भी समर्थ नही है। इस क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्त मे केवलज्ञान खड़ा हो जाता है। यह तो दृष्टि के चिर स्थायी प्याले है उन्हे पचाने के लिए श्रद्धा-ज्ञान मे अनन्त पुरुषार्थ चाहिए। जब अनादि अनन्त अखण्ड द्रव्य को प्रतीति में लेते है तब क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होती है; क्योंकि क्रमबद्ध-पर्याय का मूल तो वही है। जो क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करता है वह

अनादि अनन्त पर्यायो का ज्ञायक और चैतन्य के केवलज्ञान की प्रतीतिवाला हो जाता है। मेरी पर्याय मेरे द्रव्य मे से आती है, इस प्रकार द्रव्य की ओर झुकने पर साधकपर्याय मे अपूर्णता रहने पर भी उसे अव द्रव्य की ओर ही देखना रहा और उसी द्रव्य के वल पर पूर्णता हो जायगी।

वस्तु का सत्यस्वरूप तो ऐसा ही है, इसे समझे विना छुटकारा नही है, वस्तु का स्वाधीन परिपूर्ण स्वरूप ध्यान मे लिए विना पर्याय मे शान्ति कहाँ से आयगी, यदि सुखदशा चाहिए हो तो वह वस्तुस्वरूप जानना पड़ेगा जिसमे से सुखदशा प्रगट हो सके।

अहो ! मेरी पर्याय भी क्रमवद्ध ही होती है इस प्रकार जिसने निश्चय किया उसे अपने मे समभाव—ज्ञाताभाव हो जाता है, उसे पर्याय को बदलने की आकुलता नही रहती। किन्तु जो जो पर्यायें होती है उनका ज्ञाता के रूप मे जाननेवाला होता है। जो ज्ञाता के रूप मे जाननेवाला होता है उसे केवलज्ञान होने मे विलम्ब कैसा ? जिसे स्वभाव मे समभावी ज्ञान नही है अर्थात् जिसे अपने द्रव्य की क्रमबद्धदशा की प्रतीति नही है उस जीव की रुचि पर मे जाती है और उसके विषमभाव से क्रमबद्धरूप मे विकारी पर्याय होती है। ज्ञातृत्व का विरोध करके जो पर्याय होती है वह विषमभाव से है (विकारी है) और निज मे दृष्टि करके ज्ञातृत्व के रूप मे रहने पर जो पर्याय होती है वह समभाव से क्रमवद्ध विशेषशुद्ध होती जाती है।

इसमे तो सब कुछ अपनी पर्याय मे ही समाविष्ट हो जाता है। यदि अपनी क्रमबद्धपर्याय को स्वदृष्टि से करे तो शुद्ध हो और यदि पर दृष्टि से करे तो अशुद्ध हो। पर के साथ सम्बन्ध न रहने पर भी दृष्टि किस ओर जाती है इस पर क्रमबद्धपर्याय का आधार है। कोई जीव शुभभाव करने से पर वस्तु (देव, शास्त्र, गुरु अथवा मन्दिर इत्यादि) को प्राप्त नही कर सकता और अशुभभाव नेरक से कोई रुपया पैसा इत्यादि पर वस्तु को प्राप्त नही कर सकता। जो पर वस्तु जिस काल मे और जिस क्षेत्र मे आनी होती है वही वस्तु उस

काल और उस क्षेत्र में स्वयं आ जाती है, वह आत्मभाव के कारण नहीं आती। समस्त वस्तु की पर्यायें अपने क्रमबद्ध नियमानुसार ही होती हैं उनमें कोई फर्क नही आता। इस समझ मे वस्तु की प्रतीति और केवलज्ञानस्वभाव का अनन्त वीर्य प्रगट होता है। इसे मानने पर अनन्त पर द्रव्यों के कर्तृत्व को छेदकर अकेला ज्ञाता हो जाता है। इसमे सम्यग्दर्शन का ऐसा अपूर्व पुरुषार्थ भरा हुआ है कि जैसा अनन्त काल में कभी भी नही किया था।

जैसे आत्मा मे सभी पर्याय क्रमबद्ध होती हैं उसी प्रकार जड़ में भी जड की सभी अवस्थायें क्रमबद्ध होती है। कर्म की जो जो अवस्था होती है उसे आत्मा नही करता किन्तु वह परमाणु की क्रमबद्धपर्याय है। कर्म के परमाणुओं में उदय, उदीरणा इत्यादि जो दस अवस्थायें (कारण) हैं वे भी परमाणु की क्रमबद्ध दशायें हैं। आत्मा के शुभ परिणाम के कारण कर्म के परमाणुओं की दशा बदल नही गई, किन्तु परमाणुओं मे ही उस समय वह दशा होने की योग्यता थी इसलिये वह दशा हुई है। जीव के पुरुषार्थ के कारण कर्म की क्रमबद्ध अवस्था मे भंग नही पड़ जाता, जीव अपनी दशा मे पुरुषार्थ करता है और उस समय कर्म के परमाणुओं की क्रमबद्ध-दशा उपशम, उदीरणादिरूप स्वयं होती है, परमाणु में उसकी अवस्था उसकी योग्यता से, उसके कारण से होती है, किन्तु आत्मा उस का कुछ नही करता।

प्रश्न—यदि कर्म उस परमाणु की क्रमबद्धपर्याय ही है तो फिर जैनो में तो कर्मसिद्धान्त के विपुल शास्त्र भरे पडे हैं उसके संबंध मे क्या समझा जाय ?

उत्तर—हे भाई! यह सभी शास्त्र आत्मा को ही बतानेवाले हैं। कर्म का जितना वर्णन है उसका आत्मा के परिणाम के साथ मात्र निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध है। आत्मा के परिणाम किस किस प्रकार के होते है यह समझाने के लिये उपचार से कर्म मे भेद करके

समझाया है। निमित्त–नैमित्तिकसम्वन्ध का ज्ञान कराने के लिये कर्म का वर्णन किया है किन्तु जड़कर्म के साथ आत्मा का कर्ताकर्म-सम्वन्ध किंचित्मात्र भी नही है।

प्रश्न—वंध, उदय, उदीरणा, उपशम, अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण, सत्ता, निद्धत्त, और निकाचित्त, ऐसे दस प्रकार के करण (कर्म की अवस्था के प्रकार) क्यो कहे हैं ?

उत्तर—अहो, इसमे भी वास्तवमे तो चैतन्य की ही पहचान कराई गई है। कर्म के जो दस प्रकार वताये हैं वे आत्मा के परिणामों के प्रकार बताने के लिये ही है। आत्मा का पुरुषार्थ वैसे दस प्रकार से हो सकता है यह बताने के लिये कर्म के भेद करके समझाये हैं। आत्मा के पुरुषार्थ के समय प्रस्तुत परमाणु उसकी योग्यता के अनुसार स्वय परिणमन करता है। इसमे तो दोनो के निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध का ज्ञान कराया है परन्तु यह बात नही की है कि कर्म आत्मा का कुछ करते है।

एक कर्म परमाणु भी द्रव्य है, उसमे जो अनादि अनन्त पर्याय होती है वही समय समय पर क्रमबद्ध होती हैं।

प्रश्न—आपने तो यह कहा है न कि कर्म की उदीरणा होती है?

उत्तर—उदीरणा का अर्थ यह नही है कि बाद मे होने वाली अवस्था को उदीरणा करके जल्दी लाया गया हो; कर्म की क्रमबद्ध अवस्था ही उस तरह की होनी है। जीव ने अपने मे पुरुषार्थ किया है यह बताने के लिये उपचार से ऐसा कहा है कि कर्म मे उदीरणा हुई है। वास्तव मे कर्म की अवस्था का क्रम बदल नही गया, परन्तु जीव ने अपनी पर्याय मे उस प्रकार का पुरुषार्थ किया है—उसका ज्ञान कराने के लिये ही उदीरणा कही जाती है।

जहाँ यह कहा जाता है कि जीव अधिक पुरुषार्थ करे तो अधिक कर्म खिर जाते हैं वहाँ भी वास्तव मे जीव ने कर्मों को खिराने का

पुरुषार्थ नहीं किया किन्तु अपने स्वभाव में रहने का पुरुषार्थ किया है। जीव के विशेष पुरुषार्थ का ज्ञान कराने के लिये उपचार से ऐसा कहा जाता है कि बहुत समय के कर्मपरमाणुओं को अल्प काल में ही नष्ट कर दिया है। इस आरोपित कथन में यथार्थ वस्तुस्वरूप तो यह है कि जीव ने स्वभाव में रहने का पुरुषार्थ किया और उस समय जिन कर्मो की अवस्था स्वयं खिरने रूप थी वह खिर गई। परमाणु की अवस्था के क्रम में भंग नही पड़ता। बहुत काल के कर्म क्षण भर में टाल दिये इसका अर्थ इतना ही समझना चाहिये कि जीवने बहुतसा पुरुषार्थ अपनी पर्याय मे किया है।

छहों द्रव्य परिणामनस्वभावी है और वे अपने आप क्रमबद्ध-पर्याय मे परिणमित होते हैं। छहों द्रव्य पर की सहायताके बिना स्वयं परिणमित होते हैं, यह श्रद्धा करने में ही अनन्त पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ के बिना जीव की एक भी पर्याय नही होती। मात्र पुरुषार्थ की उन्मुखता अपनी ओर करने की जगह जीव पर की ओर करता है, यही अज्ञान है। यदि स्वभाव की रुचि करे, तो स्वभाव की ओर ढले, अर्थात् पर्याय क्रमशः शुद्ध हो जाय।

इस बात की समझ में आत्मा के मोक्ष का उपाय निहित है इसलिये इस बात को खूब विश्लेषण करके समझना चाहिये, उसे जरा भी ढकना नही चाहिये। उसे निर्णयपूर्वक स्पष्ट करके जानना चाहिये। परम सत् को ढकना नही चाहिये किन्तु ऊहापोह करके बराबर विश्लेषणपूर्वक निश्चय करना चाहिये। सत्य में किसी की लज्जा नही होती यह तो वस्तुस्वरूप है।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा अपने सम्यग्ज्ञान से यह जानता है कि सर्वज्ञभगवान ने अपने ज्ञान मे जो जाना है उस प्रकार प्रत्येक वस्तु क्रमबद्ध परिणमित होती है। मेरी केवलज्ञान पर्याय भी क्रमबद्धरूप मे मेरे स्वद्रव्य मे से ही प्रगट होगी। ऐसी सम्यक् भावना से उसका ज्ञान बढ़कर स्वभाव मे एकाग्र होता है और ज्ञाताशक्ति प्रति पर्याय में

निर्मल होती जाती है तथा विकारी पर्याय क्रमशः दूर होती जाती है। कौन कहता है कि इसमें पुरुषार्थ नही है। ऐसे स्वभाव में निःशंक है वह सम्यग्दृष्टि है और इस स्वभाव मे जो तनिक भी सदेह का वेदन करता है वह मिथ्यादृष्टि है; उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की और अपने ज्ञाता-स्वभाव की श्रद्धा नही है।

अहो ! इस सम्यग्दृष्टि जीव की भावना तो देखो वह स्वभाव से ही प्रारंभ करता है और स्वभाव मे ही लाकर पूर्ण करता है। उसने जहाँ से प्रारंभ किया था वही का वही ला रखा है। आत्मा मे स्वाश्रय से साधकदशा प्रारंभ की है और पूर्णता भी स्वाश्रय से आत्मा मे ही होती है। केवलज्ञान सपूर्णतया निज में हो समाविष्ट हो जाता है। साधक धर्मात्मा अपने मे ही समाविष्ट होना चाहता है। उसने बाहर से न तो कही से प्रारंभ किया है और न बाह्य मे कही रुकने-वाला है। आत्मा का मार्ग आत्मा मे से निकलकर आत्मा मे ही समाविष्ट हो जाता है।

यहाँ मात्र जीव की ही बात नही है किन्तु सभी पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध होती है। यहाँ मुख्यतया जीव की बात समझाई है, आत्मा की अवस्था आत्मा मे ही क्रमबद्ध प्रगट होती है वह निश्चय करने मे अनन्त वीर्य है। वह निश्चय करने पर पहले अनन्त पदार्थों को अच्छा बुरा मानकर जो रागद्वेष होता था वह सब दूर हो गया, पर निमित्त का स्वामित्व मानकर जो वीर्य पर मे रुक जाता था वह अब अपने आत्मस्वभाव को देखने मे लग गया है, राग, निमित्त वगैरह की ओर की दृष्टि गई और स्वभाव मे दृष्टि हो गई। स्वभावदृष्टि मे अपनी पर्याय की स्वाधीनता की कैसी प्रतीति होती है तत्सबंधी यह बात है। स्वभावदृष्टि को समझे बिना व्रत, तप, भक्ति, दान और पठन-पाठन यह सब बिना एकाई के शून्य के समान व्यर्थ है। मिथ्या-दृष्टि जीव के यह कुछ सच्चे नही होते।

हे जीव ! तेरी वस्तु में भगवान जितनी ही परिपूर्ण शक्ति है, भगवानपना वस्तु मे ही प्रगट होता है। यदि ऐसे अवसर पर

यथार्थवस्तु को दृष्टि में न लें तो वस्तुके स्वरूप को जाने बिना जन्म–मरण का अन्त नहीं हो सकता। वस्तु के जानने पर अनन्त संसार दूर हो जाता है। वस्तु में संसार नही है, वस्तु की प्रतीति होने पर मोक्षपर्याय की तैयारी की प्रतिध्वनि होने लगती है। भगवन्! यह तेरे स्वभाव की बात है, एकबार हाँ तो कह। तेरे स्वभाव की स्वीकृति में से स्वभावदशा की अस्ति आयेगी; स्वभावसामर्थ्य से इन्कार मत कर। सब प्रकार से अवसर आ चुका है, अपने द्रव्य मे दृष्टि करके देख, द्रव्य में से सादि—अनन्त मोक्षदशा प्रगट होती है, उस द्रव्य की प्रतीति के बल से मोक्ष दशा प्रगट हो जाती है ॥ ३२१–३२२ ॥

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छहों द्रव्य मे क्रमबद्धपर्याय है। यदि जीव अपनी क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करे तो उसकी क्रमबद्ध मोक्षपर्याय हुए बिना न रहे, क्योंकि क्रमबद्ध की श्रद्धा का भार निज मे आता है। जिस वस्तु मे से अपनी अवस्था आती है उस वस्तु पर दृष्टि रखने से मोक्ष होना है। पर द्रव्य मेरी अवस्था को कर देगा ऐसी दृष्टि के टूट जाने से और निज द्रव्य मे दृष्टि रखने से राग की उत्पत्ति नही होती, अर्थात् वस्तु की क्रमबद्ध अवस्था होती है ऐसी दृष्टि होने पर स्वय ज्ञाता–दृष्टा हो जाता है और ज्ञाता–दृष्टा के बल से अस्थिरता को तोड़कर सपूर्ण स्थिर होकर अल्पकाल मे ही मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। इसमे अनन्त पुरुषार्थ समागत है।

पुरुषार्थ के द्वारा स्वरूप की दृष्टि करने से और उस दृष्टि के बल से स्वरूप में रमणता करने से चैतन्य मे शुद्ध क्रमबद्धपर्याय होती है। चैतन्य की शुद्ध क्रमबद्धपर्याय प्रयत्न के बिना नही होती। मोक्ष-मार्ग के प्रारम्भ से मोक्ष की पूर्णता तक सर्वत्र, सम्यक् पुरुषार्थ और ज्ञान का ही कार्य है।

बाह्य वस्तु का जो होना हो सो हो इस प्रकार क्रमबद्धता का निश्चय करना वास्तव मे तब कहलाता है जब बाह्य वस्तु से

उदास होकर सबका ज्ञाता मात्र रह जाय; तभी उसके क्रमबद्ध का सच्चा निर्णय होता है। जो जीव अपने को पर का कर्ता मानता है और यह मानता है कि पर से अपने को सुख दुःख होता है उसे क्रमबद्धपर्याय की किंचित् मात्र भी प्रतीति नही है।

मैं द्रव्य हूँ और मेरे अनन्तगुण हैं, वे गुण पलटकर समय समय पर एक के बाद एक अवस्था होती है, वह उल्टी सीधी नही होती और न एक ही साथ दो अवस्थायें एकत्रित होती हैं; कोई भी समय अवस्था के बिना—खाली नही जाता। केवलज्ञान और मोक्ष-दशा भी मेरे गुण में से ही क्रमबद्ध प्रगट होती है। इस प्रकार क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होने पर अपनी पर्याय प्रगट होने के लिये किसी पर वस्तु पर लक्ष नही रहेगा, और इसलिये किसी पर वस्तु पर रागद्वेष करने का कारण नही रहेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि समस्त पर पदार्थों का लक्ष छोडकर आत्मनिरीक्षण मे ही लग जाता है। ऐसा होने पर अपने मे भी ऐसा आकुलता का विकल्प नही रहेगा कि "मेरी पूर्ण शुद्धपर्याय कब प्रगट होगी" क्योकि तीनकाल की क्रमबद्धपर्याय से भरा हुआ द्रव्य उसकी प्रतीति में आ गया है। तात्पर्य यह है कि जो क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा करता है वह जीव अवश्य ही आसन्न मुक्तिगामी होता है।

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होने पर द्रव्य की अवस्था चाहे जिससे हो किन्तु उसमे यह विचार (राग–द्वेष) कदापि नही होता कि—"यह ऐसा क्यों हुआ ? यदि ऐसा हुआ होता तो मुझे ठीक होता।" क्रमबद्धपर्याय का निश्चय करनेवाले के यह श्रद्धा होती है कि इस द्रव्य की इस समय ऐसी ही क्रमबद्ध अवस्था होनी थी, वैसा ही हुआ है, तब फिर वह उसमे राग या द्वेष क्यो करेगा ? मात्र जिस समय जिस वस्तु की जो अवस्था होती जाती है उसका वह मात्र ज्ञान ही करता है, बस वह ज्ञाता हो गया, ज्ञातारूप मे रहकर वह अल्पकाल मे ही केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्ति को प्राप्त करेगा। यह है क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा का फल।

क्रमबद्ध अवस्था का निर्णय उसी ज्ञायकभाव का अर्थात् वीतरागस्वभाव का निर्णय है और वह निर्णय अनन्त पुरुषार्थ से हो सकता है। पुरुषार्थ को स्वीकार किये बिना मोक्ष के ओर की क्रमबद्ध-पर्याय नही होती। जिसके ज्ञान में पुरुषार्थ का स्वीकार नही होता वह अपने पुरुषार्थ को प्रारम्भ नही करता और इसलिये पुरुषार्थ के बिना उसे सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान नही होता। पुरुषार्थ को स्वीकार न करनेवाले की क्रमबद्धपर्याय निर्मल नही होती, किन्तु विकारी होगी। अर्थात् पुरुषार्थ को स्वीकार न करनेवाला अनन्त संसारी है और पुरुषार्थ को स्वीकार करनेवाला निकट मोक्षगामी है। चाहे क्रमबद्ध अवस्था का निर्णय कहो या पुरुषार्थवाद कहो—वह यही है।

प्रश्न—यदि क्रमबद्धपर्याय जब जो होनी हो वही हो तो फिर विकारीभाव भी जब होने हों तभी होगे न ?

उत्तर—अरे भाई! तेरा प्रश्न विपरीत को लेकर उपस्थित हुआ है। जिसने अपने ज्ञान में यह प्रतीति कर ली है कि 'विकारी पर्याय जब होनी थी तब हुई' तो उसकी रुचि कहाँ जाकर अटकी है ? विकार को जाननेवाले के ज्ञान की रुचि है या विकार को रुचि है ? विकार को यथार्थतया जानने का काम करनेवाला वीर्य तो अपने ज्ञान का है और उस ज्ञान का वीर्य विकार से हटकर स्वभाव के ज्ञान में अटक रहा है; स्वभाव के ज्ञान मे अटका हुआ वीर्य विकार की या पर की रुचि मे कदापि नही अटकता, किन्तु स्वभाव के बल से विकार का अल्प काल मे क्षय होता है। जिसे विकार की रुचि है उसकी दृष्टि का बल (वीर्य का भार) विकारकी ओर जाता है। "जो होनी होती है वही पर्याय क्रमबद्ध होती है" इस प्रकार किसका वीर्य स्वीकार करता है, यह स्वीकार करनेवाले के वीर्य में पर मे सुखबुद्धि नहीं होती किन्तु स्वभाव मे ही संतोष होता है।

जैसे किसी बड़े आदमी के यहाँ शादी का अवसर हो और वह सब को आचूल निमंत्रण देकर विविध प्रकार के मिष्टान्न जिमाये,—

इसी प्रकार यहाँ सर्वज्ञदेव के घर मे आचूल निमंत्रण है; 'मुक्ति के मडप में' सबका आमन्त्रण है। मुक्तिमंडप के हर्ष–भोज मे सर्वज्ञ-भगवान के द्वारा दिव्यध्वनि मे परोसे गये न्यायों मे से उच्च प्रकार के न्याय परोसे जाते हैं जिन्हे पचाने से आत्मा पुष्ट होता है।

यदि तुझे सर्वज्ञ भगवान होना हो तो तू भी इस बात को मान, जो इस बात को स्वीकार करता है उसकी मुक्ति निश्चित है। लो! यह मुक्तिमडप और इसका हर्ष–भोज, इसे स्वीकार करो! अब, गाथा ३२१–३२२ मे जो वस्तुस्वरूप बताया है उसकी विशेष दृढता के लिये ३२३ वी गाथा कहते हैं। जो जीव पहले गाथा ३२१-३२२ मे कहे गए वस्तुस्वरूप को जानता है वह सम्यग्दृष्टि है और जो उसमे संशय करता है वह *मिथ्यादृष्टि है*—

एव जो णिच्चयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए।
सो सद्दिट्ठि सुद्धो जो शकदि सो हु कुदिट्ठि ॥ ३२३ ॥

अर्थः—इस प्रकार निश्चय से सर्व द्रव्यों (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल) तथा उन द्रव्यो की समस्त पर्यायो को जो सर्वज्ञ के *आगमानुसार जानता है–श्रद्धा करता है* वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है, और जो ऐसी श्रद्धा नही करता–शंका संदेह करता है वह सर्वज्ञ के आगम के प्रतिकूल है—प्रगटरूप मे मिथ्यादृष्टि है।

सर्वज्ञदेव ने केवलज्ञान के द्वारा जानकर जिन द्रव्यो और उनकी अनादि अनन्तकाल की समस्त पर्यायो को आगम मे कहा है वे सब जिसके ज्ञान मे और प्रतीति मे जम गये है, वे "सद्दिट्ठि सुद्धो" अर्थात् शुद्ध सम्यग्दृष्टि है। मूल पाठ मे 'सो सत्दृष्टि शुद्धाः' यह कह कर भार दिया है। पहली बात अस्ति की अपेक्षा से कही है और फिर नास्ति की अपेक्षा से कहते हैं कि "शकदि सो हु कुदिट्ठि' अर्थात् जो उसमे शंका करता है वह प्रगट रूप मे मिथ्यादृष्टि है—सर्वज्ञ का शत्रु है।

स्वामी कार्तिकेय आचार्यदेव ने इस ३२१–३२२–३२३ वी गाथाओ मे गूढ़ रहस्य संकलित करके रख दिया है। सम्यग्दृष्टि जीव

बराबर जानता है कि त्रैकालिक समस्त पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध है। सर्वज्ञदेव और सम्यग्दृष्टि में इतना अन्तर है कि सर्वज्ञदेव समस्त द्रव्यों कि क्रमबद्धपर्यायो को प्रत्यक्ष ज्ञान से जानते हैं और सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा समस्त द्रव्यों की क्रमबद्धपर्यायों को आगमप्रमाण से प्रतीति में लेता है अर्थात् परोक्षज्ञान से निश्चय करता है। सर्वज्ञ के वर्तमान रागद्वेष सर्वथा दूर हो गये हैं। सम्यग्दृष्टि के भी अभिप्राय में राग-द्वेष सर्वथा दूर हो गये है। सर्वज्ञभगवान केवलज्ञान से त्रिकाल को जानते है; सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि केवलज्ञान से नही जानता तथापि वह श्रुतज्ञान के द्वारा त्रिकाल के पदार्थों की प्रतीति करता है। उसका ज्ञान भी निःशंक है। पर्याय प्रत्येक वस्तु का धर्म है, वस्तु स्वतन्त्रतया अपनी पर्यायरूप में होती है। जानने पर 'यों कैसे हुई' ऐसी शंका करनेवाले को वस्तु के स्वतत्र 'पर्यायधर्म' को और ज्ञान के कार्य की खबर नही है। ज्ञान का कार्य मात्र जानना है, जानने में यो कैसे हुआ, इस प्रकार की शका को स्थान ही कहाँ है? 'ऐसा कैसे' ऐसी शका करने का ज्ञान का स्वरूप ही नही है, किन्तु 'जो पर्याय होती है वह वस्तु के धर्मानुसार ही होती है,' इस प्रकार ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके ज्ञानी सबको नि.शंक रूप मे जानता रहता है। ऐसे ज्ञान के बल से केवलज्ञान और अपनी पर्याय के बीच के अन्तर को तोड़कर पूर्ण केवलज्ञान को अल्प काल मे ही प्रगट कर लेगा।

जो जीव वस्तु की क्रमवद्ध स्वतंत्र पर्याय को नही मानता और यह मानता है कि 'मैं पर का कुछ कर सकता हूँ—उसमे परिवर्तन कर सकता हूँ और पर मुझे रागद्वेष कराता है' उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की श्रद्धा नही है, तथा वह सर्वज्ञ के आगम से प्रतिकूल प्रगट मिथ्या-दृष्टि है। जो यह मानता है कि जो सर्वज्ञ के ज्ञान मे प्रतिभासित हुआ है उसमे मैं परिवर्तन कर दूँ वह सर्वज्ञ के ज्ञान को नही मानता। जो सर्वज्ञ के ज्ञान की और उनकी श्री मुखवाणी के न्यायों को नहीं मानता वह प्रगटरूप में मिथ्यादृष्टि है। सर्वज्ञदेव तीनकाल

और तीनलोक के समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को जानते हैं और सभी वस्तु की पर्यायें प्रगट रूप मे उसीसे स्वयं होती हैं तथापि जो उससे विरुद्ध मानता है (सर्वज्ञ के ज्ञान से और वस्तु के स्वरूप से विरुद्ध मानता है) वह सर्वज्ञ का और अपने आत्मा का विरोधी एवं प्रगट रूप मे मिथ्यादृष्टि है।

यद्यपि पर्याय क्रमवद्ध होती है किन्तु वह विना पुरुषार्थ के नही होती। जिस ओर का पुरुषार्थ करता है उस ओर की क्रमवद्ध-पर्याय होती है। यदि कोई कहे कि इस मे तो नियत आ गया, तो उसके उत्तर मे कहते हैं कि हे भाई! त्रिकाल की नियत पर्याय का निर्णय करनेवाला कौन है? जो त्रिकाल की पर्यायों को निश्चित करता है वह मानो द्रव्य को ही निश्चित करता है। जो पर के लक्ष से निज का नियत मानता है वह एकान्तवादी वातूनी और अपने स्वभाव के लक्ष से स्वयं स्वभाव मे मिलकर—स्वभाव की एकता करके, राग को दूर करके ज्ञायक हो गया है उसके अपने स्वभाव के पुरुषार्थ मे नियत समाविष्ट हो जाता है। जहाँ स्वभाव का पुरुषार्थ है वहाँ नियम से मोक्ष है अर्थात् पुरुषार्थ मे ही नियत आ जाता है। जहाँ पुरुषार्थ नही है वहाँ मोक्षपर्याय का नियत भी नही है।

अहो! महा सन्त मुनीश्वरो ने जंगल में रह कर आत्मस्वभाव का अमृत प्रवाहित किया है। आचार्यदेव धर्म के स्तभ हैं, आचार्यदेवो ने पवित्र धर्म को सहारा देकर उसे स्थिर रखा है। एक एक आचार्य-देव ने अद्भुत कार्य किया है। साधकदशा मे स्वरूप की शान्ति का वेदन करते हुए, परिषहो को जीतकर परम सत्य को जीवित रखा है। आचार्यदेव के कथन मे केवलज्ञान की प्रतिध्वनि गर्जित हो चुकी है। ऐसे महान शास्त्रो की रचना करके आचार्यो ने अनेकानेक जीवो पर अपार उपकार किया है। उनकी रचना तो देखो, पद पद पर कितना गम्भीर रहस्य भरा है। यह तो सत्य की घोषणा है, इसके सस्कार अपूर्व वस्तु हैं, और इसे समझना मानो मुक्ति को वरण करने

का श्रीफल है—जो इसे समझ लेता है उसका मोक्ष निश्चित है।

प्रश्नः—जो होना होता है, सो होता है, ऐसा मानने में अनेकान्तस्वरूप कहाँ आया ?

उत्तरः—जो होना होता है वह वैसा होता है अर्थात् पर का पर से होता है और मेरा मुझ से होता है–यह जानकर पर से हटकर जो अपनी ओर सन्मुख हुआ, उसने स्वभाव के लक्ष से माना है; उसकी मान्यता मे अनेकान्तस्वरूप है और 'मेरी पर्याय मेरे द्रव्य मे से क्रमबद्ध आती है, मेरी पर्याय मे से नही आती' इस प्रकार अनेकान्त है। तथा 'पर की पर्याय पर के द्रव्य में से क्रमबद्ध जो होनी होती है सो होती है, मैं उसकी पर्याय को नही करता' इस प्रकार अनेकान्त है। 'जो होना होता है वही होता है' यह जानकर अपने द्रव्य की ओर उन्मुख होना चाहिये परन्तु 'जो होना होता है सो होता है' इस प्रकार जो मात्र पर से मानता है किन्तु अपने द्रव्य को पर्याय कहाँ से आती है इसकी प्रतीति नही करता अर्थात् पर लक्ष को छोड़कर स्वलक्ष नही करता वह एकान्तवादी है।

प्रश्न—भगवान ने तो मोक्षमार्ग के पांच समवाय कहे हैं और आप तो मात्र पुरुषार्थ–पुरुषार्थ ही रटा करते हो तो फिर उसमे अन्य चार समवाय किस प्रकार आते है ?

उत्तर—जहाँ जीव सच्चा पुरुषार्थ करता है वहाँ स्वयं अन्य चारो समवाय अवश्य होते हैं। पाच समवायो का सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

१—मैं पर का कुछ करनेवाला नही हूँ, मैं तो ज्ञायक हूँ मेरी पर्याय मेरे द्रव्य मे से आती है, इस प्रकार स्वभावदृष्टि करके पर की दृष्टि को तोडना सो पुरुषार्थ है।

२—स्वभावदृष्टि का पुरुषार्थ करते हुए जो निर्मलदशा प्रगट होती है वह दशा स्वभाव मे थी सो वही प्रगट हुई है, अर्थात् जो शुद्धता प्रगट होती है वह स्वभाव है।

३—स्वभावदृष्टि के पुरुषार्थ से स्वभाव में से जो क्रमवद्ध-पर्याय उस समय प्रगट होनी थी वही शुद्धपर्याय उस समय प्रगट हुई सो नियति है। स्वभाव की दृष्टि के बल से स्वभाव में जो पर्याय प्रगट होने की शक्ति थी वही पर्याय प्रगट हुई है। बस, स्वभाव में से जिस समय जो दशा प्रगट हुई वही पर्याय उसकी नियति है। पुरुषार्थ करनेवाले जीव के स्वभाव में जो नियति है वही प्रगट होती है, बाहर से नही आती।

४—स्वदृष्टि के पुरुषार्थ के समय जो दशा प्रगट हुई वही उस वस्तु का स्वकाल है। पहले पर की ओर झुकता था उसकी जगह स्वोन्मुख हुआ सो यही स्वकाल है।

५—जब स्वभावदृष्टि से यह चार समवाय प्रगट हुए तब निमित्तरूप कर्म उसकी अपनी योग्यता से स्वय हट गये, यह कर्म है।

इसमे पुरुषार्थ, स्वभाव, नियति और काल यह चार समवाय अस्तिरूप हैं अर्थात् वे चारो उपादान की पर्याय से सम्बद्ध हैं और पांचवाँ समवाय नास्तिरूप है, वह निमित्त से सम्वद्ध है। यदि पाचवाँ समवाय आत्मा मे लागू करना हो तो वह इस प्रकार है—परोन्मुखता से हटकर स्वभाव की ओर झुकने पर प्रथम के चारो अस्तिरूप मे और कर्म को नास्तिरूप मे—इस प्रकार आत्मा मे पाचो समवायों का परिणमन हो गया है अर्थात् निजके पुरुषार्थ में पाचो समवाय अपनी पर्याय में समाविष्ट हो जाते हैं। प्रथम चार अस्ति से और पाचवाँ नास्ति से अपने मे है।

जब जीव ने सम्यक् पुरुषार्थ नही किया तब विकारीभाव के लिये कर्म निमित्त कहलाया और जब सम्यक् पुरुषार्थ किया तब कर्म का अभाव निमित्त कहलाया। जीव अपने मे पुरुषार्थ के द्वारा चार समवायो को प्रकट करे और प्रस्तुत कर्म की दशा वदलनी न हो ऐसा हो ही नही सकता। जीव निज लक्ष करके चार समवायरूप परिणमित होता है और कर्म की ओर लक्ष करके परिणमित नही होता

(अर्थात् उदय में युक्त नहीं होता) तब कर्म की अवस्थाको निर्जरा कहा जाता है। जीव जब स्वसन्मुख परिणमित होता है तब भले ही कर्म उदय मे हो किन्तु जीव के उस समय के परिणमन में कर्म के निमित्त की नास्ति है। स्वयं निज में एकमेक हुआ और कर्म की ओर नही गया सो यही कर्म की नास्ति अर्थात् उदय का अभाव है।

आत्मा में एक समय की स्व-सन्मुखदशा में पांचों समवाय आ जाते हैं। जीव जब पुरुषार्थ करता है तब उसके पांचों ही समवाय एक ही समय में होते है, स्व की प्रतीति में पर की प्रतीति आ ही जाती है। ऐसी क्रमबद्ध वस्तुस्वरूप की प्रतीति में केवलज्ञान का पुरुषार्थ आ गया है।

प्रश्न—जीव केवलज्ञान को प्रगट करने का पुरुषार्थ करे किन्तु उस समय कर्म की क्रमबद्ध अवस्था अधिक समय तक रहनी हो तो जीव के केवलज्ञान कैसे प्रगट होगा ?

उत्तर—अद्‌भुत है तुम्हारी शका, तुझे अपने पुरुषार्थ का ही विश्वास नही है इसलिये तेरी दृष्टि कर्म की ओर प्रलबित हुई है। जो ऐसी शका करता है कि 'सूर्य का उदय होगा और फिर भी यदि अन्धकार नष्ट न हुआ तो ?' वह मूर्ख है, इसी प्रकार 'मैं पुरु-षार्थ करूँ और कर्म की स्थिति अधिक समय तक रहनी हो तो ?' जो ऐसी शंका करता है उसे पुरुषार्थ की प्रतीति नही है, वह मिथ्या-दृष्टि है। कर्म की क्रमवद्धपर्याय ऐसी ही है कि जव जीव पुरुषार्थ करता है तव वह स्वयं ही दूर हो जाती है 'कर्म अधिक काल तक रहना हो तो ?' यह दृष्टि तो पर की ओर प्रलंवित हुई है और ऐसी शंका करनेवाले ने अपने पुरुषार्थ को पराधीन माना है। तुझे अपने आत्मा के पुरुषार्थ की प्रतीति है या नही ? मैं अपने स्वभाव के पुरुषार्थ से केवलज्ञान प्रगट करता हूँ और मै जव अपनी केवलज्ञान-दशा प्रगट करता हूँ तव घातियाकर्म होते ही नही, ऐसा नियम है। जिसे उपादान की श्रद्धा हो उसे निमित्त की शंका नहीं होती। जो

निमित्त की शंका में अटक गया है उसने उपादान का पुरुषार्थ ही नही किया। जो उपादान है सो निश्चय है और जो निमित्त है सो व्यवहार है।

निश्चयनय संपूर्ण द्रव्य को लक्ष मे लेता है। संपूर्ण द्रव्य की श्रद्धा मे केवलज्ञान से कमी की स्वीकृति ही कहाँ है? क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा मे द्रव्य की श्रद्धा है और द्रव्य की श्रद्धा मे केवलज्ञान से हीन दशा की प्रतीति ही नही है। इसलिये क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा मे केवलज्ञान ही है।

सर्वज्ञ तो सभी वस्तु की पर्यायों के क्रम को जानता है इस-लिये जो निम्नदशा में भी यह प्रतीति मे लाता है कि 'सभी वस्तुओं की पर्यायें क्रमबद्ध है' वह जीव सर्वज्ञता को स्वीकार करता है, और जो सर्वज्ञता को स्वीकार करता है वह आत्मज्ञ ही है, क्योकि सर्वज्ञता कभी भी आत्मज्ञता के बिना नही होती। जो जीव वस्तु की सम्पूर्ण क्रमबद्धपर्यायों को नही मानता वह सर्वज्ञता को नही मानता और जो सर्वज्ञता को नही मानता वह आत्मज्ञ नही हो सकता।

आत्मा की सम्पूर्ण ज्ञानशक्ति मे सभी वस्तुओ की तीनो काल की पर्याये जैसी होनी होती हैं वैसी ही ज्ञात होती हैं और जैसी ज्ञात होती है उसी प्रकार होती हैं—जिसे ऐसी प्रतीति हो जाती है उसे क्रमबद्धपर्याय की और सर्वज्ञ की शक्ति की प्रतीति हो जाती है और वह आत्मज्ञ हो जाता है; आत्मज्ञ जीव सर्वज्ञ अवश्य होता है।

वस्तु के प्रत्येक गुण की पर्याय प्रवाहबद्ध चलती ही रहती है। एक ओर सर्वज्ञ का केवलज्ञान परिणमित हो रहा है दूसरी ओर जगत के सर्व द्रव्यो की पर्याय अपने अपने भीतर क्रमबद्ध परिणमित हो रही है। अहो! इसमे एक दूसरे का क्या कर सकता है समस्त द्रव्य अपने आप मे ही परिणमित हो रहे है। बस! ऐसी प्रतीति

करने पर ज्ञान अलग ही रह गया; सबमें से राग–द्वेष उड़ गया और मात्र ज्ञान रह गया, यही केवलज्ञान है।

परमार्थ से निमित्त के बिना ही कार्य होता है। विकाररूप में या शुद्धरूप में जीव स्वयं ही निज पर्याय मे परिणमित होता है और उस परिणमन में निमित्त की तो नास्ति है। कर्म और आत्मा का सम्मिलित परिणमन होकर विकार नही होता। एक वस्तु के परिणमन के समय परवस्तु की उपस्थिति हो तो इससे क्या? पर वस्तु का और निज वस्तु का परिणमन तो बिलकुल भिन्न ही है, इसलिये जीव की पर्याय निमित्त के बिना अपने आप से ही होती है, निमित्त कही जीव की रागद्वेषादि पर्याय में घुस नही जाता। इसलिये निमित्त के बिना ही राग–द्वेष होता है। निमित्त की उपस्थिति होती है सो तो ज्ञान करने के लिये है; ज्ञान की सामर्थ्य होने से जीव निमित्त को जानता भी है, परन्तु निमित्त के कारण उपादान में कुछ भी नही होता।

वस्तु विज्ञान–अंक

इसमें श्री प्रवचनसार की ९९ वीं गाथा के प्रवचन प्रगट किए गये हैं। इस गाथा की गहराई में भरा हुआ वस्तुस्वरूप का यथार्थ विज्ञान पूज्य श्री कानजी स्वामी ने विशिष्ट सूक्ष्मता और स्पष्टता के साथ इन प्रवचनों में प्रगट किया है; इससे इस का नाम 'वस्तुविज्ञान–अंक' रखा गया है।

वीतरागी विज्ञान में ज्ञात होता

विश्व के ज्ञेय पदार्थों का स्वभाव

[श्री प्रवचनसार गाथा ९९ पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचनों का सार]

सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो ।
अत्थेसु सो सहावो ट्ठिदिसं भवणाससंबद्धो ॥ ९९ ॥
सदवस्थितं स्वभावे द्रव्यं द्रव्यस्य यो हि परिणामः ।
अर्थेषु स स्वभावः स्थितिसंभवनाशसंबद्धः ॥ ९९ ॥

'द्रव्यो स्वभाव विषे अवस्थित, तेथी 'सत्' सौ द्रव्य छे;
उत्पाद-ध्रौव्य-विनाशयुत परिणाम द्रव्यस्वभाव छे' । ९९ ।

यह गाथा अलौकिक है । इस गाथा में आचार्यदेव ने वस्तु के स्वभाव का रहस्य भर दिया है । उत्पाद-व्यय-ध्रुवयुक्त परिणाम वह वस्तु का स्वभाव है और उस स्वभाव में द्रव्य नित्य अवस्थित है, इसलिये द्रव्य सत् है ।

यहाँ द्रव्य के समय-समय के परिणाम में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य समझाने के लिये आचार्यदेव क्षेत्र का उदाहरण देते हैं । द्रव्य का—(आत्मा का) असंख्यप्रदेशी क्षेत्र एक साथ खुला-फैला हुआ है, इससे वह झट लक्ष में आ जाये इसलिये उस क्षेत्र का उदाहरण देकर परिणाम के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य समझाते हैं ।

जिस प्रकार द्रव्य को सम्पूर्ण विस्तारक्षेत्ररूप से लक्ष में लिया जाये तो उसका वास्तु (क्षेत्र) एक है, उसी प्रकार सम्पूर्ण द्रव्य के तीनोंकाल के समय-समय के परिणामों को एक साथ लक्ष में लिया जाये तो उसकी वृत्ति एक है; तथापि, जिस प्रकार क्षेत्र में प्रदेशक्रम है उसी प्रकार द्रव्य के परिणमन में प्रवाहक्रम है । द्रव्य के विस्तारक्रम का अंश वह प्रदेश है उसी प्रकार द्रव्य के प्रवाहक्रम का अंश सो परिणाम है ।

परवस्तु देखो, यह ज्ञेय अधिकार है। समस्त ज्ञेय सत् हैं: और उन्हें जाननेवाला ज्ञान है। समस्त ज्ञेय जैसे है वैसे एक साथ ज्ञान में ज्ञात होते है। यहाँ आत्मा ज्ञान का सागर है और सामने स्व-पर समस्त ज्ञेयो का सागर भरा पड़ा है। बस, इसमे मात्र वीतरागता ही आई; ज्ञेय मे 'यह ऐसा क्यों' ऐसा राग-द्वेष या फेरफार करना नही रहा। अहो! आचार्यदेव ने प्रत्येक गाथा मे वीतरागी बरफी के पर्त लगाये है, प्रत्येक गाथा मे से वीतरागता के टुकडे निकलते है।

समयसार के सर्वविशुद्ध ज्ञान अधिकार मे द्रव्य अपने क्रमबद्धपरिणाम से उत्पन्न होता है—यह बात करके वहाँ सम्यग्दर्शन का सम्पूर्ण विषय बतलाया है—द्रव्यदृष्टि कराई है। और यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है इससे, समस्त द्रव्य परिणमनस्वभाव मे स्थित हैं—ऐसा कहकर पूर्ण ज्ञान और पूर्ण ज्ञेय बतलाये है;—ऐसे सर्व ज्ञेयो के स्वभाव और उन्हे जाननेवाले ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा करना सो सम्यग्दर्शन है।

प्रत्येक आत्मा, प्रत्येक परमाणु और धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य पृथक् पृथक् स्वयंसिद्ध पदार्थ हैं। सामान्यतया देखने पर उस प्रत्येक द्रव्य का क्षेत्र अखण्ड एक है, तथापि उस क्षेत्र के विस्तार का जो सूक्ष्म अश है वह प्रदेश है। छह द्रव्यो मे से परमाणु और काल का क्षेत्र तो एक प्रदेश ही है। आत्मा का असंख्यप्रदेशी क्षेत्र है। वह समग्रपने द्वारा एक होने पर भी उसका अन्तिम अंश प्रदेश है। इस प्रकार यहाँ क्षेत्र का दृष्टान्त है और सिद्धान्तरूप मे वस्तु के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य परिणामो को समझाना है। जिस प्रकार असख्यप्रदेशी विस्तार एक साथ लेने से द्रव्य का क्षेत्र एक है उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य की अनादि-अनन्त परिणमनधारा समग्रपने के द्वारा एक है और उस सपूर्ण प्रवाह का छोटे से छोटा एक अश सो परिणाम है। प्रत्येक परिणाम को पृथक् किये बिना समग्ररूप से द्रव्य के अनादि-अनन्त प्रवाह को देखने पर वह एक है; अनादि निगोद से लेकर अनन्त सिद्धदशा तक द्रव्य का परिणमनप्रवाह एक ही है। जिस प्रकार संपूर्ण क्षेत्र एक साथ फैला हुआ पड़ा हुआ है, उसमे

प्रदेशभेद से न देखा जाये तो द्रव्य का क्षेत्र एक ही है। उसी प्रकार त्रिकाली द्रव्य के प्रवाह में परिणाम का भेद न किया जाये तो संपूर्ण प्रवाह एक ही है, और उस त्रैकालिक प्रवाहक्रम का प्रत्येक अंश सो परिणाम है।

यहाँ प्रदेशों का विस्तारक्रम क्षेत्र अपेक्षा से है और परिणामों का प्रवाहक्रम परिणमन अपेक्षा से है। यहाँ क्षेत्र का दृष्टान्त देकर आचार्यदेव परिणामों का स्वरूप समझाना चाहते हैं।

यह, ज्ञान में ज्ञात होने योग्य ज्ञेयपदार्थों का वर्णन है। कोई कहे कि ऐसी सूक्ष्म बात कैसे ज्ञात हो ?—किन्तु भाई ! यह सब ज्ञेय है इसलिये अवश्य ज्ञात हो सकते हैं; और तेरा ज्ञानस्वभाव समस्त ज्ञेयो को जान सकता है। आत्मा ज्ञाता है और स्वयं स्वज्ञेय भी है। तथा अन्य जीव—पुद्गलादि परज्ञेय हैं। उस ज्ञान और ज्ञेय को कैसा प्रतीति में लेने से सम्यक्त्व होता है उसकी यह बात है।

धर्मास्तिकाय आदि के असख्यप्रदेश ऐसे के ऐसे बिछे–फैले हुए हैं, आकाश के अनन्त प्रदेश ऐसे के ऐसे बिछे–फैले हुए हैं; उनमें कभी एक भी प्रदेश का क्रम आगे-पीछे नहीं होता; उसी प्रकार द्रव्य का अनादि अनन्त प्रवाहक्रम भी कभी खण्डित नही होता। प्रवाहक्रम कहकर आचार्यदेव ने अनादिअनन्त ज्ञेयों को एक साथ स्तब्ध बतला दिया है। 'प्रवाहक्रम' कहने से समस्त परिणामों का क्रम व्यवस्थित ही है, कोई भी परिणाम–कोई भी पर्याय आगे–पीछे नही होती। इस प्रतीति मे ही द्रव्यदृष्टि और वीतरागता है।

समय–समय के परिणामों का एकदम सूक्ष्म सिद्धान्त समझाने के लिये प्रदेशों का उदाहरण दिया है वह भी सूक्ष्म मालूम होता है। भीतर अपने लक्ष मे यदि वस्तु का ख्याल आये तो समझ मे आ सकता है। 'यह स्वरूप इस प्रकार कहना चाहते हैं'—ऐसा अंतर मे अपने को भास होना चाहिये। समझने के लिये जीने (सीढी) का दृष्टान्त लेते हैं:—जिस प्रकार क्षेत्र से देखने पर पूरा जीना ऐसे

का ऐसा स्थित है, उसका छोटा अंश प्रदेश है; और जीने की लम्बाई से देखने पर एक के बाद एक सीढियों का प्रवाह है, पूरे जीने का प्रवाह एक है, उसकी एक-एक सीढ़ी उसके प्रवाह का अंश है। उन सीढियो के प्रवाह का क्रम टूटता नहीं है। दो सीढ़ियो के बीच मे भी छोटे छोटे भाग किये जायें तो अनेक भाग होते हैं, उस चढते हुए प्रत्येक सूक्ष्म भाग को परिणाम समझना चाहिए। उसी प्रकार आत्मा असख्य प्रदेशो मे फैला हुआ एक है, और उसके क्षेत्र का प्रत्येक अंश सो प्रदेश है; और संपूर्ण द्रव्य का अस्तित्व अनादि-अनन्त प्रवाह-रूप से एक है तथा उस प्रवाह के प्रत्येक समय का अश सो परिणाम है। उन परिणामों का प्रवाहक्रम जीने की सीढ़ियो की भाति क्रमबद्ध है, उन परिणामों का क्रम आगे–पीछे नही होता। इसलिये सब कुछ जैसा है वैसा जानना ही आत्मा का स्वभाव है। इसके अतिरिक्त बीच मे दूसरा कुछ डाले तो उसे वस्तु के सत्स्वभाव की श्रद्धा नही है। वस्तु जैसी हो वैसा जाने–माने तो ज्ञान–श्रद्धा सच्चे हो न! वस्तु जैसी हो उससे अन्य प्रकार से माने तो ज्ञान–श्रद्धा सच्चे नही होते इसलिये धर्म नही हो सकता।

यहाँ क्षेत्र के दृष्टान्त से परिणाम का स्वरूप समझाया है।

जिस प्रकार द्रव्य का क्षेत्र सो विस्तार, और विस्तारक्रम के अंश सो प्रदेश। उसी प्रकार द्रव्य का परिणमन सो प्रवाह और प्रवाहक्रम के अंश सो परिणाम।

इस प्रकार क्षेत्र के दृष्टान्त द्वारा परिणाम सिद्ध करके एक बात पूरी की, अब उन परिणामो का एक दूसरेमे अभाव बतलाते हैं।

'जिस प्रकार विस्तारक्रम का कारण प्रदेशो का परस्पर व्यतिरेक है, उसी प्रकार प्रवाहक्रम का कारण परिणामो का परस्पर व्यतिरेक है।'

द्रव्य मे विस्तारक्रम अर्थात् क्षेत्र अपेक्षा से विस्तार का कारण प्रदेशों का परस्पर भिन्नत्व है। पहले प्रदेश का दूसरे मे अभाव, दूसरे

का तीसरे में अभाव—इस प्रकार प्रदेशो के भिन्न-भिन्नपने के कारण विस्तारक्रम रचा हुआ है। यदि प्रदेशों का एक—दूसरे में अभाव न हो, और एक प्रदेश दूसरे प्रदेश में भी भावरूप से वर्तता हो अर्थात् सब मिलकर एक ही प्रदेश हो तो द्रव्य का विस्तार ही न हो, किन्तु द्रव्य एकप्रदेशी ही हो जाये। इसलिये विस्तारक्रम कहने से ही प्रदेश एक-दूसरे के रूप से नही है ऐसा आ जाता है। 'विस्तारक्रम' अनेकता का सूचन करता है, क्योकि एक में क्रम नही होता। अब, अनेकता कब निश्चित होती है ? सबमे एकता न हो किन्तु भिन्नता हो, तभी अनेकता निश्चित होती है, और अनेकता हो तभी विस्तारक्रम होता है, इसलिये विस्तारक्रम का कारण प्रदेशों का परस्पर व्यतिरेक है।

इसी प्रकार अब विस्तारक्रम की भाँति प्रवाहक्रम का स्वरूप कहा जाता है। 'प्रवाहक्रम' कहते ही परिणामों की अनेकता सिद्ध होती है, और परिणामों की अनेकता कहते ही एक का दूसरे मे अभाव सिद्ध होता है। क्योकि यदि एक का दूसरे में अभाव हो तभी अनेकता हो। यदि ऐसा न हो तो सब एक ही हो जाये। इसलिये विस्तारक्रम मे जिस प्रकार एक प्रदेश का दूसरे मे अभाव है उसी प्रकार प्रवाहक्रम में एक परिणाम का दूसरे मे अभाव है। इस प्रकार परिणामों में एक का दूसरे मे अभाव होने से अनादिअनत प्रवाहक्रम रचा हुआ है। ऐसा द्रव्य का स्वभाव है, ऐसे परिणामस्वभाव मे द्रव्य स्थित है।

यहाँ विस्तारक्रम तो दृष्टातरूप है। और प्रवाहक्रम सिद्धांतरूप है। दृष्टान्त सर्वप्रकार से लागू नही होता। पुद्गल और काल द्रव्य का विस्तार तो एकप्रदेशी ही है इसलिये उसमें प्रदेशो के परस्पर व्यतिरेक का दृष्टान्त लागू नही होता, किन्तु प्रवाहक्रम का जो सिद्धान्त है वह समस्त द्रव्यों मे समान रीति से लागू होता है।

जैसे—२५ कमरो के विस्तारवाली दालान कब होती है ? यदि वे कमरे क्रमानुसार एक-दूसरे से पृथक् हो तब। उसी प्रकार आत्मा में असंख्यप्रदेशी विस्तारवाला क्षेत्र कब होता है ? जब कि एक

प्रदेश का दूसरे प्रदेश में अभाव हो और वे समस्त प्रदेश विस्तारक्रम मे अखण्डरूप से एक–दूसरे के साथ सम्वन्धित हों।

इसी प्रकार (–प्रदेशों के विस्तारक्रम की भाँति) द्रव्य का अनादिअनंत लम्बा प्रवाहक्रम कव होता है? जव कि एक परिणाम का दूसरे परिणाम मे अभाव हो तब। पहला परिणाम दूसरे परिणाम मे नही है, दूसरा तीसरे मे नही है—इस प्रकार परिणामो मे व्यतिरेक होने से द्रव्य मे प्रवाहक्रम है। द्रव्य के अनादि–अनत प्रवाह मे एक के बाद एक परिणाम क्रमशः होते रहते हैं, ऐसे द्रव्य सो ज्ञेय हैं। ज्ञेय द्रव्य की यथावत् प्रतीति करने से श्रद्धा मे निर्विकल्पता और वीतरागता हो वह मोक्ष का मार्ग है।

अहो! एक ही द्रव्य के एक परिणाम मे दूसरे परिणाम का भी जहाँ अभाव है वहाँ एक द्रव्य की अवस्था मे दूसरा द्रव्य कुछ करे —यह तो बात ही कहाँ रहती है? एक तत्त्व दूसरे तत्त्व में कुछ करता है अथवा एक द्रव्य के क्रमपरिणामो मे परिवर्तन किया जा सकता है—ऐसा जो मानता है उसे ज्ञेयतत्त्व की खबर नही है और ज्ञेयो को जाननेवाले अपने ज्ञानतत्त्व की भी खबर नही है।

कोई ऐसा माने कि 'मैंने अपनी बुद्धि से पैसा कमाया' तो ऐसा नही है, क्योकि बुद्धि के जो परिणाम हुए वह आत्मा के प्रवाहक्रम मे आया हुआ परिणाम है और पैसा आया वह पुद्गल के प्रवाहक्रम में आया हुआ पुद्गल का परिणाम है। दोनो द्रव्य अपने अपने प्रवाहक्रम मे भिन्न भिन्नरूप से वर्त रहे है। आत्मा अपने परिणामप्रवाह मे स्थित है, और जड पदार्थ जड के परिणामप्रवाह मे स्थित हैं। दोनों पदार्थो का अस्तित्व भिन्न भिन्न है। जिसने पदार्थों का ऐसा स्वरूप जाना उसके 'मैं पर मे कुछ फेरफार करता हूँ या पर के कारण मुझ मे कुछ फेरफार होता है'—ऐसी मिथ्याबुद्धि तो दूर हो गई, इसलिये वह समस्त द्रव्यो का ज्ञाता रह गया। केवली भगवान वीतरागरूप से सब के ज्ञाता हैं; उसी प्रकार यह भी ज्ञाता ही है। अभी साधक

है इसलिये अस्थिरता के राग-द्वेष होते हैं किन्तु वह भी ज्ञाता का ज्ञेय है। ज्ञान और राग की एकतापूर्वक राग-द्वेष नहीं होते किन्तु ज्ञान के ज्ञेयरूप से राग-द्वेष होते हैं। इसलिये अभिप्राय से (श्रद्धा से) तो वह साधक भी पूर्ण ज्ञाता ही है।

यथार्थ वस्तु स्वरूप को जानने से स्वयं छहों द्रव्यों का ज्ञाता हो गया और छहों द्रव्य ज्ञान में ज्ञेय हुए। इस ओर स्वयं एक ज्ञाता और सामने छहों द्रव्य ज्ञेय;—ऐसा ज्ञातापना बतलाने के लिये 'स्वात्मानुभव मनन' में कहा है कि—आत्मा सप्तम द्रव्य हो जाता है।

अहो! ज्ञान ज्ञातास्वरूप से है, उस ज्ञान की प्रतीति निर्विकल्पसम्यक्त्व का कारण है। प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप ऐसे द्रव्यस्वभाव को निश्चय करे तो ज्ञान जानने का ही कार्य करे; और ज्ञेय में 'ऐसा क्यों' ऐसा मिथ्याबुद्धि का विकल्प न आये। अस्थिरता का विकल्प आये वह तो ज्ञान का ज्ञेय हो जाता है, क्योंकि ज्ञान में स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य प्रगट हो गया है इसलिये वह राग को भी ज्ञान से भिन्न ज्ञेयरूप से जानता है, इसलिये उस विकल्प में 'ऐसा विकल्प क्यों?' ऐसा विकल्प का जोर नहीं आता; किन्तु 'यह राग भी ज्ञेयरूप से सत् है'—ऐसा ज्ञान जान लेता है इसलिये ज्ञान की ही अधिकता रहती है;—दूसरे प्रकार से कहा जाये तो ज्ञान और राग का भेदज्ञान हो जाता है। और पश्चात् भी ऐसे ज्ञानस्वभाव के आधार से ज्ञेयों को जानने से उस ज्ञान का विकास होकर उसकी सूक्ष्मता और वीतरागता बढ़ती जाती है, और क्रमशः पूर्ण वीतरागता और केवलज्ञान होने से संपूर्ण लोकालोक ज्ञेयरूप से एक साथ ज्ञान में डूब जाता है।—ऐसा यह अधिकार है।

यहाँ आत्मा में केवलज्ञान का सारा दल, और सामने लोका-लोक ज्ञेय का दल। बस! ज्ञेय-ज्ञायकस्वभाव रह गया। ज्ञेय-ज्ञायकपने में राग-द्वेष या फेरफार करना कहाँ रहा? अहो! ऐसे स्वभाव

का स्वीकार तो कर ! इसकी स्वीकृति मे वीतरागी श्रद्धा है और उसीमे वीतरागता तथा केवलज्ञान के बीज हैं।

❀

दो बातें हुई हैं:—(१) प्रथम तो, क्षेत्र के दृष्टान्त से द्रव्य के अनादि–अनन्त प्रवाह की एक समग्रवृत्ति बतलाई, और उस प्रवाह-क्रम के सूक्ष्म अंश सो परिणाम हैं—ऐसा बतलाया। इस प्रकार द्रव्य को सत् सिद्ध किया। 'उसमे, अखण्ड अस्तित्व की अपेक्षा से एकत्व और परिणामो की अपेक्षा से अनेकत्व—इस प्रकार सत् मे एकत्व–अनेकत्व भी सिद्ध किया,

(२) उसके पश्चात् परिणामो का परस्पर व्यतिरेक सिद्ध किया।

इस प्रकार दो बातें सिद्ध कीं; अब उनका विस्तार करके उसमे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य निकालते हैं।

'जिस प्रकार वे प्रदेश अपने स्थान मे स्व–रूप से उत्पन्न और पूर्वरूप से विनष्ट होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से रचित एक वास्तुपने द्वारा अनुत्पन्न—अविनष्ट होने से उत्पत्ति–संहार–ध्रौव्यात्मक हैं, उसी प्रकार वे परिणाम अपने अवसर मे स्व–रूप से उत्पन्न और पूर्वरूप से विनष्ट होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से रचित एक प्रवाहपने द्वारा अनुत्पन्न–अविनष्ट होने से उत्पत्ति–सहार–ध्रौव्यात्मक है।'

इसमे प्रदेशो की बात दृष्टान्तरूप और परिणामो की बात सिद्धान्तरूप है।

प्रश्न—यह कौनसा विषय चल रहा है ?

उत्तर—यह वस्तुस्वभाव की बात हो रही है। उत्पाद–व्यय-ध्रौव्यरूप परिणाम—वह पदार्थों का स्वभाव है, और उस स्वभाव मे सदैव स्थित द्रव्य सत् है—यह बात यहाँ सिद्ध करना है। उसमे प्रथम इतनी बात तो सिद्ध कर चुके हैं कि—द्रव्य की वृत्ति अनादि–अनन्त अखण्डरूप से एक होने पर भी, उसके प्रवाहक्रम का अश सो परिणाम है। वे–वे परिणाम एक दूसरे मे नही वर्तते किन्तु उनका एक–दूसरे

में अभाव है। उसमें से अब विस्तार करके उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य निकालते हैं। उसमें भी प्रथम क्षेत्र का दृष्टान्त देते हैं।

संपूर्ण द्रव्य के एक क्षेत्र को लें तो उसके प्रदेश उत्पत्ति–विनाश रहित है, और उन प्रदेशों का परस्पर व्यतिरेक होने से, वे अपने अपने स्वक्षेत्र में अपने से सत् और पूर्वप्रदेशरूप से असत् हैं;—अर्थात् वे प्रदेश अपने से उत्पादरूप है और पूर्व के प्रदेश की अपेक्षा से व्ययरूप हैं; इस प्रकार समस्त प्रदेश उत्पाद–व्ययरूप हैं और सर्व प्रदेशों का विस्तार साथ में ले लेने से द्रव्य के प्रदेश ध्रौव्यरूप है। इस प्रकार समस्त प्रदेश एकसमय मे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप है। (यहाँ प्रदेशों के जो उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य कहे है वे क्षेत्र अपेक्षा से समझना।) इस उदाहरण के अनुसार समय समय के परिणामो में भी उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यपना है। अनादि–अनन्त एक प्रवाह की अपेक्षा से परिणाम उत्पत्ति–विनाशरहित ध्रुव है, और वे परिणाम अपने अपने स्वकाल मे उत्पादरूप है तथा पूर्वपरिणाम की अपेक्षा से व्यय-रूप है। इस प्रकार समस्त परिणाम उत्पाद–व्यय–ध्रुवरूप हैं और ऐसे उत्पाद–व्यय–ध्रुवरूप परिणाम वह वस्तु का स्वभाव है।

यहाँ प्रथम समुच्चय क्षेत्र की और समुच्चय परिणामों की इकट्ठी बात लेकर उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य सिद्ध किये है। एक परि-णाम पृथक् करके उसकी बात फिर करेंगे। यह बात अकेले आत्मा की नही किन्तु समस्त द्रव्यो के स्वभाव की है। किन्तु यहाँ आत्मा की मुख्यता से बात की जाती है।

जिस प्रकार आत्मा के असंख्य प्रदेशो में एक समय मे क्षेत्र अपेक्षा से उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य लागू होता है, उसी प्रकार आत्मा के प्रवाहक्रम मे वर्तनेवाले समस्त परिणाम अपने अपने अवसर में स्व-रूप से उत्पन्न हैं, पूर्वरूप से विनष्ट हैं और अखण्ड धारावाहीप्रवाह-रूप से वे उत्पन्न या विनष्ट नही हैं, इसलिये वे परिणाम उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप है।

प्रदेशों के उदाहरण में क्षेत्र–अपेक्षा से उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य है और सिद्धान्त में परिणाम–अपेक्षा से (प्रवाह-अपेक्षा से, काल-अपेक्षा से) उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य है।

देखो तो ! क्रमबद्ध अपने अवसर में समस्त परिणामो के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य कहकर पूर्ण त्रैकालिक द्रव्य को ज्ञेयरूप से सामने रख दिया है। सर्वज्ञ की और ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के बिना किसी प्रकार यह बात भीतर नही जम सकती। इसकी प्रतीति में सम्यग्दर्शन है, और चौसठपुटी पीपर घुंट रही हो इस प्रकार, इसके घोटने मे अकेली वीतरागता ही घुंटती है। अहो ! अद्भुत बात रखी है।

द्रव्य के समस्त परिणाम अपने अपने अवसर में स्व-रूप से उत्पन्न हैं, पूर्वरूप से विनष्ट हैं, और एक अखण्डप्रवाह की अपेक्षा से वे उत्पत्ति–विनाश रहित ध्रौव्य हैं।

यहाँ परिणामों का स्वअवसर कहकर आचार्यदेव ने अद्भुत बात की है। जितने एक द्रव्य के परिणाम उतने ही तीनकाल के समय, और जितने तीनकाल के समय उतने ही एक द्रव्य के परिणाम। बस ! इतना निश्चित करे तो अपने ज्ञायकपने की प्रतीति हो जाये। द्रव्य के प्रत्येक परिणाम का अपना अपना अवसर भिन्न है। तीनकाल के परिणाम एक साथ ज्ञेय हैं और यहाँ आत्मा उनका ज्ञाता है। ऐसे ज्ञेय–ज्ञायकपने मे बीच मे राग नही रहा, अकेली वीतरागता ही आई। प्रथम ऐसी श्रद्धा करने से वीतरागी श्रद्धा होती है और पश्चात् ज्ञानस्वभाव में स्थिरता होने से वीतरागी चारित्र होता है।

अहो ! द्रव्य के परिणामों का स्वअवसर कहो अथवा क्रमबद्धपरिणाम कहो, उसकी प्रतीति करने से परिणामी–ऐसे त्रिकाली द्रव्य पर ही दृष्टि जाती है। परिणामों के स्वअवसर की यह बात स्वीकार करने से तो—'निमित्त आये तो परिणाम होता है, या निमित्त

के कारण यहाँ परिणाम में फेरफार होता है, कर्म के उदय से विकार होता है, या व्यवहार करते करते परमार्थ प्रगट होता है, अथवा तो पर्याय के आधार से पर्याय होती है'—ऐसी कोई बात बनी ही नहीं रहती। समस्त परिणाम अपने अपने अवसर में द्रव्य मे से प्रगट होते है। जहाँ द्रव्य का प्रत्येक परिणाम अपने अपने अवसर मे 'सत्' है वहाँ निमित्त के सन्मुख देखना ही कहाँ रहा ?—और 'मैं पर में फेरफार करूँ या पर से मुझमे फेरफार हो'—यह बात भी कहाँ रही ?—मात्र ज्ञाता और ज्ञेयपना ही रहता है, यही मोक्षमार्ग है, यही सम्यक् पुरुषार्थ है।

जो तीनकाल के परिणाम है वे द्रव्य के प्रवाहरूपी साकल की कड़ियाँ है। जिस प्रकार सांकल को कड़ियाँ आगे–पीछे नही होती, जैसी हैं वैसी ही रहती है, उसीप्रकार द्रव्य के अनादि–अनन्त परिणाम अपने अवसर से आगे–पीछे नही होते, प्रत्येक परिणाम अपने अपने अवसर मे सत् है। इसमे तीनकाल के परिणामों की एक अखण्ड सांकल लेकर उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य की बात है। द्रव्य अपने परिणाम-स्वभाव में स्थित है। इस समय परिणाम का स्वभाव क्या है वह बात चल रही है। प्रथम परिणामो का उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वभाव सिद्ध करते है, और पश्चात् द्रव्य उस परिणामस्वभाव मे स्थित होने से वह द्रव्य भी उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त सत् है—ऐसा अन्त में सिद्ध करेंगे। ज्ञाता, वस्तु के ऐसे स्वभाव को जाने और ज्ञेयो मे फेरफार करना न माने वह सम्यक्त्व है, और पदार्थों के स्वभाव का ज्ञाता रहे उसमे वीतरागता है।

इस प्रवचनसार में पहले तो ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन में आत्मा का ज्ञानस्वभाव निश्चित् किया है, और पश्चात् दूसरे अधिकार मे ज्ञेयतत्त्वों का वर्णन किया है। आत्मा का स्वभाव ज्ञान ही है, और जीव—अजीव में अपने अपने अवसर मे होनेवाले तीनकाल के परिणाम ज्ञेय है;—ऐसी प्रतीति करने से कही फेरफार या आगे–पीछे करने

की बुद्धि नही रही, इसलिये ज्ञान स्व में स्थिर हुआ। यही वीतरागता और केवलज्ञान का कारण है।

पदार्थों का जैसा सत्स्वभाव हो वैसा माने तो सत्मान्यता कहलाये; किन्तु पदार्थों के सत्स्वभाव से अन्य प्रकार माने तो वह मान्यता मिथ्या है। यह 'सत्' की श्रद्धा कराते हैं। 'सत्' द्रव्य का लक्षण है और वह उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाला है। द्रव्य के ऐसे सत्-स्वभाव की प्रतीति करना सो सम्यग्दर्शन है। यही सच्चा 'तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शनम्' है। इस समय वात तो परिणामो की चल रही है, किन्तु परिणाम के निर्णय मे परिणामी द्रव्य का निर्णय भी आ जाता है। परिणाम तो क्षणिक है, किन्तु वह परिणाम किसके? कहते है कि–त्रिकाली द्रव्य के। परिणाम अद्धर से नही होते किन्तु परि-णामी के परिणाम हैं, इसलिये परिणाम का निर्णय करने से परि-णामी द्रव्य का ही निर्णय होता है, और अकेले परिणाम के ऊपर से रुचि हटकर त्रिकाली द्रव्यस्वभाव की ओर रुचि और ज्ञान झुकता है;—यही सम्यग्दर्शन और वीतरागता का मूल है।

यह ९९ वी गाथा अत्युत्तम है, इसमे वस्तुस्थिति के स्वरूप का अलौकिक रीति से वर्णन किया है। समस्त द्रव्य 'सत्' है, उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यसहित परिणाम उसका स्वभाव है, और ऐसे स्वभाव मे सदैव प्रवर्तमान होने से द्रव्य भी उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाला है,— ऐसा इस गाथा मे सिद्ध करना है।

(१) टीका में, प्रथम तो द्रव्य मे समग्रपने द्वारा अनादि–अनन्त प्रवाह की एकता, और प्रवाहक्रम के सूक्ष्म अश सो परिणाम–ऐसा बतलाया।

(२) फिर प्रवाहक्रम मे प्रवर्तमान परिणामो का परस्पर व्यतिरेक सिद्ध किया।

(३) पश्चात् समुच्चयरूप से सम्पूर्ण द्रव्य के त्रिकाली परिणामों को उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक सिद्ध किया। (उसके दृष्टान्त

में, द्रव्य के समस्त प्रदेशो को क्षेत्र-अपेक्षा से उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक सिद्ध किया।)

(४) तत्पश्चात् एक ही परिणाम में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकपना बतलाया। (उसके दृष्टांत में, प्रत्येक प्रदेश में क्षेत्र-अपेक्षा से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य बतलाये।)

(५) इस प्रकार परिणाम के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्ध करने के पश्चात् अन्त में—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकपरिणाम के प्रवाह मे निरन्तर वर्त रहा है इसलिये द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित होने से सत् है—इस प्रकार सम्पूर्ण द्रव्य लेकर उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्ध किये हैं।

ऊपर जो पाँच बोल कहे है, उनमें से इस समय यह तीसरे बोल का विवेचन हो रहा है। अपने अपने अवसर में त्रैकालिक समस्त परिणामों के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य की एक ही साथ बात करके यहाँ अकेला ज्ञायकभाव ही बतलाया है। यहाँ सम्पूर्ण ज्ञायकभाव और सामने सम्पूर्ण ज्ञेय एकसाथ ले लिया है।

यहाँ परिणामो में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य समझाने के लिये प्रदेशो का उदाहरण लिया है। कोई ऐसा कहे कि—दूसरा कोई सरल उदाहरण न देकर आचार्यदेव ने प्रदेशों का ऐसा सूक्ष्म उदाहरण क्यो दिया ?—तो कहते हैं कि—भाई! तू शान्त हो! आचार्यदेव ने प्रदेशों का उदाहरण योग्य ही दिया है। क्योकि द्रव्य का सारा क्षेत्र एकसाथ अक्रम से फैला पडा है, और परिणामो की व्यक्तता तो क्रमशः होती है, इसलिये प्रदेशो का उदाहरण शीघ्र ही समझ में आ सकता है, और परिणामो की बात उससे सूक्ष्म है। यहाँ परिणामों के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की सूक्ष्म एवं गम्भीर बात समझाना है इसलिये उदाहरण भी प्रदेशों का सूक्ष्म ही लेना पडा है। यदि बाह्य—स्थूल उदाहरण दें तो सिद्धान्त की जो सूक्ष्मता और गम्भीरता है वह ख्याल मे नही आयेगी; इसलिये ऐसे सूक्ष्म उदाहरण की ही यहाँ आवश्यकता है।

आत्मा ज्ञानस्वभाव है। उस ज्ञान का स्वभाव 'जानना' है, अर्थात् ज्ञान जानने का ही कार्य करता है। आत्मा में और पर मे क्रमशः जो अवस्था हो वह ज्ञेय है, उसे जैसी हो वैसा मात्र जानना ज्ञान का स्वभाव है किन्तु उसमे कुछ भी फेरफार करे ऐसा ज्ञान का स्वभाव नही है। ज्ञान करे क्या ? ज्ञान तो जानता है। जानने के अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञान का कार्य नही है। रागादि परिणाम हुए उन्हे भी जानना ज्ञान का कार्य है, किन्तु उस राग को अपना त्रिकाली-स्वभाव माने या हितकर माने ऐसा ज्ञान का कार्य नही है, और उस रागपरिणाम को बदलकर आगे-पीछे करे ऐसा भी ज्ञान का कार्य नही है। बस ! स्व या पर, विकारी या अविकारी, समस्त ज्ञेयों को जानना ही ज्ञान का कार्य है, मैं रागादि परिणामों जितना ही हूँ—ऐसा ज्ञान नही मानता।—ऐसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति ही वीतरागता का मूल है।

इस जगत मे अनंत जीव, अनंत पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और असंख्यात कालाणु—ऐसे छह प्रकार के पदार्थ है। उनमे से प्रत्येक आत्माका ज्ञानगुण छहो पदार्थो की क्रमशः होनेवाली समस्त अवस्थाओ को तथा द्रव्य–गुण को जाननेवाला है; ऐसा प्रत्येक आत्मा का ज्ञानस्वभाव है। ऐसे ज्ञातास्वभाव को जो जानता है वह जीव रागपरिणाम को जानता अवश्य है, किन्तु उस राग को अपना मूल स्वरूप नही मानता,—राग को धर्म नही मानता, राग को उपादेय नही मानता और रागपरिणाम को आगे–पीछे करनेवाला भी स्वभाव नही मानता। उसके अवसर मे वह रागपरिणाम भी सत् है, और उसे जाननेवाला ज्ञान भी सत् है, द्रव्य के त्रिकाली प्रवाहक्रम मे वह रागपरिणाम भी सत्‌रूप से आ जाता है, इसलिये वह भी ज्ञान का ज्ञेय है। राग था इसलिये राग का ज्ञान हुआ—ऐसा नही है किन्तु ज्ञान का ही स्वभाव जानने का है। पूर्ण स्वज्ञेय को जाननेवाला ज्ञान उस राग को भी स्वज्ञेय के अशरूप से जानता है ? त्रिकाली अशी के ज्ञानसहित अश का भी ज्ञान करता

है। यदि राग को स्वज्ञेय के अंशरूप से सर्वथा न जाने तो उस ज्ञान में संपूर्ण स्वज्ञेय पूर्ण नहीं होता, इसलिये वह ज्ञान सच्चा नही होता; और यदि उस रागरूप अंश को ही पूर्ण स्वज्ञेय मान ले और त्रिकाली द्रव्यगुण को स्वज्ञेय न बनाये तो वह ज्ञान भी मिथ्या है। द्रव्य–गुण और समस्त पर्यायें–यह तीनो मिलकर स्वज्ञेय पूरा होता है; उसमें अंशी–त्रिकाली द्रव्य–गुण की रुचि सहित अश को और परज्ञेय को जानने का कार्य सम्यग्ज्ञान करता है। यथार्थ ज्ञान मे ज्ञेयों का स्वभाव कैसा ज्ञात होता है उसका यह वर्णन है।

समस्त पदार्थों का स्वभाव उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त है; प्रत्येक पदार्थ मे प्रतिसमय परिणाम होते हैं, वे परिणाम क्रमानुसार अनादि–अनन्त होते रहते है, इसलिये स्वअवसर में होनेवाले परिणामो का प्रवाह अनादि–अनन्त है। उस प्रवाहक्रम का छोटे से छोटा प्रत्येक अंश भी उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप स्वभाववाला है। अनादि–अनन्त काल के प्रत्येक समय मे उस–उस समय का परिणाम स्वयं सत् है। ऐसे सत् परिणामों को ज्ञान जानता है किन्तु उनमें कुछ भी फेरफार नही कर सकता। जैसे–अग्नि या बरफ आदि पदार्थों को आँख देखती है किन्तु उनमे कुछ भी फेरफार नहीं करती; उसी प्रकार ज्ञान की पर्याय भी ज्ञेयो को सत्रूप से जैसे है वैसा जानती ही है, उनमे कुछ फेरफार नही करती। स्वअवसर में जब जो परिणाम है उस समय वही परिणाम होता है–अन्य परिणाम नहीं होते–ऐसा जहाँ ज्ञान मे निश्चित् किया वहाँ किसी भी ज्ञेय को उल्टा–सीधा करने की मिथ्याबुद्धिपूर्वक के राग–द्वेष नही होते।

अहा! देखो तो! क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में कितनी गंभीरता है! द्रव्य की पर्याय पर से बदलती है—यह बात तो है ही नही, किन्तु द्रव्य स्वयं अपनी पर्याय को उल्टा–सीधा करना चाहे तो भी नही हो सकती। जिस प्रकार त्रिकाली द्रव्य पलटकर अन्यरूप नही हो जाता, उसी प्रकार उसका प्रत्येक समय का अंश—परिणाम भी बदलकर अन्यरूप नही होता। 'मैं जीव नही रहना चाहता किन्तु

अजीव हो जाना है'—इस प्रकार जीव को बदलकर कोई अजीव करना चाहे तो क्या वह बदल सकता है ? नही बदल सकता। जीव पलटकर कभी भी अजीवरूप नही होता। जिस प्रकार त्रिकाली सत् नही बदलता उसी प्रकार उसका वर्तमान सत् भी नही बदलता। जिस प्रकार त्रिकाली द्रव्य नही बदलता उसी प्रकार उसकी प्रत्येक समय की अनादि–अनंत अवस्थायें भी जिस समय जो है उनमे फेरफार या आगा–पीछा नही हो सकता। त्रिकाली प्रवाह के वर्तमान अश अपने अपने काल मे सत् हैं। बस, पर मे या स्व मे कही भी फेरफार करने की बुद्धि न रही इसलिये ज्ञान ज्ञाता ही रह गया। पर्यायबुद्धि मे रुकना न रहा। इस प्रकार ज्ञान जानने का कार्य करता है,—ऐसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करना सो सम्यग्दर्शन है। अभी केवलज्ञान होने से पूर्व वह जीव केवलीभगवान का लघुनन्दन हो गया। श्रद्धा अपेक्षा से तो वह साधक भी सर्व का ज्ञायक हो गया है।

समस्त पदार्थो के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वभाव को निश्चित् करने से स्व मे या पर मे फेरफार करने की बुद्धि नही रही किन्तु ज्ञान मे जानने का ही कार्य रहा। इसलिये ज्ञान मे से 'ऐसा क्यों'—ऐसी हाय–हाय (-खलबलाहट) निकल गई और ज्ञान ज्ञाता होकर अपने मे स्थिर हुआ—इसीमे ज्ञान का परमपुरुषार्थ है, इसीमे मोक्षमार्ग का और केवलज्ञान का पुरुषार्थ आ जाता है। पर मे कर्तृत्वबुद्धिवाले को ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नही बैठती, और न उसे ज्ञान के स्वभाव का—ज्ञायकपने का पुरुषार्थ भी ज्ञात होता है।

अहो ! समस्त द्रव्य अपने अपने अवसर मे होनेवाले परिणामो मे वर्त रहे हैं, उसमे तू कहाँ परिवर्तन करेगा ? भाई ! तेरा स्वभाव तो देखने का है। तू देखनेवाले को दृष्टा ही रख, दृष्टा को हाय–हाय करनेवाला न बना। दृष्टास्वभाव की प्रतीति ही सम्यग्दर्शन है। मैं पर मे फेरफार करता हूँ और पर मुझमे फेरफार करता है—ऐसा मिथ्यादृष्टि का भाव है, उसे ज्ञान और ज्ञेय के स्वभाव की प्रतीति

नहीं है। जगत के जड या चेतन समस्त द्रव्य अपने प्रवाह में वर्तते है, उनमें जो–जो अश वर्तमान मे वर्त रहा है उसे कोई आगे–पीछे नही कर सकता। मैं ध्यान रखकर शरीर को बराबर रखूँ–ऐसा कोई माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। शरीर का प्रत्येक परमाणु उसके अपने प्रवाहक्रम मे वर्त रहा है, उसके क्रम को कोई बदल नही सकता। कही भी फेरफार करने का आत्मा के किसी भी गुण का कार्य नही है, किन्तु स्व को जानते हुए पर को जाने–ऐसा उसके ज्ञान–गुण का स्व–परप्रकाशक कार्य है। इसकी प्रतीति ही मुक्ति का कारण है।

प्रत्येक द्रव्य त्रिकाल परिणामित होता रहता है; उसके त्रिकाल के प्रवाह में स्थित समस्त परिणाम उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप हैं। अपने स्वकाल मे वे सब परिणाम अपनी अपेक्षा से उत्पादरूप हैं; पूर्व के परिणाम की अपेक्षा से व्ययरूप है और परस्पर सम्बन्धवाले अखण्डप्रवाह की अपेक्षा से वे ध्रौव्य हैं। द्रव्य के समस्त परिणाम अपने अपने काल मे सत् है। वे परिणाम स्वयं अपनी अपेक्षा से असत् (व्ययरूप) नही है, किन्तु अपने पहले के–पूर्वपरिणाम की अपेक्षा से वे असत् (व्ययरूप) हैं। और प्रथम पश्चात् के भेद किये बिना अखण्डप्रवाह को देखो तो समस्त परिणाम ध्रौव्य है। जब देखो तब द्रव्य अपने वर्तमान परिणाम मे वर्त रहा है। द्रव्य त्रिकाल होने पर भी जब देखो तब वह वर्तमान परिणाम मे वर्त रहा है—कही भूत मे या भविष्य मे नही वर्तता। द्रव्य के तीनों काल के जो वर्तमान परिणाम हैं वे अपने से पहले के परिणाम के अभावस्वरूप है, और स्वपरिणामरूप से उत्पादरूप है, तथा वे ही अखण्डप्रवाहरूप से ध्रौव्यरूप हैं।

देखो, इसमें यह बात आ गई कि पूर्व के परिणाम अभावस्वरूप वर्तमान परिणाम हैं इसलिये पूर्व के संस्कार वर्तमान पर्याय मे नही आते, और न पूर्व का विकार वर्तमान मे आता है; पहले विकार

किया था इसलिये इस समय विकार हो रहा है—ऐसा नही है। वर्तमान परिणाम स्वतंत्रतया द्रव्य के आश्रय से होते हैं। यह निर्णय होने से ज्ञान और श्रद्धा द्रव्यस्वभावोन्मुख हो जाते है। जिस प्रकार त्रिकाली जड़ द्रव्य बदलकर चेतन या चेतन द्रव्य बदलकर जड़ नही होता उसी प्रकार उसका वर्तमान प्रत्येक अश भी बदलकर दूसरे अंशरूप नही होता। जिस–जिस समय का जो अश है उस–उस रूप ही सत् रहता है। बस, भगवान सर्वज्ञरूप से ज्ञाता हैं उसी प्रकार ऐसी प्रतीति करनेवाला स्वय भी प्रतीति मे ज्ञाता ही रहा।

पर के कारण पर मे कुछ होता है—यह बात तो दूर रही, परन्तु द्रव्य स्वय अपने अश को आगे–पीछे करे ऐसी उस द्रव्य की शक्ति नही है, पहले का अश पीछे नही होता, पीछे का अंश पहले नही होता।—ऐसा निर्णय करनेवाले को अंशबुद्धि दूर होकर अशी की दृष्टि होने से सम्यक्त्वपरिणाम का उत्पाद और मिथ्यात्वपरिणाम का व्यय हो जाता है।

प्रभु! तू आत्मा वस्तु है, तेरा ज्ञानगुण तेरे आधार से टिका है वह ज्ञाता स्वभाववाला है। और तेरे तीनकाल के परिणाम अपने अवसर के अनुसार द्रव्य मे से होते रहते हैं। तेरे अपने वर्तमान मे प्रवर्तमान अश को कम–अधिक या आगे–पीछे कर सके–ऐसा तेरा स्वभाव नही है, और न पर के परिणाम मे भी फेरफार हो सकता है। स्व–पर समस्त ज्ञेयो को यथावत् जानने का ही तेरा स्वभाव है। ऐसे ज्ञातास्वभाव की प्रतीति मे ही आत्मा का सम्यक्त्व है।

प्रश्न—मिथ्यात्वपरिणाम को बदलकर सम्यक्त्व करूँ— ऐसा तो लगता है न?

उत्तर—देखो, ज्ञातास्वभाव की प्रतीति करने से सम्यग्दर्शन हुआ उसमे मिथ्यात्व दूर हो ही गया है। सम्यक्त्वपरिणाम का उत्पाद हुआ उस समय मिथ्यात्वपरिणाम वर्तमान नही होते, इस-

लिये-उन्हें बदलना भी कहाँ रहा ? मिथ्यात्व को हटाकर सम्यक्त्व करूँ—ऐसे लक्ष से सम्यक्त्व नही होता, किन्तु द्रव्यसन्मुख दृष्टि होने से सम्यक्त्व का उत्पाद होता है उसमें पूर्व के मिथ्यात्वपरिणाम का अभाव हो ही गया है। इसलिये उस परिणाम को भी बदलना नहीं रहता। मिथ्यात्व दूर होकर सम्यक्त्वपर्याय प्रगट हुई उसे भी आत्मा जानता है, किन्तु परिणाम के किसी भी क्रम को वह आगे-पीछे नही करता।

अहो ! जिस-जिस पदार्थ का जो वर्तमान अंश है वह कभी नही बदलता।—इसमे अकेला वीतरागीविज्ञान ही आता है। पर्याय को बदलने की बुद्धि नही है और 'ऐसा क्यों'—ऐसा विषमभाव नही है इसलिये श्रद्धा और चारित्र दोनों का मेल बैठ गया। इस ९९ वीं गाथा मे दो नौ इकट्ठे होते हैं और उनमें से सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र दोनों इकट्ठे हो जायें ऐसा उच्च भाव निकलता है। जिस प्रकार नौ का अंक अफर (जो फिर न सके) माना जाता है उसी-प्रकार यह भाव भी अफर हैं।

त्रिकाली द्रव्य के प्रत्येक समय के परिणाम सत् है—ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है; द्रव्य सत् है और पर्याय भी सत् है; यह 'सत्' जिसे नही बैठा और पर्यायो में फेरफार करना मानता है उसे वस्तु के स्वभाव की, सर्वज्ञदेव की, गुरु की या शास्त्र की बात नही जमी है, और वास्तव मे उसने उन किसी को नही माना है।

त्रिकाली वस्तु का वर्तमान कब नही होता ?—सदैव होता है। वस्तु का कोई भी वर्तमान अंश ख्याल में लो वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है। वस्तु को जब देखो तब वह वर्तमान मे वर्त रही है। इस वर्तमान को यहाँ स्वयसिद्ध सत् सिद्ध करते हैं। जिस प्रकार त्रिकाली सत् पलटकर चेतन में से जड़ नही हो जाता, उसी प्रकार उसका प्रत्येक वर्तमान अंश है वह सत् है, वह अंश भी पलटकर आगे-पीछे नही होता। जिसने ऐसे वस्तुस्वभाव को जाना उसको अपने अकेले

ज्ञायकपने की प्रतीति हुई, वही धर्म हुआ। और उसने देव-गुरु-शास्त्र को भी यथार्थरूप से माना कहा जायेगा।

तीनोंकाल के समय मे तीनोकाल के परिणाम उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य हैं, कोई भी एकसमय का जो परिणाम है वह पहले नही था और फिर उत्पन्न हुआ, इसलिये पूर्वपरिणाम के पश्चात्‌रूप से वह उत्पादरूप है, और उस परिणाम के समय पूर्व के परिणाम का व्यय है,—पूर्वपरिणाम का व्यय होकर वह परिणाम उत्पन्न हुआ है इसलिये पूर्वपरिणाम की अपेक्षा वही परिणाम व्ययरूप है, और तीनोकाल के परिणाम के अखण्डप्रवाह की अपेक्षा से वह परिणाम उत्पन्न भी नही हुआ है और विनाशरूप भी नही है—है वैसा है अर्थात् ध्रौव्य है। इस प्रकार अनादि–अनंत प्रवाह मे जब देखो तब प्रत्येक परिणाम उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वभावरूप है।

किसी भी वस्तु की पर्याय मे फेरफार करने की उमग सो पर्यायबुद्धि का मिथ्यात्व है, उसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नही है और ज्ञेयो के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वभाव की भी खबर नही है। अरे भगवान ! वस्तु 'सत्' है न ? तो तू उस सत् के ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा उसमे क्या करेगा ? तू सत् में फेरफार करना मानेगा तो सत् तो नही बदलेगा किन्तु तेरा ज्ञान असत् होगा। जिस प्रकार वस्तु सत् है उसी प्रकार उसे भगवान ने केवलज्ञान मे जाना है, वही वाणी द्वारा कहा गया है—नवीन नही कहा गया। भगवान ने तो जैसा सत् था वैसा मात्र ज्ञान किया है; वाणी जड है उसे भी भगवान ने नही निकाला। भगवान का आत्मा अपने केवल ज्ञानपरिणाम मे वर्त रहा है, और वाणी की पर्याय परमाणुओ के परिणमनप्रवाह मे वर्त रही है, तथा समस्त पदार्थ अपने सत् मे वर्त रहे है। ज्ञायकमूर्ति आत्मा तो जानने का कार्य करता है कि—'सत् ऐसा है।' बस, इसी का नाम सम्यग्दर्शन और वीतरागता का मार्ग है।

भगवान कैसे हैं ?—'सर्वज्ञ'—सर्व के ज्ञाता, किसी मे राग–द्वेष या फेरफार करनेवाले नही हैं। भगवान की भाँति मेरे आत्मा का

स्वभाव भी जानने का है—इस प्रकार तू भी अपने ज्ञातास्वभाव की श्रद्धा कर और पदार्थों मे फेरफार करने की बुद्धि छोड़ ! जिसने अपने ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा की वह अस्थिरता के राग-द्वेष का भी ज्ञाता ही रहा। जिसने ऐसे ज्ञानस्वभाव को माना, उसीने अरिहंतदेव को माना, उसीने आत्मा को माना, उसीने गुरु को तथा शास्त्र को माना, उसीने नवपदार्थों को माना, उसीने छह द्रव्यों को तथा उनके वर्तमान अंश को माना; उसीका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

'जानना' आत्मा का स्वभाव है। बस, जानना ही आत्मा का पुरुषार्थ है वही आत्मा का धर्म है, उसी में मोक्षमार्ग और वीतरागता है। अनन्त सिद्धभगवत भी प्रतिसमय पूर्ण जानने का ही कार्य कर रहे हैं।

ज्ञान में स्व-पर दोनो ज्ञेय हैं। 'ज्ञान ज्ञाता है'-ऐसा जाना वहाँ ज्ञान भी स्वज्ञेय हुआ। ज्ञान को रागादि का कर्ता माने या बदलनेवाला माने तो उसने ज्ञान के स्वभाव को नही जाना है,—स्वयं अपने को स्वज्ञेय नही बनाया इसलिये उसका ज्ञान मिथ्या है। वस्तु के समस्त परिणाम अपने अपने समय मे सत् हैं—ऐसा कहते ही अपना स्वभाव ज्ञायक ही है—ऐसा उसमे आ जाता है।

❀

इस गाथा मे क्षेत्र का उदाहरण देकर पहले द्रव्य का त्रिकाली सत्पना बतलाया, उसके त्रिकाली प्रवाहक्रम के अश बतलाये, और उन अशों में (परिणामों मे) अनेकतारूप प्रवाहक्रम का कारण उनका परस्पर व्यतिरेक है—ऐसा सिद्ध किया। तत्पश्चात् सम्पूर्ण द्रव्य के समस्त परिणामो को स्व-अवसर मे वर्तनेवाला, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप बतलाया। इतनी बात पूर्ण हुई।

अब, प्रत्येक समय के वर्तमान परिणाम को लेकर उसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपना बतलाते हैं। पहले समय परिणामों की बात थी और अब यहाँ एक ही परिणाम की बात है। और फिर अन्त मे

परिणामी द्रव्य की ही वात लेकर द्रव्य के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य बतलायेंगे।

पुनश्च, 'जिस प्रकार वस्तु का जो छोटे से छोटा (अन्तिम) अंश पूर्वप्रदेश के विनाशरूप है वही (अंश) तत्पश्चात् के प्रदेश के उत्पादस्वरूप है तथा वही परस्पर अनुस्यूति से रचित एकवास्तुपने द्वारा अनुभयस्वरूप है (अर्थात् दो मे से एक स्वरूप भी नहीं है।) उसी प्रकार प्रवाह का जो छोटे से छोटा अंश पूर्वपरिणाम के विनाश-स्वरूप है वही तत्पश्चात् के परिणाम के उत्पादस्वरूप है तथा वही परस्पर अनुस्यूति से रचित एक प्रवाहपने द्वारा अनुभयस्वरूप है।'

असख्यप्रदेशी आत्मा का कोई भी एक प्रदेश लो तो वह प्रदेश, क्षेत्र अपेक्षा से पूर्व के प्रदेश के व्ययरूप है, स्वय अपने क्षेत्र के उत्पादरूप है और अखण्ड क्षेत्र अपेक्षा से वही ध्रौव्य है।—यह दृष्टान्त है। उसी प्रकार अनादिअनन्त प्रवाहक्रम मे वर्तमान प्रवर्तित कोई भी एक परिणाम पूर्व के परिणाम के व्ययरूप है, तत्पश्चात् के परिणाम की अपेक्षा से उत्पादस्वरूप है, और पहले–पीछे का भेद किये विना सम्पूर्ण प्रवाहक्रम के अंशरूपसे देखें तो वह परिणाम ध्रौव्यरूप है। इस प्रकार प्रत्येक परिणाम मे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य है।

समस्त परिणामो के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य की वात ली तव 'अपने अपने अवसर मे'—ऐसा कहकर उस प्रत्येक का स्वतन्त्र स्वकाल बतलाया था। और यहाँ एक परिणाम की विवक्षा लेकर बात करने से उन शब्दो का उपयोग नही किया, क्योकि वर्तमान एक ही परि-णाम लिया उसीमे उसका वर्तमान स्वकाल आ गया।

वर्तमान वर्तनेवाला परिणाम पूर्वपरिणाम के अभावरूप ही है; इसलिये पूर्व के विकार का अभाव करूं—यह बात नही रहती; और वर्तमान मे सत्‌रूप है इसमे भी फेरफार करना नही रहता। ऐसा समझने पर मात्र वर्तमान परिणाम की दृष्टि से परिणाम और परि-णामी की एकता होने पर सम्यक्त्व का उत्पाद होता है, उसमे पूर्व

के मिथ्यात्व का व्यय है ही; मिथ्यात्व को दूर नहीं करना पड़ता। किसी भी परिणाम को मैं नहीं बदल सकता, मात्र जानता हूँ—ऐसा मेरा स्वभाव है;—इस प्रकार ज्ञानस्वभाव की प्रतीति में सम्यक्त्व-परिणाम का उत्पाद है, और उसीमे मिथ्यात्व का व्यय है ही; इसलिये मिथ्यात्व को दूर करूँ और सम्यक्त्व प्रगट करूँ—यह बात ही नहीं रहती। जहाँ ऐसी बुद्धि वहाँ उस समय का सत्परिणाम स्वयं ही सम्यक्त्व के उत्पादरूप और मिथ्यात्व से व्ययरूप है; तथा एक-दूसरे के साथ संबन्धित परिणामों के अखण्डप्रवाहरूप से वह परिणाम ध्रौव्य है। इस प्रकार प्रत्येक परिणाम उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त सत् हैं।

जिस प्रकार वस्तु सत् है उसी प्रकार उसका वर्तमान भी सत् है। वस्तु के त्रिकाली प्रवाह मे प्रत्येक समय का अंश सत् है; वर्तमान समय का परिणाम पूर्व के कारण नही है किन्तु पूर्व के अभाव से ही अपनेरूप से सत् हैं। वह वर्तमान अंश पर से नही किन्तु अपने से है। प्रत्येक समय का वर्तमान अंश निरपेक्षरूप से अपने से ही उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप सत् है।

सर्वज्ञ के अतिरिक्त वस्तुस्वरूप का ऐसा वर्णन अन्यत्र नहीं हो सकता। भाई! तू क्या करेगा? जगत के तत्त्व सत् है; उनकी पहली पर्याय के कारण भी दूसरी पर्याय नही होती, तब फिर तू उसमें क्या करेगा? तू तो मात्र ज्ञाता रह! इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ मानेगा तो, वस्तु में तो कुछ भी फेरफार नही होगा किन्तु तेरा ज्ञान मिथ्या होगा।

वस्तु का वर्तमान अंश है वह सत् है;—इस प्रकार यहाँ तो वर्तमान प्रत्येक समय के परिणाम को सत् सिद्ध करना है। द्रव्य के आधार से अंश है—यह बात इस समय नही लेना है। यदि द्रव्य के कारण परिणाम का सत्पना हो तब तो सभी परिणाम एक समान ही हों; इसलिये द्रव्य के कारण परिणाम का सत् है ऐसा

न लेकर प्रत्येक समय का परिणाम स्वयं सत् है और द्रव्य ही उस वर्तमान परिणामरूप से वर्तता हुआ सत् है—ऐसा लिया है। प्रवाह का वर्तमान अंश उस अंश के कारण ही है। अहो! प्रत्येक समय का अकारणीय सत् सिद्ध किया है। समय समय का सत् अहेतुक है। समस्त पदार्थों के तीनोकाल के वर्तमान का प्रत्येक अंश निरपेक्ष सत् है, ज्ञान उसे जैसे का तैसा–यथावत्–जानता है, किन्तु बदलता नही है। ज्ञान ने जाना इसलिये वह अंश वैसा है—ऐसी बात नही है। वह स्वयं सत् है।

वर्तमान परिणाम पूर्व परिणाम के व्ययरूप है, इसलिये वर्तमान परिणाम को पूर्व परिणाम की भी अपेक्षा नही रही, तब फिर परपदार्थ के कारण उसमे कुछ हो यह बात कहाँ रही? केवलीभगवान को पहले समय केवलज्ञान हुआ इसलिये दूसरे समय वह केवलज्ञान रहा–ऐसा नही है, किन्तु दूसरे समय के उस वर्तमान परिणाम का केवलज्ञान उस समय के अंश से ही सत् है। पहले समय के सत् के कारण दूसरे समय का नही है। इसी प्रकार सिद्धभगवान को पहले समय की सिद्धपर्याय थी इसलिये दूसरे समय सिद्धपर्याय हुई—ऐसा नही है। सिद्ध मे और समस्त द्रव्यों मे प्रत्येक समय का अंश सत् है।

यहाँ एक अंश के परिणाम के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य में 'अपने अवसर मे'—ऐसी भाषा का उपयोग नही किया; क्योकि वर्तमान प्रवर्तित एक परिणाम की बात है, और वर्तमान में जो परिणाम वर्तता है वही उसका स्वकाल है। तीनोकाल के प्रत्येक परिणाम का जो वर्तमान है वह वर्तमान ही उसका स्वकाल है। अपने वर्तमान को छोड़कर वह आगे–पीछे नही होता। इस प्रकार वर्तमान प्रत्येक परिणाम का उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वभाव है।

❀ ❀ ❀

इस गाथा में अभीतक चार बोल आये:—

(१) द्रव्य का अखण्ड प्रवाह एक है और उसके क्रमशः होनेवाले अंश सो परिणाम हैं।

(२) उन परिणामो में अनेकता है, क्योंकि परस्पर व्यतिरेक है।

(३) तीनोंकाल के परिणामों का पूरा दल लेकर समस्त परिणामों मे सामान्यरूप से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपना कहा।

(४) सम्पूर्ण प्रवाह का एक अंश लेकर प्रत्येक परिणाम मे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य कहे।

—ऐसे चार प्रकार हुए। इस प्रकार परिणाम का उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यपना निश्चित् करके, अब अन्त में परिणामी द्रव्य में उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य सिद्ध करते हैं।

इस प्रकार स्वभाव से ही त्रिलक्षण परिणामपद्धति मे (परिणामो की परम्परा मे) प्रवर्तमान द्रव्यस्वभाव का अतिक्रमण न करने से सत्त्व को त्रिलक्षण ही अनुमोदना।

द्रव्य के समस्त परिणाम उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वरूप हैं, और उन परिणामो के क्रम मे प्रवर्तमान द्रव्य भी उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त ही है। यदि परिणाम की भाँति द्रव्य भी उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त न हो तो वह परिणामों की परम्परा मे वर्त ही नही सकता। जो द्रव्य है सो उत्पाद—व्यय—ध्रौव्यरूप समस्त परिणामों की परम्परा मे वर्तता है इससे उसके भी उत्पाद—व्यय—ध्रौव्य है। परिणामो की पद्धति कही है अर्थात् जिस प्रकार सांकल की कड़ियाँ आगे-पीछे नही होती उसी प्रकार परिणामो का प्रवाहक्रम नही बदलता; जिस समय द्रव्य का जो परिणाम प्रवाहक्रम मे हो उस समय उस द्रव्य का वही परिणाम होता है—दूसरा परिणाम नही होता। देखो, यह वस्तु के सत् स्वभाव का वर्णन है। वस्तु का सत्स्वभाव है, सत् उत्पाद—

व्यय—ध्रौव्ययुक्त परिणाम है, और उसे भगवान द्रव्य का लक्षण कहते हैं—'सत् द्रव्य लक्षणं।' तेरा स्वभाव जानने का है। जैसा सत् है वैसा तू जान। सत् को उलटा-सीधा करने की बुद्धि करेगा तो तेरे ज्ञान मे मिथ्यात्व होगा। वस्तुयें सत् है और मैं उनका ज्ञाता हूँ—ऐसी श्रद्धा होने के पश्चात् अस्थिरता का विकल्प उठता है, किन्तु उसमे मिथ्यात्व का जोर नही आता। इसलिये ऐसी ज्ञान और ज्ञेय की श्रद्धा के बल से उस अस्थिरता का विकल्प भी टूटकर वीतरागता और केवलज्ञान होगा ही!—ऐसी यह अलौकिक बात है।

यह विषय अत्यन्त सूक्ष्म, परम सत्य एवं गम्भीर है।

सर्वज्ञदेव ने केवलज्ञान मे वस्तु का स्वभाव जैसा है वैसा पूर्ण जाना, और वैसा ही वाणी मे आ गया। जैसा वस्तु का स्वभाव है वैसा जानकर माने तो ज्ञान और श्रद्धा सम्यक् हो, वस्तु के स्वभाव को यथावत् न जाने तथा अन्य रीति से माने तो सम्यक्ज्ञान और सम्यक्श्रद्धा नही होते, और उनके बिना व्रत-तपादि सच्चे नही होते। वस्तु के स्वभाव की स्थिति क्या है और उसके नियम कैसे सत्य हैं, उसका यहाँ वर्णन है। इसे समझाने के लिये ज्ञान में एकाग्र होने की आवश्यकता है।

देखो, अभीतक क्या कहा गया है? प्रत्येक चेतन और जड-पदार्थ स्वयं सत् है, उसमे एक-एक समय मे परिणाम होता है, वह परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त है। मूल वस्तु त्रिकाल है, वह वस्तु असंयोगी—स्वयंसिद्ध है; वह किसी से निमित्त नही है और न कभी उसका नाश होता है; जब देखो तब वह सत्रूप से वर्तमान वर्त रही है।

प्रत्येक समय के परिणाम में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होता हैं उसमें वस्तु वर्त रही है। प्रत्येक द्रव्य मे तीनकाल के जितने समय हैं उतने ही परिणाम हैं। जैसे—स्वर्ण के सौ वर्ष लिये जायें तो उन सौ वर्षों में हुई कड़ा, कुंडल, हार इत्यादि समस्त अवस्थाओ का एक पिंड सोना है; उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य तीनकाल के समस्त परिणामो का

पिण्ड है। वे परिणाम क्रमशः—एक के बाद एक होते हैं। तीनकाल के समस्त परिणामों का प्रवाह वह द्रव्य का प्रवाहक्रम है, और उस प्रवाहक्रम का एक समय का अंश सो परिणाम है। तीनकाल के जितने समय हैं उतने ही प्रत्येक द्रव्य के परिणाम हैं। उस प्रत्येक परिणाम मे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य–ऐसे तीन प्रकार सिद्ध किये हैं। अपने अपने निश्चित् अवसर मे प्रत्येक परिणाम उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाला है। किसी से किसी के परिणाम का उत्पाद हो या कोई परिणाम आगे–पीछे हो—यह बात तो यहाँ से कही दूर उड़ गई, कोई परिणाम आगे–पीछे नही होते इस निर्णय मे तो सर्वज्ञता का निर्णय और ज्ञायक द्रव्य की दृष्टि हो जाती है।

आत्मा मे वर्तमान जो ज्ञानअवस्था है उस अवस्था मे ज्ञान-गुण वर्त रहा है, दूसरी अवस्था होगी तब उसमे वर्तमान वर्तेगा। और तीसरी अवस्था के समय उसमे भी वर्तमान वर्तेगा। इस प्रकार दूसरी–तीसरी–चौथी सभी अवस्थाओ के प्रवाह का पिण्ड सो ज्ञान-गुण है। ऐसे अनन्तगुणों का पिण्ड सो द्रव्य है। द्रव्य के प्रतिसमय जो परिणाम होते है वे परिणाम अपनी अपेक्षा से उत्पादरूप है, पूर्व के अभाव की अपेक्षा से व्ययरूप हैं, और अखण्ड प्रवाह मे वर्तनेवाले अंश-रूप से ध्रौव्य है। ऐसा उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाला परिणाम है वह प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है; और ऐसे स्वभाव मे द्रव्य नित्य प्रवर्तमान है इसलिये द्रव्य स्वय भी उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वभाववाला है—ऐसा अनुमोदन करना।

प्रत्येक वस्तु पलटती हुई–नित्य है। यदि वस्तु अकेली 'नित्य' ही हो तो उसमे सुख–दु ख इत्यादि कार्य नही हो सकते; और यदि वस्तु एकान्त 'पलटती' ही हो तो वह त्रिकालस्थायी नही रह सकती, दूसरे ही क्षण उसका सर्वथा अभाव हो जायेगा। इसलिये वस्तु अकेली नित्य, या अकेली पलटती नही है, किन्तु नित्यस्थायी रहकर प्रतिक्षण पलटती है। इस प्रकार नित्य पलटती हुई वस्तु कहो या 'उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्तं सत्' कहो, उसका यह वर्णन है। अल्प

से अल्पकाल में होनेवाले परिणाम मे वर्तता–वर्तता द्रव्य नित्यस्थायी है। उसके प्रत्येक परिणाम में उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यपना है–यह वात हो गई है। और वह द्रव्य स्वयं भी उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाला है।
—यह वात चल रही है।

समस्त पदार्थ सत् हैं। पदार्थ 'है'—ऐसा कहते ही उसका सत्पना आ जाता है। पदार्थों का सत्पना पहले (७८ वी गाथा मे) सिद्ध कर चुके हैं। पदार्थ सत् हैं और सत् उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यसहित है। कोई भी वस्तु हो वह वर्तमान—वर्तमानरूप से वर्तती रहेगी न ? कही भूत या भविष्य में नही रहेगी। वस्तु तो वर्तमान मे ही वर्तती है और वह प्रत्येक समय का वर्तमान भी यदि उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाला न हो तो वस्तु का त्रिकाल परिवर्तनपना सिद्ध नही होगा। इसलिये प्रतिसमय होनेवाले उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाले परिणाम मे ही वस्तु वर्तती है। जिस प्रकार द्रव्य त्रिकाली सत् है उसी प्रकार उसके तीनोंकाल के परिणाम भी प्रत्येक समय का सत् है। प्रत्येक परिणाम को उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त सत् सिद्ध करके, यहाँ परिणाम मे वर्तने वाले द्रव्य को उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त सिद्ध करते हैं।

द्रव्य का एक वर्तमान प्रवर्तित परिणाम अपने से उत्पादरूप है, अपने पहले के परिणाम की अपेक्षा से व्ययरूप है और अखण्ड प्रवाह मे वह ध्रौव्य है।—इस प्रकार परिणाम उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाला है और उस परिणाम मे द्रव्य वर्तता है इसलिये द्रव्य भी उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाला ही है। परिणाम के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य सिद्ध करने से, उस परिणाम मे वर्तनेवाले परिणामी के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य सिद्ध हो ही जाते हैं इसलिये कहा है कि द्रव्य को त्रिलक्षण अनुमोदना। अनुमोदना अर्थात् रुचिपूर्वक मानना, सानंद समत करना।

यदि समय–समय के परिणाम की यह बात समझ ले तो पर मे खटपट करने का अहंकार न रहे और अकेले रागादि परिणामों पर

भी दृष्टि न रहे किन्तु परिणामी ऐसे त्रिकाली द्रव्य की दृष्टि हो जाये; और द्रव्यदृष्टि होने से आनन्द का अनुभव हुए बिना न रहे। इसलिये कहा है कि ...'सानंद संमत करना।'

जिस प्रकार त्रिकाली सत् मे जो चैतन्य है वह चैतन्य ही रहता है और जड़ है वह जड़ ही रहता है; चैतन्य मिटकर जड़ नही होता और न जड़ मिटकर चैतन्य होता है। उसी प्रकार एक समय के सत् में भी—जो परिणाम जिस समय में सत् है वह परिणाम उसी समय होता है–आगे–पीछे नही होता। जिस प्रकार त्रिकालो सत् है उसी प्रकार वर्तमान भी सत् है। जिस प्रकार त्रिकाली सत् पलटकर अन्यरूप नही हो जाता उसी प्रकार वर्तमान सत् पलटकर भी भूत या भविष्यरूप नही हो जाता। तीनों काल के समय समय के वर्तमान परिणाम अपना स्वसमय (स्व–काल) छोड़कर पहले या पीछे के समय नही होते। जितने तीन काल के समय है उतने ही द्रव्य के परिणाम हैं; उनमे जिस समय का जो वर्तमान परिणाम है वह परिणाम अपना वर्तमानपना छोडकर भूत या भविष्य मे नहीं होता। बस! प्रत्येक परिणाम अपने अपने काल में वर्तमान सत् है। उस सत् को कोई बदल नही सकता। सत् को बदलना माने वह मिथ्यादृष्टि है; उसे ज्ञातास्वभाव की प्रतीति नही है। जिस प्रकार चेतन को बदलकर जड़ नही किया जा सकता उसी प्रकार द्रव्य के त्रिकाली प्रवाह मे उस–उस समय के वर्तमान परिणाम को आगे–पीछे नही किया जा सकता। अहो! लोगो को अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नही है इसलिये ज्ञेयो के ऐसे व्यवस्थितस्वभाव की प्रतीति नही बैठती।

जिस प्रकार वस्तु अनादि–अनंत हैं उसी प्रकार उसका प्रत्येक समय का वर्तमान भी प्रवाहरूप से अनादि अनंत है। वस्तु और वस्तु का वर्तमान—वह पहले–पीछे नही है। वस्तु का वर्तमान कब नहीं होता? कभी भी वर्तमान बिना वस्तु नही होती। दोनो ऐसे के ऐसे अनादि अनंत है। तीनोंकाल में से एक भी समय के वर्तमान को

निंकाल दें तो त्रिकाली वस्तु ही सिद्ध नही हो सकती। तीनो काल के वर्तमान का पिण्ड सो सत् द्रव्य है, और उन तीनों काल का प्रत्येक वर्तमान परिणाम अपने अवसर मे सत् है, वह अपने से उत्पादरूप है, पूर्व की अपेक्षा से व्ययरूप और अखण्ड वस्तु के वर्तमानरूप से ध्रौव्य-रूप है। ऐसे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त परिणाम सो सत् है और वह द्रव्य का स्वभाव है। ऐसे सत् को कौन बदल सकता है? सत् को जैसे का तैसा जान सकता है किन्तु उसे कोई बदल नही सकता।

वस्तु के द्रव्य-गुण-पर्याय का जैसा स्वभाव है वैसा ज्ञान जानता है। अश को अशरूप से जानता है और त्रिकाली को त्रिकाली-रूप से जानता है;—ऐसा स्वभाव जानने पर अकेले अंश की रुचि न रहने से त्रिकाली स्वभाव की रुचि की ओर श्रद्धा ढल जाती है। अश को अशरूप से और अंशी को अंशीरूप से श्रद्धा मे लेने पर श्रद्धा का सारा बल अंश पर से हटकर त्रिकाली द्रव्य-गुण की ओर ढल जाता है। यही सम्यग्दर्शन है।

द्रव्य, गुण और पर्याय-यह तीनो स्वज्ञेय है। एक समय मे द्रव्य-गुण-पर्याय का पिण्ड वह सम्पूर्ण स्वज्ञेय है। उसमे पर्याय एक समयपर्यन्त की है–ऐसा जानने से उस पर एक समयपर्यंत का ही बल रहा; और द्रव्य भी त्रिकाली जानने से उस पर त्रिकाली बल आया, इसलिये उसीकी मुख्यता हुई और उसकी रुचि मे श्रद्धा का बल ढल गया। इस प्रकार स्वज्ञेय को जानने से सम्यक्त्व आ जाता है। इसलिये इस ज्ञेय–अधिकार का दूसरा नाम सम्यक्त्व–अधिकार भी है।

स्वज्ञेय परज्ञेय से बिलकुल भिन्न है। यहाँ राग भी स्वज्ञेय में आता है। समयसार मे द्रव्यदृष्टि की प्रधानता से कथन है वहाँ स्वभावदृष्टि मे राग की गौणता हो जाती है; इसलिये वहाँ तो 'राग आत्मा मे होता ही नही, राग जड़ के साथ तादात्म्यवाला है'—ऐसा कहा जाता है। वहाँ दृष्टि अपेक्षा से राग को पर मे डाल दिया और द्रव्य की दृष्टि कराई। और यहाँ, इस प्रवचनसार मे ज्ञान अपेक्षा

से कथन है, इसलिये सम्पूर्ण स्वज्ञेय बताने के लिये राग को भी स्वज्ञेय में लिया है। दृष्टि अपेक्षा से राग पर में जाता है और ज्ञान अपेक्षा से वह स्वज्ञेय में आता है; परन्तु राग मे ही स्वज्ञेय पूरा नहीं हो जाता। रागरहित द्रव्य–गुण–स्वभाव भी स्वज्ञेय है। इस प्रकार द्रव्य–गुण–पर्याय तीनो को स्वज्ञेयरूप से जाना वहाँ राग मे से एकत्वबुद्धि छूटकर रुचि का वल द्रव्य की ओर ढल गया। अकेले राग को सम्पूर्ण तत्त्व स्वीकार करने से स्वज्ञेय सम्पूर्ण प्रतीति में नहीं आता था। और द्रव्य–गुण–पर्यायरूप सम्पूर्ण स्वज्ञेय की प्रतीति होने से उस प्रतीति का वल त्रिकाली की ओर वढ जाता है, इस-लिये त्रिकाली की मुख्यता होकर उस ओर रुचि का वल ढलता है। इस प्रकार इसमे भी द्रव्यदृष्टि आ जाती है।

स्वद्रव्य–गुण–पर्याय यह सब मिलकर स्वज्ञेय है; राग भी स्वज्ञेय है। किन्तु ऐसा जानने से रुचि का वल राग से हटकर अंतर मे ढल जाता है। त्रिकाली तत्त्व को भूलकर मात्र प्रगट अंश को ही स्वीकार करती थी वह मिथ्यारुचि थी; द्रव्य–गुण–पर्याय तीनों को ज्ञेयरूप जानकर अव्यक्त—शक्तिरूप अंतरस्वभावोन्मुख हो जाता है तभी स्वज्ञेय को पूर्ण प्रतीति मे लिया है और तभी उसने भगवान कथित द्रव्य–गुण–पर्याय का स्वरूप सुना—ऐसा कहा जाता है।

जैसे—गुड़ को गुड़रूप से जाने और विष को विषरूप से जाने तो वह ज्ञान वरावर है, किन्तु गुड को विषरूप से जाने और विष को गुड़रूप से जाने तो वह ज्ञान मिथ्या है। उसी प्रकार द्रव्य–गुण–पर्याय तीनो मिलकर एक समय मे सम्पूर्ण स्वज्ञेय है, उसमे द्रव्य को द्रव्यरूप से जाने, गुण को गुणरूप से जाने और पर्याय को पर्यायरूप से जाने तो ज्ञान सच्चा हो; किन्तु जैसा है वैसा न जाने या क्षणिक पर्याय को ही सम्पूर्ण तत्त्व मान ले अथवा तो क्षणिक पर्याय को सर्वथा ही न जाने–तो वह ज्ञान सच्चा नही होता। पदार्थ के सच्चे ज्ञान विना श्रद्धा भी सच्ची नही होती, और ज्ञान–श्रद्धान विना सम्यक्चारित्र, वीतरागता या मुक्ति नहीं होती।

त्रिकाली तत्त्व की रुचि की ओर उन्मुख होकर सम्पूर्ण स्वज्ञेय प्रतीति में आया तब परज्ञेय को जानने की ज्ञान की यथार्थ शक्ति विकसित हुई। ज्ञान की वर्तमान दशा रागसन्मुख रुककर उसे सम्पूर्ण स्वज्ञेय मानती थी वह ज्ञान मिथ्या था, उसमे स्व–परप्रकाशक ज्ञान-सामर्थ्य नही था। और ज्ञान की वर्तमानदशा मे अन्तर की सम्पूर्ण वस्तु को ज्ञेय बनाकर उस ओर उन्मुख हो जाने से वह ज्ञान सम्यक् हुआ, और उसमें स्व–परप्रकाशकशक्ति विकसित हुई।

परिणाम के प्रवाहक्रम मे वर्तनेवाला द्रव्य है–ऐसा निश्चित् किया वहाँ रुचि का बल उस द्रव्य की ओर ढलने से रुचि सम्यक् हो गई। उस पर्याय मे राग का अंश वर्तता है वह भी ज्ञान के ख्याल से बाहर नही है, ज्ञान उसे स्व-ज्ञेयरूप से स्वीकार करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण स्वज्ञेय को (द्रव्य-गुण को तथा विकारी-अविकारी पर्यायो को) स्वीकार करने से रुचि तो द्रव्य-गुण-पर्याय की ओर उन्मुख होकर सम्यक् हो गई और ज्ञान मे द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों का ज्ञान सच्चा हुआ।—ऐसा इस ज्ञेय अधिकार का वर्णन है।

ज्ञेय के तीनों अशो को (—द्रव्य-गुण-पर्याय को) स्वीकार करे वह ज्ञान सम्यक् है, एक अंश को ही (राग को ही) स्वीकार करे तो वह ज्ञान मिथ्या है, और सर्वथा रागरहित स्वीकार करे तो वह ज्ञान भी मिथ्या है; क्योकि रागपरिणाम भी साधक के वर्तते हैं, उन रागपरिणामों को स्व–ज्ञेयरूप से न जाने तो रागपरिणाम मे वर्तनेवाले द्रव्य को भी नही माना।

रागपरिणाम भी द्रव्य के तीनकाल के परिणाम की पद्धति मे आ जाता है; रागपरिणाम कही द्रव्य के परिणाम की परम्परा से पृथक् नही है। तीनो काल के परिणामो की परम्परा मे वर्त कर ही द्रव्य स्थित है।

निगोद या सिद्ध–कोई भी परिणाम उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप है, और उस परिणाम मे द्रव्य वर्त रहा है। परिणाम की जो रीति

है—जो क्रम है–जो परम्परा है–जो स्वभाव है, उसमें द्रव्य अवस्थित है। वह द्रव्य अपने उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप परिणामस्वभाव का अतिक्रम नही करता। यहाँ 'स्वभाव' कहने से शुद्ध परिणाम ही नही समझना, किन्तु विकारी या अविकारी समस्त परिणाम द्रव्य का स्वभाव है, और वह स्वज्ञेय में आ जाता है। और जो ऐसा जानता है उसे शुद्धपरिणाम की उत्पत्ति होने लगती है। स्वज्ञेय मे पर-ज्ञेय नही है और पर-ज्ञेय में स्वज्ञेय नही है—ऐसा जानने मे ही वीतरागी श्रद्धा आ जाती है। क्योंकि मेरा स्व-ज्ञेय पर-ज्ञेयों से भिन्न है—ऐसा निर्णय करने से किसी भी पर-ज्ञेय के अवलम्बन का अभिप्राय नही रहा इसलिये स्व-द्रव्य के अवलम्बन से सम्यक्श्रद्धा हुई। सम्पूर्ण द्रव्य सो परिणामी और उसका अंश सो परिणाम; उसमें पूर्ण परिणामी की अन्तर्दृष्टि बिना परिणाम का सच्चा ज्ञान नही होता। परिणामों की परम्परा को द्रव्य नही छोड़ता किन्तु उस परम्परा मे ही वर्तता है; —इसलिये लक्ष का बल कहाँ गया !–द्रव्य पर। इस प्रकार इसमें भी द्रव्यदृष्टि आ जाती है।

द्रव्य तो अनंत शक्ति का त्रिकाली पिण्ड है, और परिणाम तो एकसमयपर्यन्त का अंश है,—ऐसा जाना वहाँ श्रद्धा का बल अनंत शक्ति के पिण्ड की ओर ढल गया इससे द्रव्य की प्रतीति हुई, और द्रव्य–पर्याय दोनों का यथार्थ ज्ञान हुआ।

प्रत्येक वस्तु अपने परिणामस्वभाव मे वर्त रही है, उस परिणाम के तीन लक्षण (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक) हैं; इसलिये उस परिणाम मे प्रवर्तित वस्तु मे भी यह तीनों लक्षण आ जाते हैं, क्योंकि वस्तु का अस्तित्व परिणामस्वभाव से पृथक् नही है। वस्तु 'है' ऐसा कहते ही उसमे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य आ जाते हैं। उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य बिना 'वस्तु है'—ऐसा सिद्ध नही होता। परिणाम 'है' ऐसा कहने से वह परिणाम भी उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाला है। 'अस्तित्व (–सत्)' उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य के बिना नही होता। इसलिये सत्त्व को त्रिलक्षण अनुमोदना।

पहले यथार्थ श्रवण करके वस्तु को बराबर जाने कि—'यह ऐसा ही है' तो ज्ञान निःशंक हो, और ज्ञान निःशंक हो तभी अंतर में उसका मंथन करके निर्विकल्प अनुभव करे। किन्तु जहाँ ज्ञान ही मिथ्या हो और 'ऐसा होगा या वैसा'—ऐसी शंका मे झूलता हो वहाँ अन्तर में मंथन कहाँ से होगा ? निःशंक ज्ञानरहित मथन भी मिथ्या होता है, अर्थात् मिथ्याज्ञान और मिथ्याश्रद्धा होती है। पहले वस्तु-स्थिति क्या है वह बराबर ध्यान मे लेना चाहिये। वस्तु को बराबर ध्यान में लिये बिना किसका मथन करेगा ?

वस्तु परिणाम का उल्लंघन नही करती, क्योंकि परिणाम सत् है। यदि वस्तु परिणाम का उल्लघन करे तब तो 'सत्' का ही उल्लघन करे, इसलिये वस्तु 'है' ऐसा सिद्ध न हो। वस्तु तीनो काल के परिणाम के प्रवाह मे वर्तती है।

अहो, यह तो सम्पूर्ण ज्ञेय का पिण्ड प्रतीति में लेने का मार्ग कहो अथवा पूर्ण ज्ञायकपिण्ड की दृष्टि कहो, सम्यक् नियतिवाद कहो या यथार्थ मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ कहो, वीतरागता कहो अथवा तो धर्म कहो;—वह सब इसमे आ जाता है।

श्री आचार्यदेव कहते है कि वस्तु का स्वभाव ही यह (उपरोक्तानुसार) है, ऐसा वस्तुस्वभाव आनन्दपूर्वक मानना—सम्मत करना। जो ऐसे वस्तुस्वभाव को जाने उसे अपूर्व आनन्द प्रगट हुए बिना न रहे। जहाँ वस्तु को त्रिलक्षण जाना वहाँ आत्मा स्वयं सम्यक् स्वभाव मे ढले बिना नही रहता,—वस्तु सम्यक्-स्वभावरूप परिणमित होने पर अपूर्व आनन्द का अनुभव होता ही है। इसलिये यहाँ कहा है कि ऐसे वस्तुस्वभाव को आनन्द से मान्य करना।

देखो, उस–उस परिणाम का वस्तु उल्लघन नही करती, इसलिये दृष्टि कहाँ गई ? वस्तु पर दृष्टि गई, परिणाम–परिणामी की एकता हुई; इसलिये सम्पूर्ण सत् एकाकार हो गया,—सम्पूर्ण स्वज्ञेय अभेद हो गया। ऐसे स्वज्ञेय को जाने और माने वहाँ वस्तुस्वभाव की सम्यक्प्रतीति और अपूर्व आनन्द का अनुभव हुए बिना नही रहता।

जिस प्रकार केवलज्ञानी लोकालोक—ज्ञेय को सत् रूप से जानता है, उसी प्रकार सम्यक्दृष्टि भी उसे ज्ञेयरूप से स्वीकार करता है, और उसे जाननेवाले अपने ज्ञानस्वभाव को भी वह स्वज्ञेयरूप से स्वीकार करता है। वहाँ उसकी रुचि स्वभाववान् ऐसे अन्तरद्रव्य की ओर ढलती है, उस रुचि के बल से निर्विकल्पता हुए बिना नही रहती; निर्विकल्पता में आनन्द का अनुभव भी साथ ही होता है!

प्रश्न—कितने काल मे कितने जीव मोक्ष में जाते हैं—ऐसी तो कोई बात इसमे नहीं आई?

उत्तर—इतने काल में इतने जीव मोक्ष जाते हैं—ऐसी गिनती की यहाँ मुख्यता नही है, किन्तु मोक्ष कैसे हो? उसकी मुख्य बात है। स्वयं ऐसे यथार्थ स्वभाव को पहिचाने तो अपने को सम्यक्त्व और वीतरागता हो, और मोक्ष हो जाये। आत्मा का मोक्ष कब होता है—ऐसी काल की मुख्यता नही है, किन्तु आत्मा का मोक्ष किस प्रकार होता है यही मुख्य प्रयोजन है और इसीकी यह बात चल रही है।

जिस प्रकार सत् है उसी प्रकार स्वीकार करे तो ज्ञान सत् हो और शांति आये। इस गाथा मे दो सम—अंक [९९] है और वह भी दो नौ। नव प्रकार के क्षायिकभाव है इसलिये नव का अंक क्षायिकभाव सूचक है और दो नव इकट्ठे हुए इसलिये समभाव—वीतरागता बतलाते है;—क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र—दोनों साथ आ जायें ऐसी अपूर्व बात है। अंक तो जो है सो है, किन्तु यहाँ अपने भाव का आरोप करना है न!

वर्तमान—प्रवर्तित परिणाम में वस्तु वर्त रही है, इसलिये सम्पूर्ण वस्तु ही वर्तमान में वर्तती है। वह वस्तु उत्पाद—व्यय—ध्रौव्यवाली है। यहाँ उत्पाद—व्यय—ध्रौव्य कहकर सत् सिद्ध करते हैं।

आत्मा सत्, जड़ सत्, एक द्रव्य के अनंत गुण सत्, तीन काल के स्व-अवसर में होनेवाले परिणाम सत्, प्रत्येक समय के परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सत् ! बस, इस सत् में कोई फेरफार नहीं होता।—ऐसा स्वीकार किया वहाँ 'मिथ्यात्व को बदलकर सम्यक्त्व करूँ'—यह बात नही रही। क्योंकि जिसने ऐसा स्वीकार किया उसने अपने ज्ञायकभाव को ही स्वीकार किया और वह जीव द्रव्यस्वभावोन्मुख हुआ वहाँ वर्तमान परिणाम में सम्यक्त्व का उत्पाद हुआ, और उस परिणाम मे पूर्व के मिथ्यात्वपरिणाम का तो अभाव ही है। पूर्व के तीव्र पापपरिणाम वर्तमान परिणाम में बाधक नही होते, क्योंकि वर्तमान मे उनका अभाव है। 'पूर्व के तीव्र पाप के परिणाम इस समय बाधक होंगे'—ऐसा जिसने माना उसको वह विपरीत मान्यता बाधक होती है, किन्तु पूर्व के पाप तो उसको भी बाधक नही हैं। 'पूर्व के तीव्र पाप के परिणाम इस समय बाधक होंगे'—ऐसा जिसने माना उसने द्रव्य को त्रिलक्षण नही जाना। यदि त्रिलक्षण द्रव्य के वर्तमान उत्पादपरिणाम मे पूर्व परिणाम का व्यय है, इसलिये 'पूर्व परिणाम बाधा देते हैं' ऐसा वह न माने, किन्तु प्रतिसमय के वर्तमान परिणाम को स्वतंत्र सत् जाने और उसकी दृष्टि, वे परिणाम जिसके हैं ऐसे द्रव्य पर जायें; इसलिये द्रव्यदृष्टि मे उसे वीतरागता का ही उत्पाद होता जाये।—इस प्रकार इसमे मोक्षमार्ग आ जाता है।

वीतराग या राग, ज्ञान या अज्ञान, सिद्ध या निगोद किसी भी एक समयके परिणामको यदि निकाल दें तो द्रव्य का सत्पना ही सिद्ध नही होता; क्योंकि उस-उस समय के परिणाम मे द्रव्य वर्त रहा है, इसलिये अपने क्रमबद्धपरिणामो के प्रवाह मे वर्तमान वर्त रहे द्रव्य को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला ही आनन्द से मानना।

स्वभाव मे अवस्थित द्रव्य सत् है—यह बात सिद्ध करने के लिये प्रथम तो उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त परिणाम कहकर स्वभाव सिद्ध किया, और उस स्वभाव मे द्रव्य नित्य अवस्थित है—ऐसा अभी सिद्ध किया।

पहले परिणामों के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य सिद्ध करने के लिये प्रदेशों का उदाहरण था, वह परिणाम की बात पूर्ण हुई। और अब द्रव्य के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य मोतियों के हार का दृष्टान्त देकर समझायेंगे।

पहले 'वर्तमान' को सिद्ध किया और फिर उस 'वर्तमान में वर्तनेवाला' सिद्ध किया। परिणाम किसके ? परिणामी के। उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त वर्तमान परिणाम और उस परिणाम में वर्तनेवाला उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त द्रव्य वह सम्पूर्ण स्वज्ञेय है। इसकी प्रतीति सो सम्पूर्ण स्वज्ञेय की प्रतीति है। सम्पूर्ण स्वज्ञेय को प्रतीति करने से रुचि का बल वर्तमान अंश पर से हटकर त्रिकाली द्रव्य की ओर ढलता है—यही सम्यग्दर्शन है।

परिणाम मे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य निश्चित् करने से भी दृष्टि द्रव्य पर जाती है, क्योंकि द्रव्य अपने परिणामस्वभाव को नही छोड़ता।

परिणाम स्वभाव मे कौन वर्तता है ?—द्रव्य।

परिणाम को कौन नही छोड़ता ?—द्रव्य।

इसलिये ऐसा निश्चित् करने से दृष्टि द्रव्य पर जाती है, और द्रव्य-दृष्टि होते ही परिणाम मे सम्यक्त्व का उत्पाद और मिथ्यात्व का व्यय हो जाता है। इस प्रकार द्रव्य की दृष्टि में ही सम्यक्त्व का पुरुषार्थ आ जाता है। इसके अतिरिक्त मिथ्यात्व दूर करने के लिये और सम्यक्त्व प्रगट करने के लिये दूसरा कोई अलग पुरुषार्थ करना नही रहता। द्रव्यदृष्टि ही सम्यक्‌दृष्टि है।

❀

जिसे धर्म करना हो उसे कैसा वस्तुस्वरूप जानना चाहिए–उसकी यह बात है। धर्म आत्मा की पर्याय है इसलियें वह आत्मा मे ही होता है। आत्मा का धर्म पर से नही होता और न पर के द्वारा

ही होता है। और पर्याय का धर्म पर्याय में से नहीं होता किन्तु द्रव्य मे से होता है; धर्म तो पर्याय मे ही होता है किन्तु उस पर्याय द्वारा (पर्याय सन्मुख देखने से या पर्याय का आश्रय करने से) धर्म नही होता, किन्तु द्रव्य की सन्मुखता से पर्याय मे धर्म होता है। पर का तो आत्मा मे अभाव है इसलिये परसन्मुख देखने से धर्म नही होता।

अब, जिसे अपनी अवस्था मे धर्म करना है उसे अधर्म को दूर करना है और धर्मरूप होकर आत्मा को अखण्ड बनाये रखना है। देखो, इसमे 'धर्म करना है' ऐसा कहने से उसमे नवीन पर्याय के उत्पाद की स्वीकृति आ जाती है; 'अधर्म को दूर करना है'—उस में पूर्व पर्याय के व्यय की स्वीकृति आ जाती है, और 'आत्मा को अखण्ड बनाये रखना है'—इसने अखण्ड प्रवाह की अपेक्षा से ध्रौव्य का स्वीकार आ जाता है। इस प्रकार धर्म करने की भावना मे वस्तु के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वभाव की स्वीकृति आ जाती है। यदि वस्तु मे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य न हों तो अधर्म दूर होकर धर्म की उत्पत्ति न हो और आत्मा अखण्ड स्थित न रहे। और वे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य भी यदि काल के छोटे से छोटे भाग मे न हो तो एक समय मे अधर्म दूर करके धर्म न हो सके। इसलिये धर्म करनेवाले को वस्तु को प्रति-समय उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वभाववाली जानना चाहिये।

द्रव्य–गुण नित्य हैं और पर्याय क्षणिक है, उन तीनों को जानकर नित्यस्थायी द्रव्य की ओर वर्तमान पर्याय को उन्मुख किये बिना धर्म नही होता। वस्तु मे अवस्था तो नवीन–नवीन होती ही रहती है। यदि नवीन अवस्था न हो तो धर्म कैसे प्रगट हो ? और यदि पुरानी अवस्था का अभाव न हो तो अधर्म कैसे दूर हो ? तथा परिणामो मे अखण्डरूप से ध्रौव्यता न रहती हो तो द्रव्य स्थित कहाँ रहे ? इसलिये वस्तु मे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य यह तीनो जानना चाहिये। उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य यह लक्षण है और परिणाम लक्ष्य है, तथा परिणाम मे वस्तु वर्तती है इसलिये वह वस्तु भी उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य ऐसे त्रिलक्षणवाली ही है।

कोई भी परिणाम लो तो प्रवाह की अखण्ड धारा में वह ध्रौव्य है, अपने स्वकाल अपेक्षा से उत्पादरूप है और पूर्व परिणाम अपेक्षा से व्ययरूप है। इस प्रकार परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत् है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण है और परिणाम लक्ष्य है। परिणाम किसी अन्य पदार्थ के कारण नही होते किन्तु वे स्वयं अपने अवसर मे सत् है। भगवान की वीतरागी मूर्ति के कारण या गुरु के उपदेश के कारण जोव को राग के अथवा ज्ञान के परिणाम हुए—ऐसा नही है, तथा पर जीव दुःखी है इसलिये अपने को अनुकम्पा के भाव उत्पन्न हुए ऐसा भी नहीं है। किन्तु जीव के प्रवाहक्रम में उस–उस भाववाले परिणाम सत् हैं। किसी भी द्रव्य के परिणाम की अखण्ड धारा में एक भी समय का खण्ड नही पड़ता। यदि इस प्रकार परिणामों को जाने तो उन परिणामों के प्रवाह मे प्रवर्तमान द्रव्य को भी पहिचान ले, क्योकि अपने परिणाम के स्वभाव को कोई द्रव्य नही छोड़ता—उल्लंघन नही करता।

ऐसा वस्तुस्वभाव समझे बिना कही बाहर से धर्म नही आ जायेगा। जैसे—लकड़ी के भारे बेचने से लखपति नहीं हुआ जा सकता किन्तु हीरा–माणिक की परख करना सीखे तो उसके व्यापार से लखपति होता है। (यह तो दृष्टान्त है।) उसी प्रकार अतर के चैतन्य–हीरे को परखने की कला में ही धर्म की कमाई हो सकती है। इसके अतिरिक्त किन्हीं बाह्य क्रिया–काण्डों से या शुभराग से धर्म की कमाई नही होती। देखो, यह तो द्रव्यानुयोग का सूक्ष्म विषय है, इसलिये अन्तर मे सूक्ष्म दृष्टि करे तो समझ में आ सकता है।

वस्तु मे जिस काल में जो परिणाम होता है वह सत् है; तीन काल के परिणाम अपने अपने काल मे सत् हैं और ऐसे परिणामों मे द्रव्य वर्तमान वर्त रहा है। वह द्रव्य उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य ऐसे त्रिलक्षणवाला है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ऐसे तीन भिन्न भिन्न लक्षण नही हैं किन्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य यह तीनो मिलकर द्रव्य का एक लक्षण है।

भाई ! अपने ज्ञान मे तू ऐसा निर्णय कर कि द्रव्य में जिस समय जो परिणाम है उस समय वही सत् है, उसका मैं ज्ञाता हूँ, उसमें कोई फेरफार करनेवाला नही हूँ।—ऐसा जानने से पर्याय के राग का स्वामित्व और अंशबुद्धि दूर हो जाती है और ध्रौव्य के लक्ष से सम्यक्त्व एव वीतरागता होती है–यही धर्म है।

प्रत्येक द्रव्य भिन्न-भिन्न है; उस भिन्न-भिन्न द्रव्य के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य द्वारा उस–उस द्रव्य को सत्ता पहिचानी जाती है। एक द्रव्य के उत्पाद–द्रव्य–ध्रौव्य द्वारा दूसरे द्रव्य की सत्ता नही जानी जाती। शरीर मे रोटी नही आई उस परिणाम द्वारा पुद्गल द्रव्य की सत्ता जानो जाती है, किन्तु उसके द्वारा जीव के धर्मपरिणाम नही पहिचाने जा सकते। रोटी नही आई वहाँ पुद्गल द्रव्य ही अपनी परिणामधारा मे वर्तता हुआ उस परिणाम द्वारा लक्षित होता है और उस समय आत्मा अपने ज्ञानादि परिणामों द्वारा लक्षित होता है। जिस द्रव्य के जो परिणाम हों उनके द्वारा उस द्रव्य को पहिचानना चाहिए, उसके वदले एक द्रव्य के परिणाम दूसरे द्रव्य ने किये–ऐसा जो मानता है उसने वस्तु के परिणामस्वभाव को नही जाना अर्थात् सत् को ही नही जाना है। वस्तु सत् है और सत् का लक्ष उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य है, इसलिये वस्तु मे स्वभाव से ही प्रतिसमय उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य होते रहते हैं, तो दूसरा उसमे क्या करेगा ?—या तो ज्ञाता रहकर वीतरागभाव करेगा, या फेरफार करने का अभिमान करके मिथ्याभाव करेगा, किन्तु पदार्थ मे तो कुछ भी फेरफार नही कर सकता।

'जीव के व्रत करने के भावों के कारण द्वारिका नगरी जलने से बच गई, और कोई व्रत करनेवाला नही रहा इसलिये द्वारिका नगरी जल गई'—ऐसा जो मानता है उसे वस्तु के स्वभाव की खबर नही है। अथवा तो—किसी जीव के क्रोध के कारण द्वारिका नगरी जल गई—ऐसा भी नही है। द्वारिका नगरी का प्रत्येक पुद्गल अपने

परिणाम की धारा में वर्त रहा द्रव्य है। अपने प्रवाहक्रम मे अपने स्वकाल में उसके परिणाम हुए हैं। और व्रत या क्रोधादि जीव के परिणाम हुए उसमे वह जीवद्रव्य वर्तता है। समस्त द्रव्य अपने अपने परिणाम में भिन्न-भिन्न वर्तते है। उनमें एक के परिणाम के कारण दूसरे के परिणाम हों या रुकें—ऐसा माननेवाला मूढ है; भगवान कथित त्रिलक्षण वस्तुस्वभाव को उसने नही जाना है।

वस्तु प्रतिसमय अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को करेगी या पर के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य करने जायेगी ? परवस्तु भी अपने स्वभाव से ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाली है। वस्तु अपने वर्तमान परिणाम का उल्लंघन करके दूसरे के परिणाम करने जाये—ऐसा कभी नही हो सकता। निमित्त के बल से उपादान के परिणाम हो यह बात इसमें कहीं नही रहती। प्रत्येक वस्तु स्वय नित्य परिणामी स्वभाववाली है—'परिणमन करता हुआ-परिणमन करता हुआ हो नित्य' स्वभाव है। ऐसे स्वभाव में सदैव विद्यमान वस्तु स्वय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित है—ऐसा सानन्द मानना-अनुमोदन करना।

❀

अब, मोतियो के हार का दृष्टान्त देकर वस्तु के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य समझाते हैं:—

जिस प्रकार—'जिसने (अमुक) लम्बाई ग्रहण की है ऐसे लटकते हुए मोती के हार मे, अपने अपने स्थान में प्रकाशित समस्त मोतियों में, पीछे-पीछे के स्थानो मे पीछे-पीछे के मोती प्रगट होने से और पहले-पहले के मोती प्रगट न होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति का रचयिता डोरा अवस्थित होने से त्रिलक्षणपना प्रसिद्धि पाता है ..'

हार में एक-दो मोती नही हैं किन्तु अनेक मोतियों का हार है। और वह हार जैसा-तैसा नही पड़ा है किन्तु 'लटकता' हुआ लिया है। १०८ मोतियों का हार लिया जाये तो उसमें सभी मोती अपने

अपने स्थान में प्रकाशित हैं और पीछे–पीछे के स्थान में पीछे–पीछे का मोती प्रकाशित होता है, इसलिये उन मोतियो की अपेक्षा से हार का उत्पाद है। तथा एक के वाद दूसरे मोती को लक्ष मे लेने से पहले का मोती लक्ष मे से छूट जाता है इसलिये पहले का मोती दूसरे स्थान पर प्रकाशित नही होता इस अपेक्षा से हार का व्यय है। और सभी मोतियो मे परस्पर सम्बन्ध जोडनेवाला अखण्ड डोरा होने से हार ध्रौव्यरूप है।—इस प्रकार हार उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य ऐसे त्रिलक्षणवाला निश्चित् होता है। हार का प्रत्येक मोती अपने–अपने स्थान मे है; पहला मोती दूसरे नही होता, दूसरा मोती तीसरे नही होता। जो जहाँ है वहाँ वही है, पहले स्थान मे पहला मोती है, दूसरे स्थान मे दूसरा मोती है, और हार का अखण्ड डोरा सर्वत्र है। मोती की माला फेरते समय पीछे–पीछे का मोती अँगुली के स्पर्श से आता जाता है उस अपेक्षा से उत्पाद, पहले पहले का मोती छूटता जाता है उस अपेक्षा से व्यय, और माला के प्रवाहरूप से प्रत्येक मोती मे वर्तती हुई माला ध्रौव्य है। इसप्रकार उसमे उत्पाद व्यय-ध्रौव्यरूप त्रिलक्षणपना प्रसिद्धि पाता है। इस प्रकार दृष्टान्त कहा, अब सिद्धान्त कहते हैं :—

'मोती के हार की भाँति, जिसने नित्यवृत्ति ग्रहण की है ऐसे रचित (परिणमित) द्रव्य मे, अपने अपने अवसरो मे प्रकाशित होते हुए (प्रगट होते हुए) समस्त परिणामो मे, पीछे-पीछे के परिणाम प्रगट होने से और पहले पहले के परिणाम प्रगट न होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति रचयिता प्रवाह अवस्थित (–स्थायी) होने से त्रिलक्षणपना प्रसिद्धि पाता है।

दृष्टात में अमुक लम्बाईवाला हार था, सिद्धांत मे नित्यवृत्ति वाला द्रव्य है।

दृष्टात मे लटकता हार था, सिद्धात मे परिणमन करता हुआ द्रव्य है।

दृष्टान्त में मोतियों का अपना अपना स्थान था, सिद्धांत में परिणामों का अपना–अपना अवसर है।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव वाला संपूर्ण द्रव्य सत् है, उसमे कही फेरफार नही होता।—इस प्रकार सम्पूर्ण सत् लक्ष में आये बिना ज्ञान मे धैर्य नही होता। जिसे पर में कही फेरफार करने की बुद्धि है उसका ज्ञान अधीर-आकुल-व्याकुल है और सत् जानने से कही भी फेरफार की बुद्धि नही रही इसलिये ज्ञान धीर होकर अपने में स्थिर हुआ–ज्ञातारूप से रह गया। ऐसे का ऐसा संपूर्ण द्रव्य उत्पाद–व्यय-ध्रौव्यस्वभाव से सत् पडा है–इस प्रकार द्रव्य पर दृष्टि जाने से सम्यक्त्व का उत्पाद और मिथ्यात्व का व्यय हुआ; और तत्पश्चात् भी उस द्रव्य की सन्मुखता से क्रमशः वीतरागता की वृद्धि होती जाती है।—ऐसा धर्म है।

प्रत्येक द्रव्य नित्य–स्थायी है, नित्य–स्थायी द्रव्य लटकते हुए हार की भाँति सदैव परिणमित होता है; उसके परिणाम अपने–अपने अवसर मे प्रकाशित होते हैं। जिस प्रकार माला में मोतियों का क्रम निश्चित जमा हुआ है, माला फिराने से वह क्रम उल्टा–सीधा नही होता। उसी प्रकार द्रव्य के तीनकाल के परिणामों का निश्चित स्व-अवसर है, द्रव्य के तीनकाल के परिणामों का अपना-अपना जो अवसर है उस अवसर में ही वे होते हैं; आगे पीछे नही होते। ऐसा निश्चय करते ही ज्ञान मे वीतरागता होती है। यह निश्चित करने से अपना वीर्य पर से विमुख होकर द्रव्योन्मुख हो गया, पर्यायमूढता नष्ट हो गई, और द्रव्य की सन्मुखता से वीतरागता की उत्पत्ति होने लगी। सामनेवाले पदार्थ के परिणाम उसके अवसर के अनुसार और मेरे परिणाम मेरे अवसर के अनुसार,—ऐसा निश्चित किया इसलिये पर मे या स्व में कही भी परिणाम के फेरफार की बुद्धि न रहने से ज्ञान ज्ञान मे ही एकाग्रता को प्राप्त होता है। उसीको धर्म और मोक्षमार्ग कहते हैं।

एक ओर केवलज्ञान और सामने द्रव्य के तीनकाल के स्व-

अवसर मे होनेवाले समस्त परिणाम; इनमे फेरफार होना है ही नही। लोग भी 'हाथ पर आम नही उगते'—ऐसा कहकर वहाँ धैर्य रखने को कहते हैं; उसी प्रकार 'द्रव्य के परिणाम मे फेरफार नही होता'—ऐसी वस्तुस्थिति की प्रतीति करने से ज्ञान मे धैर्य आ जाता है। और जहाँ ज्ञान धीर होकर स्वोन्मुख होने लगा वहाँ मोक्षपर्याय होते देर नहीं लगती। इस प्रकार क्रमवद्धपर्याय की प्रतीति मे मोक्षमार्ग आ जाता है।

द्रव्य के समस्त परिणाम स्व-अवसर मे प्रकाशित होते हैं, यह सामान्यरूप से वात की, उसमे अव उत्पाद–व्यय ध्रौव्य को उतारते हैं। द्रव्य जव देखो तव वर्तमान परिणाम मे वर्तता है। वर्तमान में उस काल के जो परिणाम है उस काल मे वही प्रकाशित होते हैं—उनके पहले के परिणाम उस समय प्रकाशित नही होते। पहले परिणाम के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्ध करते समय 'वर्तमान परिणाम पूर्व परिणाम के व्ययरूप हैं'–ऐसा कहा था, और यहाँ द्रव्य के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य सिद्ध करने मे कथनशैली मे परिवर्तन करके ऐसा कहा कि 'वर्तमान परिणाम के समय पूर्व के परिणाम प्रगट नही होते,' इसलिये उन पूर्व परिणामों की अपेक्षा से द्रव्य व्ययरूप है। जिस परिणाम मे द्रव्य वर्त रहा हो उस परिणाम की अपेक्षा द्रव्य उत्पाद–रूप है, उसके पूर्व के परिणाम–जो कि इस समय प्रगट नही हैं—की अपेक्षा से द्रव्य व्ययरूप है, और समस्त परिणामो मे अखण्ड बहते हुए द्रव्य के प्रवाह की अपेक्षा से वह ध्रौव्यरूप है। इस प्रकार द्रव्य का त्रिलक्षणपना ज्ञान मे निश्चित् होता है। ऐसा ज्ञेयों का निर्णय करनेवाला ज्ञान स्व मे स्थिर होता है, उसका नाम 'तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शनम्' है।

मोतियों की माला लेकर जप कर रहा हो, उसमें पहले एक मोती अगुली के स्पर्श मे आता है और फिर वह छूटकर दूसरा मोती स्पर्श मे आता है, उस समय पहला मोती स्पर्श मे नही आता, इसलिये

पहले मोती के स्पर्श की अपेक्षा से माला का व्यय हुआ, दूसरे मोती के स्पर्श की अपेक्षा माला का उत्पाद हुआ, और 'माला' रूप से प्रवाह चालू रहा इसलिये माला ध्रौव्य रही। इस प्रकार एक के पश्चात् एक—क्रमशः होनेवाले परिणामों मे वर्तनेवाले द्रव्य में भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य समझना।

कोई कहे कि 'उत्पाद–व्यय तो पर्याय के ही होते है और द्रव्य तो ध्रौव्य ही है, उसमें परिणमन नही होता।' तो ऐसा नही है। द्रव्य एकान्त नित्य नही है किन्तु नित्य—अनित्यस्वरूप है, इसलिये परिणाम बदलने से उन परिणामों मे वर्तनेवाला द्रव्य भी परिणमित होता है। यदि परिणाम का उत्पाद होने से द्रव्य भी नवीन परिणाम-रूप से उत्पन्न होता हो तो द्रव्य भूतकाल में रह जायेगा अर्थात् वह वर्तमान–वर्तमानरूप नही वर्त सकेगा, और उसका अभाव ही हो जायेगा। इसलिये परिणाम का उत्पाद–व्यय होनेसे द्रव्य भी उत्पाद–व्ययरूप परिणमित होता ही है। द्रव्य के परिणमन के बिना परिणाम के उत्पाद–व्यय नहीं होगे और द्रव्य की अखण्ड ध्रौव्यता भी निश्चित् नही होगी; इसलिये द्रव्य उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाला ही है। 'पर्याय मे ही उत्पाद–व्यय हैं और द्रव्य तो ध्रौव्य ही रहता है, उसमे उत्पाद–व्यय होते ही नही'—ऐसा नही है। परिणाम के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य में प्रवर्तमान द्रव्य भी एक समय में त्रिलक्षणवाला है।

अहो! स्व या पर प्रत्येक द्रव्य के परिणाम अपने–अपने काल मे होते है। पर–द्रव्य के परिणाम उस द्रव्य के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य से होते हैं, और मेरे परिणाम मेरे द्रव्य में से क्रमानुसार होते हैं।—ऐसा निश्चित् करने से पर द्रव्य के ऊपर से दृष्टि हट गई और स्वोन्मुख हुआ। अब, स्व मे भी पर्याय पर से दृष्टि हट गई क्योंकि उस पर्याय मे से पर्याय प्रगट नही होती किन्तु द्रव्य में से पर्याय प्रगट होती है, इसलिये द्रव्य पर दृष्टि गई। उसे त्रिकाली सत् की प्रतीति हुई। ऐसी त्रिकाली सत् की प्रतीति होने से द्रव्य अपने परिणाम मे

स्वभाव की धारारूप वहता, और विभाव की धारा का नाश करता हुआ परिणमन करता है। इसलिये द्रव्य को त्रिलक्षण अनुमोदना।

पहले परिणाम के उत्पाद–व्यय ध्रौव्य की वात की थी, और यहाँ द्रव्य के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य को वात की है।

द्रव्य की सत्ता अर्थात् द्रव्य का अस्तित्व उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाला है। मात्र उत्पादरूप, व्ययरूप या ध्रौव्यरूप द्रव्य की सत्ता नही है, किन्तु उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य ऐसी तीन लक्षणवाली ही द्रव्य की सत्ता है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—ऐसी तीन पृथक्–पृथक् सत्तायें नही हैं किन्तु वे तीनो मिलकर एक सत्ता हैं।

पहले तो जो परिणाम उत्पन्न हुए वे अपनी अपेक्षा से उत्पादरूप, पूर्व की अपेक्षा से व्ययरूप और अखण्ड प्रवाह की अपेक्षा से ध्रौव्यरूप—ऐसी परिणाम की वात की थो; और यहाँ तो अव अन्तिम योगफल निकालकर द्रव्य मे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य उतारते हुए ऐसा कहा है कि द्रव्य मे पीछे–पीछे के परिणाम प्रगट होते हैं इससे द्रव्य का उत्पाद है, पहले–पहले के परिणाम उत्पन्न नही होते इसलिये द्रव्य व्ययरूप है, और सर्वपरिणामो मे अखण्डरूप से प्रवर्तमान होने से द्रव्य ही ध्रौव्य है। इस प्रकार द्रव्य को त्रिलक्षण अनुमोदना।

अहो ! समस्त द्रव्य अपने वर्तमान परिणामरूप से उत्पन्न होते हैं, पूर्व के परिणाम वर्तमान मे नही रहते इसलिये पूर्व परिणाम-रूप से व्यय को प्राप्त हैं और अखण्डरूप से समस्त परिणामों के प्रवाह मे द्रव्य ध्रौव्यरूप से वर्तते हैं। बस, उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप से वर्तते हुए द्रव्य टकोत्कीर्ण सत् है। ऐसे सत् मे कुछ भी आगे–पीछे नही होता। अपने ज्ञान मे ऐसे टकोत्कीर्ण सत् को स्वीकार करने से, फेर-फार करने की बुद्धि तथा 'ऐसा क्यो' ऐसी विस्मयता दूर हुई, उसी मे सम्यक्श्रद्धा और वीतरागता आ गई। इसलिये ज्ञायकपना मोक्ष का मार्ग हुआ।

यह 'वस्तुविज्ञान' कहा जा रहा है। पदार्थ का जैसा स्वभाव है वैसा ही उसका ज्ञान करना सो पदार्थविज्ञान है। ऐसे पदार्थविज्ञान के बिना कभो शांति नही होती। जहाँ, प्रत्येक वस्तु उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वभाववाली है–ऐसा जाना वहाँ वस्तु के भिन्नत्व की वाड़ बन्ध गई। मेरे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य में पर का अभाव है और पर के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य मे मेरा अभाव है, मेरे द्रव्य-गुण-पर्याय में मैं, और पर के द्रव्य-गुण-पर्याय मे पर—ऐसा निश्चित करने से पर के द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वामित्व छोड़कर स्वयं अपने द्रव्य-गुण-पर्याय का रक्षक हुआ। स्व-द्रव्योन्मुख होने से स्वयं अपने द्रव्य-गुण-पर्याय का रक्षक हुआ अर्थात् ध्रौव्य द्रव्य के आश्रय से निर्मल पर्याय का उत्पाद होने लगा, वही धर्म है। पहले, पर को मैं बदल दूँ—ऐसा मानता था तब पराश्रयबुद्धि से विकारभावों की ही उत्पत्ति होती थी और अपने द्रव्य-गुण-पर्याय की रक्षा नही करता था;—इसलिये वह अधर्म था।

आचार्यभगवान ने इस गाथा में सत् को उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त बतलाकर अद्भुत बात की है। वर्तमान-वर्तमान समय के परिणाम की यह बात है, क्योकि सम्पूर्ण द्रव्य वर्तमान परिणाम में साथ ही वर्त रहा है। [यहाँ पूज्य स्वामीजी का आशय यह समझाने का है कि परिणाम और द्रव्य दोनों साथ ही हैं। द्रव्य कभी भी परिणाम से रहित नही होता, परिणाम कभी भी द्रव्य से रहित नही होता। परिणाम इस समय हुए और द्रव्य गतकाल मे रह जाये ऐसा नही होता; और द्रव्य है किन्तु परिणाम नही है—ऐसा भी नही होता। इसलिये परिणाम और द्रव्य दोनो वर्तमान में साथ ही हैं–ऐसा समझना] द्रव्य मे स्वकाल में सदैव वर्तमान परिणाम होते हैं; जब देखो तब द्रव्य अपने वर्तमान परिणाम मे ही वर्त रहा है; ऐसे वर्तमान में प्रवर्तमान द्रव्य की प्रतीति सो वीतरागता का मूल है।

'परिणाम का स्व–अवसर' कहा वहाँ परिणाम का जो वर्तन है वही उसका अवसर है; अवसर और परिणाम दो पृथक् वस्तुयें

नहीं हैं। जिसका जो अवसर है उस समय वही परिणाम वर्तता है, उस परिणाम मे वर्तता हुआ द्रव्य उत्पादरूप है, उससे पूर्व के परिणाम में द्रव्य नही वर्तता इससे वह व्ययरूप है और सर्वत्र अखण्डपने की अपेक्षा से द्रव्य ध्रौव्य है। इस प्रकार उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप त्रिलक्षपना प्रसिद्धि पाता है।

जीव और अजीव समस्त द्रव्य और उनके अनादि–अनन्त परिणाम सत् हैं, वह सत् स्वयसिद्ध है, उसका कोई दूसरा रचयिता या परिणमन करानेवाला नही है। जिसप्रकार कोई द्रव्य अपना स्वरूप छोड़कर अन्यरूप नही होता, उसी प्रकार द्रव्य के कोई परिणाम भी आगे–पीछे नही होते। द्रव्य मे अपने काल मे प्रत्येक परिणाम उत्पन्न होता है, पूर्व के परिणाम उत्पन्न नही होते और द्रव्य अखण्ड धारारूप बना रहता है।—ऐसे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वभाववाले द्रव्य को जानने से, अपने ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति होती है, और उस ज्ञायकस्वभाव की सन्मुखता से भगवान आत्मा स्वभावधारा मे बहता है, विभावधारा से व्यय को प्राप्त होता है और उस प्रवाह मे स्वयं अखण्डरूप से ध्रुव रहता है; इस प्रकार वीतरागता होकर केवलज्ञान और मुक्ति होती है।

अहो! मुक्ति के कारणभूत ऐसा लोकोत्तर वस्तुविज्ञान समझानेवाले संतों को शत-शत वदन हो!

[गाथा ९९ टीका समाप्त]

भव्य श्रोताजनों को तत्कालबोधक भगवान श्री गुरुवाणी माता की जय हो!

❀

पदार्थ का परिणामस्वभाव

❀ प्रवचनसार गाथा ९९ भावार्थ ❀

'प्रत्येक द्रव्य सदैव स्वभाव में रहता है इसलिये 'सत्' है। वह स्वभाव उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वरूप परिणाम है।' प्रत्येक वस्तु तीनोकाल अपने स्वभाव में अर्थात् अपने परिणाम मे रहती है। सुवर्ण अपने कुण्डल, हार आदि परिणाम में वर्तता है; कुण्डल, हार आदि परिणामों से सुवर्ण पृथक् नहीं वर्तता। उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ अपने वर्तमान वर्तते हुए परिणाम में वर्तता है, अपने परिणाम से पृथक् कोई द्रव्य नही रहता। कोई भी पदार्थ अपने परिणामस्वभाव का उल्लंघन करके पर के परिणाम का स्पर्श नही करता, और परवस्तु उसके परिणाम का उल्लंघन करके अपने को स्पर्श नही करती। प्रत्येक वस्तु भिन्न–भिन्न अपने अपने परिणाम मे ही रहती है। आत्मा अपने ज्ञान या रागादि परिणाम मे स्थित है, किन्तु शरीर की अवस्था में आत्मा विद्यमान नही है। शरीर की अवस्था मे पुद्गल विद्यमान है। शरीर के अनन्त रजकणों में भी वास्तव मे प्रत्येक रजकण भिन्न-भिन्न अपनी अपनी अवस्था मे विद्यमान है। ऐसा वस्तुस्वभाव देखनेवाले को पर में कही भी एकत्वबुद्धि नहीं होती और पर्यायबुद्धि के राग–द्वेष नही होते।

आत्मा और प्रत्येक पदार्थ प्रतिसमय अपनी नई अवस्थारूप उत्पन्न–होता है, पुरानी अवस्थारूप से व्यय को प्राप्त होता है और अखण्ड वस्तुरूप से ध्रौव्य रहता है। प्रत्येक समय के परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित हैं—ऐसे परिणाम सो स्वभाव है और वस्तु स्वभाववान् है। स्वभाववान्–द्रव्य अपने परिणामस्वभाव में स्थित है। कोई भी वस्तु अपना स्वभाव छोड़कर दूसरे के स्वभाव में वर्ते अथवा तो दूसरे के स्वभाव को करे–ऐसा कभी नही होता। शरीर की अवस्थायें हैं वे पुद्गल के परिणाम हैं, उनमें पुद्गल वर्तते हैं, आत्मा

उनमें नही वर्तता; तथापि आत्मा उस शरीर की अवस्था में कुछ करता है— ऐसा जिसने माना उसकी मान्यता मिथ्या है। जिस प्रकार अफीम की कड़वाहट आदि के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यपरिणाम मे अफीम ही विद्यमान है, उसमे कही गुड़ विद्यमान नही है, और गुड के मिठास आदि के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यपरिणाम में गुड़ ही विद्यमान है, उसमे कहीं अफीम विद्यमान नही है। उसी प्रकार आत्मा के ज्ञान आदि के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यपरिणामस्वभाव मे आत्मा विद्यमान है, उनमें कही इन्द्रियाँ या शरीरादि विद्यमान नही है; इसलिये उनसे आत्मा ज्ञात नही होता और पुद्गल के शरीर आदि के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यपरिणामस्वभाव मे पुद्गल ही विद्यमान है, उनमे कही आत्मा विद्यमान नही है; इसलिये आत्मा शरीरादि की क्रिया नही करता। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ अपने अपने स्वभाव में ही विद्यमान है। बस, ऐसे पदार्थ के स्वभाव को जानना सो वीतरागी विज्ञान है, उसीमे धर्म आता है।

प्रत्येक पदार्थ की मर्यादा-सीमा अपने-अपने स्वभाव मे रहने की है; अपने स्वभाव की सीमा से बाहर निकलकर पर में कुछ करे— ऐसी किसी पदार्थ की शक्ति नही है।—ऐसी वस्तुस्थिति हो तभी प्रत्येक तत्त्व अपने स्वतंत्र अस्तित्वरूप से रह सकता है। यही बात अस्ति–नास्तिरूप अनेकान्त से कही जाये तो, प्रत्येक पदार्थ अपने स्वचतुष्टय से (द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव से) अस्तिरूप है, और पर के चतुष्टय से वह नास्तिरूप है। इस प्रकार प्रत्येक तत्त्व भिन्न–भिन्न स्थित है—ऐसा निश्चित् करने से स्वतत्त्व को परतत्त्व से भिन्न जाना, और अपने स्वभाव मे प्रवर्तमान स्वभाववान् द्रव्य की दृष्टि हुई, यही सम्यक्‌रुचि, सम्यक्‌ज्ञान और वीतरागता का कारण है।

जैसी वस्तु हो उसे वैसा ही जानना सो सम्यग्ज्ञान है। जिस प्रकार लौकिक मे गुड को गुड़ जाने और अफीम को अफीम जाने तो गुड़ और अफीम का सच्चा ज्ञान है, किन्तु यदि गुड़ को अफीम जाने

या अफीम को गुड़ जाने तो वह मिथ्याज्ञान है। उसी प्रकार जगत के पदार्थों में जड़–चेतन प्रत्येक पदार्थ स्वयं अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव से स्थित है—ऐसा जानना सो सम्यक्ज्ञान है, और एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ के कारण कुछ होता है—ऐसा माने तो वह मिथ्याज्ञान है; उसने पदार्थ के स्वभाव को जैसा है वैसा नहीं जाना, किन्तु विपरीत माना है।

आत्मा का 'ज्ञायक' स्वभाव है और पदार्थों का 'ज्ञेय' स्वभाव है; पदार्थों में फेरफार–आगेपीछे हो ऐसा उनका स्वभाव नही है; और उनके स्वभाव मे कुछ फेरफार करे ऐसा ज्ञान का स्वभाव नही है। जिस प्रकार आँख अफीम को अफीमरूप से और गुड को गुड़रूप से देखती है; किन्तु अफीम को बदलकर गुड नही बनाती और गुड को बदलकर अफीम नही बनाती; और वह अफीम भी अपना स्वभाव छोडकर गुड़रूप नहीं होती तथा गुड़ भी अपना स्वभाव छोडकर अफीमरूप नही होता। उसी प्रकार आत्मा का ज्ञानस्वभाव समस्त स्व–पर ज्ञेयों को यथावत् जानता है, किन्तु उनमे कही कुछ भी फेरफार नहीं करता। और ज्ञेय भी अपने स्वभाव को छोड़कर अन्यरूप नही होते। बस, ज्ञान और ज्ञेय के ऐसे स्वभाव की प्रतीति सो वीतरागी श्रद्धा है, ऐसा ज्ञान सो वीतरागी विज्ञान है।

स्वतंत्र ज्ञेयों को यथावत् जानना सो सम्यक्ज्ञान की क्रिया है। ज्ञान क्या कार्य करता है ?—जानने का कार्य करता है। इसके अतिरिक्त कही फेरफार करने का कार्य ज्ञान नही करता। प्रत्येक पदार्थ स्वयसिद्ध सत् है, और उसमे पर्यायधर्म है; वे पर्यायें उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वभाववाली हैं। इसलिये पदार्थ मे प्रतिसमय पर्याय के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य होते है उनमें वह पदार्थ वर्त रहा है। इस प्रकार स्वतंत्रता को न जाने तो उसने द्रव्य की स्वतंत्रता को भी नही जाना है; क्योंकि 'सत्' अपने परिणाम में वर्तता हुआ स्थित है। यदि वस्तु स्वयं स्थित रहने के लिये दूसरे के परिणाम का आश्रय माँगे तो वस्तु ही 'सत्'

नही रहती। 'सत्' का स्वभाव अपने ही परिणाम मे प्रवर्तन करने का है। सत् स्वयं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। सत् के अपने परिणाम का उत्पाद यदि दूसरे से होता हो तो वह स्वयं 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत्' ही नही रहता। इसलिये उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत् है—ऐसा मानते ही परिणाम की स्वतंत्रता की स्वीकृति तो आ ही गई। और, परिणाम परिणाम मे से नही, किन्तु परिणामी (द्रव्य) मे से आते हैं इसलिये उसकी दृष्टि परिणामी पर गई, वह स्व-द्रव्य के सन्मुख हुआ, स्व-द्रव्य की सन्मुखता मे सम्यक्-श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति होती है, वह मोक्ष का कारण है।

प्रश्न—सोना और ताँबा—दोनो का मिश्रण होने पर तो वे एक-दूसरे मे एकमेक हो गये हैं न ?

उत्तर—भाई ! वस्तुस्थिति को समझो। सोना और ताँबा कभी एकमेक होते ही नही। संयोगदृष्टि से सोना और ताँबा एकमेक हुए ऐसा कहा जाता है, किन्तु पदार्थ के स्वभाव की दृष्टि से तो सोना और ताँबा कभी एकमेक हुए ही नही हैं, क्योकि जो सोने के रजकण हैं वे अपने सुवर्ण-परिणाम मे ही वर्तते हैं और जो ताँबे के रजकण हैं वे अपने ताँबा-परिणाम मे ही वर्तते हैं, एक रजकण दूसरे रजकण के परिणाम मे नही वर्तता। सोने के दो रजकणो मे से भी उसका एक रजकण दूसरे मे नही वर्तता। यदि एक पदार्थ दूसरे मे और दूसरा तीसरे मे मिल जाये, तब तो जगत मे कोई स्वतत्र वस्तु ही न रहे। सोना और ताँबा 'मिश्र हुआ' ऐसा कहने से भी उन दोनो की भिन्नता ही सिद्ध होती है, क्योकि 'मिश्रण' दो का होता है, एक मे 'मिश्रण' नही कहलाता। इसलिये मिश्रण कहते ही पदार्थो का भिन्न-भिन्न अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

प्रत्येक वस्तु अपने स्वभावरूप से सत् रहती है, दूसरा कोई विपरीत माने तो उससे कही वस्तु का स्वभाव बदल नही जाता। कोई

अफीम को गुड़ माने तो इससे कही अफीम की कड़वाहट दूर नहीं हो जायेगी; अफीम को गुड़ मानकर खाये तो उसे कड़वाहट का ही अनुभव होगा। उसी प्रकार तत्त्व को जैसे का तैसा स्वतंत्र न मानकर पर के आधार से स्थित माने तो, कही वस्तु तो पराधीन नही हो जाती, किन्तु उसने सत् की विपरीत मान्यता की इसलिये उसका ज्ञान मिथ्या होता है; और उस मिथ्याज्ञान के फल में उसे चौरासी का अवतार होता है। कोई जीव पुण्य का शुभराग करके ऐसा माने कि मैं धर्म करता हूँ, तो कही उसे राग से धर्म नही होगा, किन्तु उसने वस्तुस्वरूप को विपरीत जाना है, इसलिये उस अज्ञान के फल में उसे चौरासी के अवतार मे परिभ्रमण करना पड़ेगा।

परिणाम स्वभाव है और स्वभाववान् द्रव्य है;—ऐसा जानकर स्वभाववान् द्रव्य की रुचि होते ही सम्यक्त्व का उत्पाद, उसी समय मिथ्यात्व का व्यय और अखण्डरूप से आत्मा की ध्रुवता है।

प्रत्येक वस्तु 'सत्' है; 'सत्' त्रिकाल स्वयंसिद्ध है। यदि सत् त्रिकाली न हो तो वह असत् सिद्ध होगा। किन्तु वस्तु कभी असत् नही होती। वस्तु त्रिकाल है इसलिये उसका कोई कर्ता नही है, क्योकि त्रिकाली का रचयिता नहीं होता। यदि रचयिता कहो तो उससे पूर्व वस्तु नही थी—ऐसा सिद्ध होगा, अर्थात् वस्तु का नित्यपना नही रहेगा। वस्तु त्रिकाल सत् है, और वह वस्तु परिणामस्वभाववाली है; त्रिकाली द्रव्य ही अपने तीनोंकाल के वर्तमान-वर्तमान परिणामों की रचना करता है, वे परिणाम भी स्व-अवसर मे सत् हैं, इसलिये उन परिणामो का रचयिता भी दूसरा कोई नहीं है। जिस प्रकार त्रिकाली द्रव्य का कर्ता कोई-ईश्वर आदि-नही है, उसी प्रकार उस त्रिकाली द्रव्यके वर्तमान परिणाम कर्ता का भी कोई दूसरा (निमित्त, कर्म या जीव आदि) नही है। अपने प्रत्येक समय के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य मे स्थित रहता है इसलिये द्रव्य सत् है। यदि द्रव्य दूसरे के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का अवलम्बन करे तो वह स्वयं सत् नही रह सकता। इसलिये जो जीव द्रव्य को यथार्थतया 'सत्'

जानता हो वह द्रव्य का या द्रव्य की किसी पर्याय का कर्ता दूसरे को नही मानता; द्रव्य का या द्रव्य को किसी पर्याय का कर्ता दूसरे को माने उस जीव ने वास्तव मे 'सत्' को नही जाना है।

अहो ! वस्तु के सत् स्वभाव को जाने बिना बाह्य क्रिया-काण्ड के लक्ष से अनन्तकाल विता दिया, किन्तु वस्तु का स्वभाव सत् है उसे नही जाना इसलिये जीव ससार मे परिभ्रमण कर रहा है।

वस्तु परिणाम मे परिणमन करती है, वह परिणाम से पृथक् नही रहती। प्रत्येक समय के परिणाम के समय सम्पूर्ण वस्तु साथ मे वर्त रही है—ऐसा जाने तो अपने को क्षणिक राग जितना मानकर उस समय सम्पूर्ण वस्तु रागरहित विद्यमान है—उसका विश्वास करे; इससे राग की रुचि का बल टूटकर सम्पूर्ण वस्तु पर रुचि का बल ढला, अर्थात् सम्यक्रुचि उत्पन्न हुई, राग और आत्मा का भेदज्ञान हुआ। मैं पर मे नही वर्तता, मेरे परिणाम मे पर वस्तु नही वर्तती, किन्तु मैं अपने परिणाम मे ही वर्तता हूँ;—इस प्रकार परिणाम और परिणामी की स्वतत्रता जानने से रुचि पर मे नही जाती, परिणाम पर भो नही रहती किन्तु परिणामी द्रव्य मे प्रविष्ट हो जाती है, अर्थात् सम्यक्रुचि होती है।

'वस्तु परिणाम में वर्तती है।' बस ! ऐसा निश्चित् करने मे पर्यायबुद्धि दूर होकर वस्तुदृष्टि हो जाती है; उसीमे वीतरागता विद्य-मान है। मेरी भविष्य की केवलज्ञानपर्यायमें भी यह द्रव्य ही वर्तेगा;—इसलिये भविष्य की केवलज्ञानपर्याय को देखना नही रहा, किन्तु द्रव्यसन्मुख ही देखना रहा। द्रव्य की सन्मुखता मे अल्पकाल मे केवलज्ञान हुए बिना नही रहता।

अहो ! मैं अपने परिणामस्वभाव में हूँ, परिणाम उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वरूप है, उसीमे आत्मद्रव्य वर्तता है—इस प्रकार स्व–वस्तु की दृष्टि होने से पर से लाभ-हानि मानने का मिथ्याभाव नही रहा, वहाँ सम्यग्ज्ञान पर्यायरूप से उत्पाद है, मिथ्याज्ञान पर्यायरूप से

व्यय है और ज्ञान में अखण्ड परिणामरूप से ध्रौव्यता है। इस प्रकार इसमें धर्म आता है।

'परिणामी के परिणाम हैं'—ऐसा न मानकर जिसने पर के कारण परिणामो को माना उसने परिणामी को दृष्टि मे नही लिया, किन्तु अपने परिणाम को पर करता है—ऐसा माना इसलिये स्व-पर को एक माना; इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है। परिणाम परिणामी के हैं—इस प्रकार परिणाम और परिणामी की रुचि में स्वद्रव्य की सम्यक् रुचि उत्पन्न होकर मिथ्यारुचि का नाश हो जाता है।

देखो, यह वस्तुस्थिति का वर्णन है। जैनदर्शन कोई वाड़ा या कल्पना नही है किन्तु वस्तुयें जिस स्वभाव से है वैसी सर्वज्ञ भगवान ने देखी है, और वही जैनदर्शन में कही है। जैनदर्शन कहो या वस्तु का स्वभाव कहो।—उसका ज्ञान कर तो तेरा ज्ञान सच्चा होगा और भव का परिभ्रमण दूर होगा। यदि वस्तु के स्वभाव को विपरीत मानेगा तो असत् वस्तु की मान्यता से तेरा ज्ञान मिथ्या होगा और परिभ्रमण का अंत नहीं आयेगा; क्योंकि मिथ्यात्व ही सबसे महान पाप माना गया है; वही अनन्त संसार का मूल है।

उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त परिणाम है वह स्वभाव है, और स्वभाव है वह स्वभाववान् के कारण है।—इस प्रकार स्वभाव और स्वभाववान् को दृष्टि में लेने से, पर के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य को मैं करूँ या मेरे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य को पर करे यह बात नही रहती, इसलिये स्वयं अपने स्वभाववान् की ओर उन्मुख होकर सम्यग्ज्ञान हो जाता है, उसीमें धर्म आ गया। लोगों ने बाह्य मे धर्म मान रखा है, किन्तु वस्तुस्थिति अतर की है। लोगों के माने हुए धर्म मे और वस्तुस्थिति मे पूर्व—पश्चिम दिशा जितना अंतर है।

'वस्तु' उसे कहते है जो अपने गुण–पर्याय मे वास करे, अपने गुण–पर्याय से बाहर वस्तु कुछ नही करती, और न वस्तु के गुण-पर्याय को कोई दूसरा करता है। ऐसे भिन्न-भिन्न तत्त्वार्थ का श्रद्धान

सो सम्यग्दर्शन है। प्रथम सम्यग्दर्शन होता है, तत्पश्चात् श्रावक और मुनि के व्रतादि होते हैं। सम्यग्दर्शन के बिना व्रतादि माने वह तो 'राख पर लीपन' मानना है। आत्मा की प्रतीति हुए बिना कहाँ रहकर व्रतादि करेगा ?

जिस प्रकार गाडी के नीचे चलने वाला कुत्ता मानता है कि—गाड़ी मेरे कारण चल रही है; किन्तु गाड़ी के परिणाम में उसका प्रत्येक परमाणु वर्त रहा है, और कुत्ते के रागादि परिणाम मे कुत्ता है, गाड़ी और कुत्ता—कोई एक-दूसरे के परिणाम मे नही वर्तते। तथापि कुत्ता व्यर्थ मानता है कि 'मुझसे गाडी चल रही है।' उसी प्रकार पर वस्तु के परिणाम स्वय उसके अपने से होते है, उसे देखकर अज्ञानी जीव व्यर्थ ही ऐसा मानता है कि पर के परिणाम मुझसे होते हैं। किन्तु ऐसा नही होता। प्रत्येक तत्त्व के परिणाम सत् है, उसमे कोई दूसरा क्या करेगा ? ऐसा स्वतत्र वस्तु का स्वभाव है, वही सर्वज्ञ भगवान ने ज्ञान में देखा है। कही भगवान ने देखा इसलिये वस्तु का ऐसा स्वभाव है—ऐसा नही है, और ऐसा वस्तु का स्वभाव है इसलिये भगवान को उसका ज्ञान हुआ ऐसा भी नही है। ज्ञेय वस्तु का स्वभाव सत् है, और ज्ञान भी सत् है। प्रथम ऐसे सत्स्वभाव को समझो ! जो ऐसे स्वभाव को समझ ले उसीने वस्तु को वस्तुरूप से जाना है—ऐसा कहा जाये।

कर्म—परिणाम मे पुद्गल वर्तते हैं और आत्मा के परिणाम में आत्मा वर्तता है; कोई एक-दूसरे के परिणाम मे नही वर्तते, इसलिये कर्म आत्मा को परिभ्रमण नही कराते। अपने स्वतंत्र परिणाम को न जानकर, कर्म मुझे परिभ्रमण कराते हैं—ऐसा माना है उस विपरीत मान्यता से ही जीव भटक रहा है, किन्तु कर्मों ने उसे नही भटकाया। उस परिभ्रमण के परिणाम मे आत्मा वर्त रहा है। प्रतिसमय उत्पाद—व्यय—ध्रौव्य होने का प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है—यह समझे तो परिणामी द्रव्य पर दृष्टि जाती है, और द्रव्यदृष्टि मे सम्यक्त्व और वीतरागता का उत्पाद होता है, वह धर्म है।

यदि द्रव्य के एकसमय का सत् दूसरे से हो तो उस द्रव्य का वर्तमान सत्पना नहीं रहता; और वर्तमान सत् का नाश होने से त्रिकाली सत् का भी नाश हो जाता है अर्थात् वर्तमान परिणाम को स्वतंत्र सत् माने बिना त्रिकाली द्रव्य का सत्पना सिद्ध नही होता; इसलिये द्रव्य का वर्तमान दूसरे से (–निमित्त से) होता है—इस मान्यता में मिथ्यात्व होता है, उसमें सत् का स्वीकार नही आता। सत् का तो नाश नही होता किन्तु जिसने सत् को विपरीत माना है उसकी मान्यता में सत् का अभाव होता है। त्रिकाली सत् स्वतंत्र, किसी के बनाये बिना है, और प्रत्येक समय का वर्तमान सत् भी स्वतंत्र किसी के बनाये बिना है। ऐसे स्वतंत्र सत् को विपरीत–पराधीन मानना सो मिथ्यात्व है, वही महान अधर्म है। लोग काला बाजार आदि मे तो अधर्म मानते हैं, किन्तु विपरीत मान्यता से सम्पूर्ण वस्तुस्वरूप का घात कर डालते हैं उस विपरीत मान्यता के पाप की खबर नही है। मिथ्यात्व तो धर्म का महान काला बजार है, उस काले बजार से चौरासी के अवतार की जेल है। सत को जैसे का तैसा माने तो मिथ्यात्वरूपी काले बजार का महान पाप दूर हो जाये और सच्चा धर्म हो। इसलिये सर्वज्ञदेव कथित वस्तुस्वभाव को बराबर समझना चाहिये।

❀

अहो ! वीतरागी तात्पर्य

प्रत्येक द्रव्य सदैव स्वभाव मे रहता है इसलिये वह 'सत्' है। वस्तु अपने परिणाम मे वर्तमान रहती हो तभी सत् रहे न? यदि वर्तमान परिणाम मे न रहती हो तो वस्तु 'सत्' किस प्रकार रहे ? उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाला परिणाम वह वस्तु का स्वभाव है, और उस वर्तमान परिणाम में वस्तु निरंतर वर्त रही है, इससे वह सत् है।

आत्मा का क्षेत्र असंख्यप्रदेशी एक है, और उस क्षेत्र का छोटे से छोटा अंश सो प्रदेश है। उसी प्रकार संपूर्ण द्रव्य की प्रवाहधारा एक है, और उस प्रवाहधारा का छोटे से छोटा अंश सो परिणाम है।

क्षेत्र अपेक्षा से द्रव्य का सूक्ष्म अंश सो प्रदेश है।

काल अपेक्षा से द्रव्य का सूक्ष्म अंश सो परिणाम है।

यह तो ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि कराने के लिये वर्णन है। परिणाम परिणामी मे से आता है,—ऐसे परिणामी द्रव्य की दृष्टि कर तो उस परिणामी के आश्रय से सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रपरिणाम उत्पन्न हो, स्थिर रहे और बढकर पूर्ण हो।

प्रत्येक परिणाम अपने स्वकाल मे उत्पन्न होता है, पूर्व परिणाम से व्ययरूप है और अखण्डप्रवाह मे वह ध्रौव्य है। केवलज्ञान–परिणाम अपने स्वरूप की अपेक्षा से स्वकाल मे उत्पादरूप है, पूर्व की अल्पज्ञ पर्याय अपेक्षा से वह व्ययरूप है, और द्रव्य के अखण्डप्रवाह मे तो वह केवलज्ञानपरिणाम ध्रौव्य है; इस प्रकार समस्त परिणाम अपने–अपने वर्तमान काल मे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाले हैं, और उन–उन वर्तमान परिणामो मे वस्तु वर्त रही है, अर्थात् वस्तु वर्तमान में ही पूर्ण है। ऐसी वस्तु की दृष्टि कर तो उसके आश्रय से धर्म होता है। ज्ञानी केवलज्ञान पर्याय के काल को नही ढूंढते (उस पर दृष्टि नही रखते), क्योकि वह पर्याय इस समय तो सत् नही है, किन्तु भविष्य मे अपने स्वकाल मे वह सत् है; इसलिये ज्ञानी तो वर्तमान मे सत्–ऐसे ध्रुव द्रव्य को ही ढूंढते है–(ध्रुव पर दृष्टि रखते हैं।) इस अपेक्षा से नियमसार मे उदय–उपशम–क्षयोपशम और क्षायिक—इन चारो भावो को विभावभाव कहा है। जो पर्याय वर्तमान उत्पाद-रूप से वर्तती है वह तो अश है, केवलज्ञान पर्याय भी अंश है,—वह वर्तमान प्रगट नही है और भविष्य मे प्रगट होगी—इस प्रकार परिणाम के काल पर देखना नही रहता किन्तु वर्तमान परिणाम के समय ध्रुवरूप से संपूर्ण द्रव्य वर्त रहा है उस द्रव्य की प्रतीति करना इसमे आता है, द्रव्य की दृष्टि होने मे वीतरागता होती है। शास्त्रो का तात्पर्य वीतरागता है; वीतरागता को तात्पर्य कहने से स्वभाव की दृष्टि करने का ही तात्पर्य है—ऐसा आया; क्योकि वीतरागता तो स्वभाव की दृष्टि से होती है। अंतर मे द्रव्यस्वभाव पर लक्ष रहने से वीतरा-

गता हो जाती है; इससे ध्रुव द्रव्यस्वभाव की दृष्टि ही सर्वस्व कार्यकर हुई। पर्याय को ढूंढना नही रहा अर्थात् पर्याय की दृष्टि नहीं रही। ध्रुवस्वभाव की दृष्टि रखकर पर्याय का ज्ञाता रहा, उसमें वीतरागता होती जाती है।

वीतरागता ही तात्पर्य है, किन्तु वह वीतरागता कैसे हो? वीतरागपर्याय को शोधने से (उस पर्याय सन्मुख देखने से) वीतरागता नही होती किन्तु ध्रुवतत्त्व के आश्रय मे रहने से पर्याय में वीतरागता रूप तात्पर्य हो जाता है। इस प्रकार द्रव्य पर दृष्टि होने में ही तात्पर्य आ जाता है। इसलिये, शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागता है—ऐसा कहो, या शास्त्र का तात्पर्य स्वभावदृष्टि है—ऐसा कहो, दोनों एक ही हैं। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि:—

'जिनपद निजपद एकता, भेदभाव नहि कांई;
लक्ष थवाने तेहनो कह्यां शास्त्र सुखदाई।'

जैसा भगवान का आत्मा, वैसा ही अपना आत्मा, उसके स्वभाव में कोई भेद नही है। ऐसे स्वभाव का लक्ष करना ही शास्त्रों का सार है।

यहाँ परिणामों के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य की बात चल रही है, उसमे से वीतरागी तात्पर्य किस प्रकार निकलता है वह बतलाया है। परिणामों की ध्रौव्यता तो अखण्डप्रवाह अपेक्षा से है। अब, परिणामों का प्रवाहक्रम एक साथ तो वर्तता नही है, इसलिये परिणामों की ध्रौव्यता निश्चित करते हुए ध्रुवस्वभाव पर दृष्टि जाती है। ध्रुवस्वभाव की दृष्टि बिना परिणाम के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य निश्चित् नही हो सकते। परिणाम को ध्रौव्य कब कहा?—परिणामों के सम्पूर्ण प्रवाह की अपेक्षा से उसे ध्रौव्य कहा है; सम्पूर्ण प्रवाह एक समय में प्रगट नही हो जाता इसलिये परिणाम की ध्रौव्यता निश्चित करनेवाले की दृष्टि एक–एक परिणाम के ऊपर से हटकर ध्रुव द्रव्य पर गई। परिणाम के ऊपर की दृष्टि से (पर्यायदृष्टि से) परिणाम की ध्रौव्यता

निश्चित नहीं होती। परिणामो का अखण्ड प्रवाह कही एक ही परिणाम मे तो नही है, इसलिये अखण्ड की—त्रिकाली ध्रौव्य की—ध्रुवस्वभाव की दृष्टि हुए विना परिणाम के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य भी ख्याल मे नही आ सकते।

वस्तु एक समय मे पूर्ण है; उसके परिणाम में उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यपना है। वह उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यपना निश्चित करने से द्रव्य पर ही दृष्टि जाती है। वर्तमानपरिणाम से उत्पाद है, पूर्वपरिणाम से व्यय है, और अखण्डप्रवाह की अपेक्षा से ध्रौव्य है। इसलिये अखण्डप्रवाह की दृष्टि मे ही ध्रुवस्वभाव पर दृष्टि गई, और तभी परिणाम के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य निश्चित् हुए।

इसमे पुरुषार्थ कहाँ काम करता है?—ऐसा निश्चित् किया वहाँ पुरुषार्थ द्रव्यसन्मुख ही कार्य करने लगा, और वीतरागता ही होने लगी। परिणाम अपने स्वकाल मे होते हैं वे तो होते ही रहते हैं; किन्तु वैसा निश्चित करनेवाले की दृष्टि ध्रुव पर पड़ी है। ध्रौव्य–दृष्टि हुए विना यह बात नही जम सकती।

इस ज्ञेय–अधिकार मे मात्र पर-प्रकाशक की बात नहीं है परन्तु स्वसन्मुख स्वप्रकाशकपना सहित परप्रकाशक की वात है। जहाँ अपने ध्रुवस्वभाव की सन्मुखता मे स्वप्रकाशक हुआ वहाँ सम्पूर्ण जगत के समस्त पदार्थ भी, ऐसे ही हैं—ऐसा पर-प्रकाशकपना ज्ञान मे विकसित हो ही जाता है। द्रव्य भी उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक है। वे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य कब निश्चित होते हैं? ज्ञायक चैतन्यद्रव्य की रुचि तथा उस ओर उन्मुखता होने से सब निश्चित हो जाता है, जिस प्रकार स्व के ज्ञानसहित ही परका सच्चा ज्ञान होता है, उसी प्रकार ध्रुव की दृष्टि से ही उत्पाद–व्यय का सच्चा ज्ञान होता है।

वस्तुस्वरूप ऐसा है कि कही पर के ऊपर तो देखना नही है; और मात्र अपनी पर्यायसन्मुख भी देखना नही है, विकल्प को दूर करके निर्विकल्पता करूँ—ऐसे लक्ष से निर्विकल्पता नही होती किन्तु ध्रुव के लक्ष से निर्विकल्पता हो जाती है। इसलिये पर्याय के उत्पाद–

व्यय के सन्मुख भी देखना नहीं है। पर्यायों के प्रवाहक्रम में द्रव्य वर्त रहा है। किस पर्याय के समय सम्पूर्ण द्रव्य नही है ?—जब देखो तब द्रव्य वर्तमान में परिपूर्ण है; ऐसे द्रव्य की सन्मुखता होने से प्रवाहक्रम निश्चित होता है। फिर उस प्रवाह का क्रम बदलने की बुद्धि नही रहती, किन्तु ज्ञातापने का ही अभिप्राय रहता है। वहाँ वह प्रवाहक्रम ऐसे का ऐसा रह जाता है और द्रव्यदृष्टि हो जाती है। उस द्रव्यदृष्टि में क्रमशः वीतरागी परिणामों का ही प्रवाह निकलता रहेगा। ऐसा इस ९९ वीं गाथा का सार है।

अहो ! अपार वस्तु है; केवलज्ञान का कोठार भरा है। इसमें से जितना रहस्य निकालो उतना निकल सकता है। भीतर दृष्टि करे तो पार आ सकता है।

अहो ! आचार्यभगवान ने अमृत के ढक्कन खोल दिये है,—अमृत का प्रवाह बहा दिया है।

(१) सामान्य में से विशेष होता है ऐसा कहो,

(२) वस्तु उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त है ऐसा कहो, अथवा

(३) द्रव्य मे से क्रमबद्धपर्याय की प्रवाहधारा बहती है, ऐसा कहो; इसका निर्णय करने मे ध्रुवस्वभाव पर ही दृष्टि जाती है। ध्रुवस्वभाव की रुचि मे ही सम्यक्त्व और वीतरागता होती है। यह तो अंतर रुचि की और अंतरदृष्टि की वस्तु है, मात्र शास्त्र की, पंडिताई की यह वस्तु नही है।

यह, वस्तु के समय–समय के परिणाम मे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य की सूक्ष्म बात है। कुंभार घड़ा नही बनाता और कर्म जीव को विकार नही कराते—यह तो ठीक, किन्तु यह तो उससे भी सूक्ष्म बात है। सर्वज्ञता में ज्ञात हुआ वस्तुस्वभाव का एकदम सूक्ष्म नियम यहाँ बतला दिया है। मिट्टी स्वयं पिण्डदशा का नाश होकर घटपर्याय रूप उत्पन्न होती है और मिट्टीपने के प्रवाह की अपेक्षा वह ध्रौव्य है; उसी प्रकार समस्त पदार्थ उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वभाववाले हैं।—

ऐसा उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वभाव समझने से अपने को पर–सन्मुख देखना नही रहता, क्योकि पर के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य को स्वयं नही करता और अपने उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य पर से नही होते, इसलिये अपने उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य के लिये कही परसन्मुख देखना नहीं रहता किन्तु स्वसन्मुख देखना ही रहता है। अब, स्वयं अपने परिणामो को देखते हुए ज्ञान अंतर में परिणामी स्वभाव को ओर उन्मुख होता है, और उस परिणामी के आधार से वीतरागी परिणाम का प्रवाह निकलता रहता है। इस प्रकार ध्रुव के आश्रय से वीतरागी परिणाम का प्रवाह निकलता रहता है।—उसकी यह बात है!

'आत्मा दूसरे का कुछ नही कर सकता।'—ऐसा कहते ही अन्य किसी के सन्मुख देखना नही रहता, किन्तु स्वसन्मुख देखना आता है। अपने मे अपने परिणाम अपने से होते हैं—ऐसा निश्चित करने पर अतर मे जहाँ से परिणाम की धारा बहती है ऐसे ध्रुव द्रव्य–सन्मुख देखना रहा। और ध्रुव-सन्मुख देखते ही (ध्रुवस्वभाव की दृष्टि होते ही) सम्यक्पर्याय का उत्पाद होता है। यदि ध्रुव-सन्मुख न देखे तो पर्यायदृष्टि मे मिथ्यापर्याय का उत्पाद होता है। इसलिये वस्तु के ऐसे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वभाव को समझने से ध्रुवस्वभाव की दृष्टि से सम्यक् वीतराग पर्यायो का उत्पाद हो–यही सर्व कथन का तात्पर्य है।

चैतन्यतत्त्व की महिमा और दुर्लभता

अहो, आत्मा के शुद्ध स्वभाव की अत्यन्त महिमावाली बात जीवो ने यथार्थरूप से कभी नही सुनी। इस समय चैतन्य-तत्त्व की महिमा की बात सुनने को मिलना भी अति दुर्लभ हो गया है। जो जीव अति जिज्ञासु और अत्यन्त योग्य होकर आत्मस्वभाव की यह बात सुने उसका कल्याण हो सकता है।

—प्रवचन मे से

आत्मा कौन है और
कैसे प्राप्त होता है ?

प्रवचनसार के परिशिष्ट में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन किया है, उसपर पूज्य गुरुदेव के विशिष्ट अपूर्व प्रवचन का सार

* 'प्रभो ! यह आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त किया जाता है ?' —ऐसा जिज्ञासु शिष्य पूछता है ।

* उसके उत्तर में श्री आचार्यदेव कहते हैं कि 'आत्मा अनंत धर्मोंवाला एक द्रव्य है और अनन्तनयात्मक श्रुतज्ञान प्रमाण पूर्वक स्वानुभव द्वारा वह ज्ञात होता है ।

* उस आत्मद्रव्य का ४७ नयो से वर्णन किया है, उसमें से २५ नयो पर के प्रवचन अभीतक आ गये हैं; उसके आगे यहाँ दिये जा रहे हैं ।

(२६) नियतनय से आत्मा का वर्णन

अनन्तधर्मवाला चैतन्यमूर्ति आत्मा प्रमाणज्ञान से ज्ञात होता है; उसका २५ नयों से अनेक प्रकार से वर्णन किया है। अब नियति, स्वभाव, काल, पुरुषार्थ और देव—इन पाँच बोलों का वर्णन करते हैं; उनमे प्रथम नियतिनय से आत्मा कैसा है वह कहते है ।

आत्मद्रव्य नियतनय से नियतस्वभावरूप भासित होता है; जिस प्रकार उष्णता वह अग्नि का नियत स्वभाव है उसी प्रकार नियतिनय से आत्मा भी अपने नियतस्वभाववाला भासित होता है। आत्मा के त्रिकाल एकरूप स्वभाव को यहाँ नियतस्वभाव कहा है; उस स्वभाव को देखनेवाले नियतनय से जब देखो तब आत्मा अपने चैतन्यस्वभावरूप से एकरूप भासित होता है। पर्याय मे कभी तीव्र-राग, कभी मदराग और कभी रागरहितपना, और कभी राग बदल-

कर द्वेष, कभी मतिज्ञान और कभी केवलज्ञान, एक क्षण मनुष्य और दूसरे क्षण देव—इसतरह अनेक प्रकार होते हैं—उनका वर्णन आगे आनेवाले बोल मे आत्मा के अनियत स्वभावरूप से करेंगे। यहाँ आत्मा के नियतस्वभाव की बात है। जैसा शुद्ध चैतन्य ज्ञानानन्दस्वभाव है वैसे ही नियतस्वभावरूप से आत्मा सदैव प्रतिभासित होता है; पर्याय अल्प हो या अधिक हो, विकारी हो या निर्मल हो, परन्तु नियतस्वभाव से तो आत्मा सदैव एकरूप है। ऐसे नियतस्वभाव को जो देखता है उसे अकेली पर्यायबुद्धि नही रहेगी किन्तु द्रव्यस्वभाव का अवलम्बन होगा। पर्यायबुद्धिवाला जीव आत्मा को एकरूप नियतस्वभाव से नही देख सकता और न उसके नियतनय होता है।

यहाँ द्रव्य के त्रिकाली स्वभाव को ही नियत कहा है, जिस प्रकार उष्णता वह अग्नि का नियतस्वभाव है, अग्नि सदैव उष्ण ही होती है, ऐसा कभी नही हो सकता कि अग्नि उष्णतारहित हो। उसी प्रकार चैतन्यपना आत्मा का नियत स्वभाव है, उस स्वभाव से जब देखो तब आत्मा एकरूप चैतन्यस्वरूपमय ज्ञात होता है। यद्यपि पर्याय मे भी नियतपना अर्थात् क्रमबद्धपना है, जिस समय जिस पर्याय का होना नियत है वही होती है, उसके क्रम मे परिवर्तन नही होता—ऐसा पर्याय का नियत स्वभाव है, परन्तु इस समय यहाँ उसकी बात नही है, यहाँ तो निमित्त की अपेक्षारहित आत्मा का जो त्रिकाल एकरूप रहनेवाला स्वाभाविक धर्म है उसका नाम नियतस्वभाव है और वह नियतनय का विषय है।

जिस प्रकार अग्नि का उष्णस्वभाव है वह नियत ही है,—निश्चित ही है, अग्नि सदैव उष्ण ही होती है। उसी प्रकार आत्मा का चैतन्यस्वभाव नियत–निश्चित–सदैव एकरूप है; नियतस्वभाव से आत्मा अनादि–अनन्त एकरूप नियत परम पारिणामिक–स्वभावरूप ही भासित होता है; बध–मोक्ष के भेद भी उसमे दिखाई नही देते। बन्ध और मोक्ष की पर्यायें नियत अर्थात् स्थायी एकरूप नहीं है परन्तु अनियत है। उदय–उपशम–क्षयोपशम या क्षायिक—यह चारों

भाव भी अनियत हैं; परमपारिणामिक—स्वभाव ही नियत है। आत्मा का सहज निरपेक्ष शुद्ध स्वभाव ही नियत है। नियतनय आत्मा को सदैव ज्ञायक स्वभावरूप ही देखता है। आत्मा का ज्ञायक स्वभाव है वह नियत—निश्चित हुआ अनादि—अनन्त स्वभाव है; उसमें कभी परिवर्तन नही हो सकता। आत्मा के ऐसे स्वभाव को जाननेवाला जीव पर्याय के अनेक प्रकारों को भी जानता है, तथापि उसे पर्याय-बुद्धि नही होती। आत्मा के नियत एकरूपध्रुव स्वभाव को जानने से उसीका आश्रय होता है; इसके अतिरिक्त किसी निमित्त, विकल्प या पर्याय के आश्रय की मान्यता उसे नहीं रहती। इस प्रकार प्रत्येक नय से शुद्ध आत्मा की ही साधना होती है। जो जीव अन्तरंग मे शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को नही देखता उसके एक भी सच्चा नय नही होता।

जैसे कोई कहे कि—ऐसा नियम बनाओ जिसमें कभी परिवर्तन न हो। उसी प्रकार यह नियतनय आत्मा के स्वभाव का ऐसा नियम बाँधता है कि जो कभी पलट न सके, आत्मा का नियम क्या है?—कि अपने शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव से त्रिकाल रहना ही उसका नियम है; अपने ज्ञानानन्दस्वभाव को वह कभी नही छोडता। जो आत्मस्वभाव के ऐसे नियम को जानता है वह नियम से मुक्ति प्राप्त करता है।

देखो, यह आत्मस्वभाव के गीत! संतो के अन्तर् अनुभव में से यह झन्कार उठी है कि अरे जीव! तूने अपने नियत परमानन्द-स्वभाव को कभी छोड़ा नही है; तेरा सहज ज्ञान और आनन्द स्वभाव तुझमें नियत है; तू सदैव अनाकुल शात रस का कुण्ड है; यदि अग्नि कभी अपनी उष्णता को छोड़ दे तो भगवान् आत्मा अपने पवित्र चैतन्यस्वभाव को छोडे! परन्तु ऐसा कभी नही होता। केवलज्ञान और परम आनन्द प्रगट होने के सामर्थ्य से सदैव परिपूर्ण ऐसा तेरा नियत स्वभाव है; उस स्वभाव के अवलम्बन से ही धर्म प्रगट होता है, इसके अतिरिक्त कही बाह्य से धर्म नही आता। एक

बार अन्तर में अपने ऐसे नियत स्वभाव को देख !

नियतनय से देखने पर पवित्रता का पिण्ड आत्मा स्वयं चैतन्यस्वभाव से नियत ज्ञात होता है—ऐसा उसका धर्म है। यह धर्म आत्मा को सदैव अपने परम शुद्ध अमृत रस मे डुबा रखता है; अपने शांत उपशम रस मे स्थिर—नियत रखता है। नरक मे या स्वर्ग में; अज्ञानदशा के समय या साधकदशा के समय, निगोद मे था तब या सिद्धदशा मे होगा तब—कभी भी वह अपने स्वभाव को बदलकर अन्यरूप नही हो जाता—ऐसा आत्मा का नियतस्वभाव है। जो ऐसे नियतस्वभाव को जाने उसके पर्याय मे भी ऐसा ही नियत होता है कि अल्पकाल मे मुक्ति प्राप्त करे।

एक ओर देखने से अनुकूलता मे राग और फिर वह बदलकर प्रतिकूलता मे द्वेष—इस प्रकार आत्मा अनियतस्वभाव से लक्ष मे आता है, और दूसरी ओर से देखने पर तीन लोक की चाहे जैसी प्रतिकूलता आ पडे तथापि आत्मा कभी अपने स्वभाव को नही छोड़ता—ऐसा उसका नियतस्वभाव है।—इस प्रकार दोनो स्वभावों से जो आत्मा को जानता है उसे ध्रुव एकरूप स्वभाव की महिमा आकर उसमे अन्तरोन्मुखता हुए बिना नही रहेगी।

जिस प्रकार, अग्नि मे उष्णता न हो ऐसा कभी नहीं हो सकता; उसी प्रकार आत्मा का ज्ञानानन्द स्वभाव अनादि-अनत एकरूप है उसका नाम नियतस्वभाव है। अग्नि का स्वभाव ऐसा नियत है कि उसमे उष्णता होती ही है; उसी प्रकार आत्मा मे ऐसा नियत धर्म है कि अपने शुद्धचैतन्यस्वभाव से वह कभी पृथक् नही होता। आत्मा का त्रिकाली स्वभाव अनंत सहजानद की मूर्ति है, उस स्वभाव को देखनेवाले ज्ञानी जीव ऐसा नही मानते कि, किन्ही अनुकूल निमित्तो से मेरा स्वभाव नवीन उत्पन्न होता है अथवा प्रतिकूल निमित्तो से मेरा स्वभाव नष्ट हो जाता है या उसमे परिवर्तन हो जाता है। इसलिये उन ज्ञानियो को चाहे जैसे अनुकूल–प्रतिकूल प्रसगो मे भी अनन्तानुबन्धी राग–द्वेष होते ही नही। वे जानते हैं कि हमारा आत्मा त्रिकाल चैतन्य

ज्ञायकरूप से नियत है; हमें अपने ज्ञायकस्वभाव से छुड़ाने की किन्हीं संयोगो की तो शक्ति नही है, और पर्याय के क्षणिक विकार में भी ऐसी शक्ति नही है कि हमें अपने स्वभाव से पृथक् कर दे। जिस प्रकार लोग नियम लेते है कि हम अमुक वस्तु नही खाएँगे; उसी प्रकार आत्मा के नियतस्वभाव का ऐसा नियम है कि तीनकाल में कभी भी अपने चैतन्यस्वभाव को छोड़कर विभावरूप नही होना। जो घड़ी-घड़ी मे बदले उसे नियम नही कहा जाता।

देखो, यह काहे की बात चल रही है ? यह भगवान आत्मा के गीत गाए जा रहे है; आत्मा में जो धर्म हैं उनकी यह महिमा गायी जा रही है। अज्ञानी को अनादिकाल से अपने स्वभाव की महिमा नही रुचती और वह पर की महिमा करता है। जहाँ उच्चप्रकार के हीरे-जवाहिरात या आभूषणों की महिमा सुनता है वहाँ उनकी महिमा आ जाती है; परन्तु आत्मा स्वयं तीनलोक का प्रकाशक चैतन्य हीरा है उसके स्वभाव की महिमा गायी जा रही है, उसे सुनने में अज्ञानी को रुचि या उत्साह नही आता। यहाँ तो जिसे आत्मा का स्वभाव समझने की जिज्ञासा जागृत हुई है उसे आचार्यदेव समझाते है। आत्मा का शुद्ध-स्वभाव त्रिकाल नियमित है; उसी के आधार से पर्याय में शुद्धता प्रगट होती है; इसके अतिरिक्त कही बाह्य मे से, विकार में से या क्षणिक पर्याय मे से शुद्ध पर्याय नही आती। भगवान आत्मा ने अपनी पवित्रता के पिण्ड को कभी छोड़ा नही है। पर्याय मे जो शुद्धता प्रगट होती है वह तो पहले नही थी और नवीन प्रगट हुई, इसलिये वह अनियत है; और शुद्ध स्वभाव ध्रुवरूप से सदैव ऐसे का ऐसा ही है; इसलिये वह नियत है। पर्याय जिस समय जो होना हो वही होती है;— इस प्रकार से पर्याय का जो नियत है उसकी इस नियतनय में बात नही है परन्तु यहां तो द्रव्य के नियतस्वभाव की बात है; क्योंकि नियत के समक्ष फिर अनियतस्वभाव का भी कथन करेंगे; उसमे पर्याय की बात लेंगे। पर्यायो के नियतपने की (क्रमबद्धपर्याय की) जो बात है उसमे नियत और अनियत ऐसे दो प्रकार नही हैं; उसमें तो नियत का

एक ही प्रकार है कि समस्त पर्यायें नियत ही हैं—कोई भी पर्याय अनियत नही है। परन्तु इससमय तो आत्मवस्तु में नियतस्वभाव और अनियतस्वभाव–ऐसे दोनो धर्म उतारना हैं, इसलिये यहाँ नियत अर्थात् द्रव्य का एकरूप स्वभाव, पर्याय का क्रम नियत है परन्तु पर्यायस्वभाव त्रिकाल एकसमान रहनेवाला नही है इसलिये उसे यहाँ अनियत स्वभाव कहा है। जब पर्याय का नियतपना (—क्रमबद्धपना) कहना हो उससमय तो विकार भी नियत कहा जाता है, ज्ञान नियत है, ज्ञेय नियत हैं, विकार नियत है, सयोग और निमित्त भी नियत हैं, जो हो वही होते हैं, अन्य नही होते, जिससमय जो होना है वह सब नियत ही है। ऐसे नियत के निर्णय मे भी ज्ञानस्वभाव की ही दृष्टि हो जाती है, और वस्तु का नियत–अनियत स्वभाव कहा उसके निर्णय मे भी ध्रुवस्वभाव की दृष्टि हो जाती है। द्रव्य के नियतस्वभाव को जानने पर राग को अनियत धर्मरूप से जानता है, इसलिये उस राग मे स्वभावबुद्धि नही होती; इस प्रकार आत्मा के नियत स्वभाव को जानने पर राग से भेदज्ञान हो जाता है।

राग होता है वह आत्मा का अनियतस्वभाव है—ऐसा जाने, अथवा राग को उस समय की पर्याय के नियमरूप से जाने, तो भी उन दोनो मे, 'आत्मा का नियतस्वभाव उस राग से भिन्न है' ऐसा भेदज्ञान होकर स्वभावदृष्टि होती है।

जो जीव त्रिकाली द्रव्य के नियतस्वभाव को जाने वही जीव त्रिकाल की पर्यायो के नियतपने को यथार्थ जानता है, और क्षणिक भावो के अनियतपने को भी वही जानता है। पर्याय मे राग हुआ वह आत्मा का अपना अनियतधर्म है, इसलिये कर्म के उदय के कारण राग हुआ यह बात नही रहती। आत्मा का स्थायी स्वभाव वह नियत है और क्षणिकभाव वह अनियत है। पूर्वे अनादिकाल मे आत्मा नरक–निगोद आदि चाहे जिस पर्याय मे रहा, तथापि आत्मा के नियतधर्म को उसने अपने शुद्धस्वभाव से एकरूप बना रखा है, जहाँ–जहाँ परिभ्रमण किया वहाँ सर्वत्र अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव को अपने

साथ रखकर भटका है। यदि ऐसे अंतर्स्वभाव का ज्ञान करे तो वर्तमान मे अपूर्व धर्म होता है।

नियतनय का विषय त्रिकाल एकरूप रहनेवाला द्रव्य है और अनियतनय का विषय पर्याय है। 'अनियत' का अर्थ अक्रमबद्ध—अनिश्चित् अथवा उल्टी-सीधी पर्याय—ऐसा नहीं समझना; परन्तु पर्याय वह आत्मा का त्रिकाल एकरूप रहनेवाला स्वभाव नहीं है किन्तु वह पलट जाता है उस अपेक्षा से उसे अनियत धर्म समझना। पर्याय तो त्रिकाल के प्रत्येक समय की जैसी है वैसी नियत है; उसमें कुछ उल्टा-सीधा नही हो सकता। बस ! तू अपने ज्ञान की प्रतीति करके उसका ज्ञाता रह जा। शरीरादि मेरे है—यह बात भूल जा; और राग को बदलूँ—यह बात भी भूल जा; शरीरादि और रागादि—सबको जाननेवाला तेरा ज्ञानस्वभाव है उसे सँभाल; वह तेरा नियतस्वभाव है। अपने नियतस्वभाव को तूने कभी छोडा नही है।

आत्मा त्रिकाल ज्ञानस्वभाव है—इस प्रकार द्रव्य के नियतस्वभाव का निर्णय करे तो वह स्वभावदृष्टि से रागादि का ज्ञाता हो गया।

द्रव्य के नियतस्वभाव को जानने पर, राग को पर्याय के नियत रूप से जाने तो उसमें भी राग का ज्ञाता हो गया।

राग आत्मा का अनियत स्वभाव है अर्थात् वह आत्मा का त्रिकाल स्थायी स्वभाव नही है-ऐसा जाने तो उसमे भी राग और स्वभाव का भेदज्ञान होकर राग का ज्ञाता रह गया।

—इस प्रकार चाहे जिस रीति से समझे परन्तु उसमे ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता करना ही आता है और वही धर्म है।

'नियतवाद' का बहाना लेकर अज्ञानी लोग अनेक प्रकार की अंधाधुंधी चलाते हैं। सर्वज्ञदेव ने जैसा देखा है उसी प्रकार नियम से होता है—इस प्रकार सर्वज्ञ की श्रद्धापूर्वक के सम्यक् नियतवाद को भी अज्ञानी गृहीतमिथ्यात्व कहते हैं; परन्तु उसमें ज्ञानस्वभाव के

निर्णय का महान पुरुषार्थ आता है उसकी उन्हें खबर नहीं है। तथा दूसरे स्वच्छन्दी जीव, सर्वज्ञ के निर्णय के पुरुषार्थ को स्वीकार किये बिना अकेला नियत का नाम लेकर पुरुषार्थ को उडाते हैं उन्हें भी नियतस्वभाव की खबर नही है।

गोम्मटसार में नियतवादी को गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा है। वह जीव तो ज्ञानस्वभाव की प्रतीति का सम्यक् पुरुषार्थ नही करता, सर्वज्ञ की प्रतीति नही करता, परन्तु विकार का और पर का स्वामी होकर कहता है कि 'जो नियत होगा वह होगा।' परन्तु 'जो नियत होगा वह होगा'—ऐसा जाना किसने उसका निर्णय कहाँ किया ?—अपने ज्ञान मे। तो तुझे अपने ज्ञान की प्रतीति है ? ज्ञान की बड़ाई और महिमा को जानकर, उसके सन्मुख होकर, ज्ञेयो के नियत को जो जानता है वह तो मोक्षमार्गी साधक हो गया है उसकी गोम्मटसार मे बात नही है, परन्तु जो मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञानस्वभाव के सन्मुख हुए बिना और सर्वज्ञ की श्रद्धा किए बिना मात्र परसन्मुख देखकर नियत मानता है वह मिथ्या नियतवादी है और उसीको गोम्मटसार मे गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा है।

सर्वज्ञस्वभाव की श्रद्धापूर्वक अपने ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर ऐसा निर्णय किया कि अहो ! सब नियत है; जिस समय जैसा होना है वैसा ही क्रमबद्ध होता है, मैं तो स्व-परप्रकाशी ज्ञाता हूँ। ऐसा निर्णय वह सम्यग्दृष्टि का सम्यक् नियतवाद है। इस नियत मे **द्रव्य-पर्याय** सबका समावेश हो जाता है; अज्ञानी का नियतवाद ऐसा नही होता। जिसने अपने ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर उसकी रुचि का सम्यक्-पुरुषार्थ प्रगट किया और शुभ-अशुभ भावों की रुचि छोड़ दी है उसीने वास्तव मे सम्यक् नियतवाद को माना है; उसमे चैतन्य का पुरुषार्थ है, मोक्ष का मार्ग है। उसका वर्णन स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की ३२१-३२२ वी गाथा मे है; सम्यग्दृष्टि जीव वस्तु के यथार्थ स्वरूप का कैसा चिंतवन करता है वह उसमे बतलाया है।

यहाँ प्रवचनसार में जो नियतधर्म कहा है वह तीसरी बात है। यहाँ तो आत्मा का जो त्रिकाल एकरूप शुद्ध निरपेक्ष चैतन्यस्वभाव है उसका नाम नियतधर्म है। स्वभाववान कभी अपने मूल स्वभाव को नहीं छोड़ता—ऐसा उसका नियतधर्म है। यह नियतधर्म तो ज्ञानी–अज्ञानी सभी जीवों में है; परन्तु ज्ञानी ही उसे नियतनय द्वारा जानते है। नियतधर्म सभी आत्माओं में है, परन्तु नियतनय सभी आत्माओं के नही होता; जो ज्ञानी आत्मा के नियतस्वभाव को जाने उसीके नियतनय होता है।

इस प्रकार नियतनय के तीन प्रकार हुए:—

(१) गोम्मटसार में कहा हुआ ज्ञान की प्रतीतिरहित गृहीतमिथ्यादृष्टि का नियतवाद।

(२) स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा हुआ ज्ञानी का नियतवाद; उसमें सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानस्वभाव की भावनापूर्वक सर्वज्ञदेव के देखे हुए वस्तुस्वरूप का चिंतन करता हुआ, जैसा होता है वैसा पर्याय के नियत को जानता है; उसमें विषमभाव नही होने देता। इसलिये यह ज्ञानी का नियतवाद तो वीतरागता और सर्वज्ञता का कारण है।

(३) इस प्रवचनसार में कहा हुआ नियतस्वभाव; नियतनय से सभी जीव त्रिकाल एकरूप ज्ञानस्वभाव से नियत हैं।

उपरोक्त तीन प्रकारों में से गोम्मटसार में जिस नियतवाद को गृहीतमिथ्यात्व में गिना है वह अज्ञानी का है; उसे सर्वज्ञ की श्रद्धा नहीं है। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में वर्णित नियतवाद तो सर्वज्ञ की श्रद्धा सहित और ज्ञातादृष्टास्वभाव की सन्मुखता के पुरुषार्थ सहित ज्ञानी का सम्यक् नियतवाद है। और प्रवचनसार में जिस नियतवाद की बात है वह समस्त जीवों का त्रिकाल एकरूप शुद्ध चिदानन्दस्वभाव है उसकी बात है। आत्मा अपने असली चैतन्यस्वभाव को कभी नहीं छोड़ता ऐसा उसका नियतस्वभाव है। जो जीव ऐसे नियतस्वभाव को जाने उसे विकार पर बुद्धि नही रहती; क्योंकि

विकार आत्मा का त्रिकाल स्वभाव नही है। इस तीसरे बोल की अपेक्षा से तो विकार आत्मा का 'अनियतभाव' है, और दूसरे बोल की अपेक्षा से तो विकारभाव भी 'नियत' है, क्योकि उस समय उसी पर्याय का क्रम नियत है।

विकार होता है वह आत्मा का त्रिकाली स्वभाव नही है, इसलिये अनियतरूप से उसका वर्णन करेंगे; परन्तु उस अनियत का अर्थ ऐसा नही है कि उस समय की उस पर्याय के क्रम में भंग पडा! आत्मा की पर्याय मे कभी विकार होता है और कभी नही होता; और न वह सदैव एक-सा रहता है—इसलिये उसे अनियत कहा है; परन्तु पर्याय के क्रम की अपेक्षा तो वह भी नियत ही है। वस्तुस्वभाव त्रिकाल व्यवस्थित परिणमित हो रहा है, उसकी तीनो काल की पर्यायो मे इतनी नियमितता है कि उसके क्रम का भग करने मे अनत तीर्थंकर भी समर्थ नही है। पर्यायों के ऐसे व्यवस्थितपने का निर्णय करनेवाला जीव स्वयं त्रिकाली द्रव्य के सन्मुख देखकर वह निर्णय करता है इसलिये वह स्वय स्वभावोन्मुख और मोक्षपथ मे बैठा हुआ साधक हो गया है। क्रमरूप पर्यायें एकसाथ नही होती इसलिये उस क्रम की प्रतीति करनेवाले की दृष्टि अक्रमरूप द्रव्यस्वभाव पर होती है, और उसीमे मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ आ जाता है।

धर्मी जीव नियतनय से ऐसा जानता है कि मैंने अपने स्वभाव को सदैव ऐसे का ऐसा नियत बना रखा है; मेरे स्वभाव मे कुछ भी न्यूनाधिकता नही; विकार के समय मेरे स्वभाव में से कुछ कम नही हो जाता और न केवलज्ञान होने से कुछ बढ जाता है; पर्याय मे विकार हो या निर्विकारीपना हो, परन्तु अपने नियतस्वभाव मे से तो सदैव एकरूप हूँ। इस प्रकार द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा का नियतधर्म है परन्तु उसी के साथ पर्याय अपेक्षा से अनियतधर्म भी विद्यमान है उसे भी धर्मी जानता है, उसका वर्णन अगले बोल मे करेंगे।

अग्नि कभी ठण्डी हो और कभी गर्म हो—ऐसे दो प्रकार उसमें नही हैं, अग्नि गर्म ही होती है—ऐसा एक नियत प्रकार है। उसी प्रकार नियतनय से आत्मा में भी ऐसा नियतस्वभाव है कि वह सदैव एकरूप शुद्ध चैतन्यस्वरूप ही रहता है। जिस प्रकार अग्नि कभी अपनी उष्णता से पृथक् नहीं होती ऐसा उसके स्वभाव का नियम है, उसीप्रकार आत्मा के स्वभाव का ऐसा नियम है कि वह अपने शुद्ध चैतन्यत्व से पृथक् नही होता।

यहाँ त्रिकाली शुद्धस्वभाव के नियम को नियत कहा है। गोम्मटसार का नियतवादी तो ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के पुरुषार्थ से रहित है इसलिये वह गृहीतमिथ्यादृष्टि है। और द्वादशानुप्रेक्षा में ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के पुरुषार्थ सहित सम्यग्दृष्टि के सम्यक् नियतवाद का वर्णन है। जिस पदार्थ की जिस समय, जिस प्रकार जिस अवस्था का होना सर्वज्ञदेव के ज्ञान मे प्रतिभासित हुआ है उस पदार्थ की उस समय उसी प्रकार वैसी ही अवस्था नियम से होती है; कोई इन्द्र, नरेन्द्र या जिनेन्द्र भी उसमें फेरफार नही कर सकते—ऐसा वस्तुस्वरूप समझनेवाले सम्यग्दृष्टि को साथ में ऐसी भी प्रतीति है कि मैं ज्ञाता हूँ। इसलिये पर से उदासीन होकर वह उसका ज्ञाता रहा, और अपनी पर्याय का आधार द्रव्य है उस द्रव्य की ओर उन्मुख हुआ; द्रव्य-दृष्टि से उसे क्रमशः पर्याय की शुद्धता होने लगती है।—ऐसा यह सम्यक् नियतवाद है।

देखो, गोम्मटसार में नियतवादी को गृहीत मिथ्यादृष्टि कहा, और यहाँ सम्यग्दृष्टि के नियतवाद को यथार्थ कहा। कहाँ कौन-सी अपेक्षा है वह गुरुगम से समझना चाहिये।

ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे तहां समजवुं तेह,
त्यां त्यां ते ते आचरे आत्मार्थी जन एह।

कुछ लोग तो 'नियत'—ऐसा शब्द सुनकर ही भड़क उठते हैं; परन्तु भाई! तू जरा समझ तो कि ज्ञानी क्या कहते है? 'क्रमबद्ध

जैसा होना नियत है वैसा ही होता है'—ऐसा जानने का बीडा किसने उठाया ? जिस ज्ञान ने वह बीड़ा उठाया है वह अपने ज्ञानसामर्थ्य की प्रतीति के बिना वह बीड़ा नही उठा सकता; क्रमबद्ध जैसा होना नियत है वैसा ही होता है—ऐसा बीडा उठानेवाले ज्ञान मे ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता का पुरुषार्थ—इत्यादि सभी समवाय आ जाते हैं।

(१) यहाँ कहा हुआ नियतधर्म सभी जीवो मे है।

(२) द्वादशानुप्रेक्षा में कथित सम्यक् नियतवाद सम्यग्दृष्टि के ही होता है।

(३) गोम्मटसार में कथित मिथ्या नियतवाद गृहीतमिथ्यादृष्टि के ही होता है।

—इसलिये नियत का जहाँ जो प्रकार हो वह समझना चाहिए; मात्र 'नियत' शब्द सुनकर भड़कना नही चाहिए।

'नियत स्वभाव' भी आत्मा का एक धर्म है; और उस धर्म से आत्मा को जानने पर उसके दूसरे अनन्त धर्मों की स्वीकृति भी साथ ही आ जाती है। आत्मा मे अनन्त धर्म एकसाथ ही हैं; उनमे से एक धर्म की यथार्थ प्रतीति करने से दूसरे समस्त धर्मों की प्रतीति भी साथ ही आ जाती है और प्रमाण ज्ञान होकर अनन्त धर्मों के पिण्डरूप शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव होता है।

पाँच समवाय कारणों मे जो भवितव्य अथवा नियति आता है वह सम्यक् नियतवाद है; उसके साथ दूसरे चारों समवाय आ जाते हैं। न होनेवाला हो जाये—ऐसा कभी होता ही नही; जो होता है वह सब नियत ही है। परन्तु उस नियत के निर्णय मे ज्ञातास्वभाव का 'पुरुषार्थ' है, स्वभाव मे जो पर्याय थी वही प्रगट हुई है, इसलिये उसमे 'स्वभाव' भी आ गया; और जितने अंश मे निर्मल पर्याय प्रगट हुई उतने अंश मे कर्म का अभाव है—वह 'निमित्त' है।—इस प्रकार एक समय मे पाँचो बोल एकसाथ आ जाते हैं। उनमे नियत—अनियतरूप अनेकान्त उतारना हो तो जो भवितव्य है वह 'नियत' और नियत

के अतिरिक्त अन्य चार बोल हैं वह 'अनियत'—इस प्रकार नियत–अनियतरूप अनेकान्त वह भगवान का मार्ग है। परन्तु उसमें 'अनियत' शब्द का अर्थ 'आगे-पीछे या अनिश्चित'—ऐसा नही समझना चाहिये, किन्तु आत्मा के नियत धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों का नाम 'अनियत' समझना।

सम्यक् नियत मे तो विकारी-अविकारी और जड़ की समस्त पर्यायें आती हैं; क्योंकि समस्त पर्यायों का क्रम नियत ही है; और यहाँ कहे हुए नियतस्वभाव से तो अकेला ध्रुवस्वभाव ही आता है; उसमें पर्याय नही आती।

पर्याय के नियत का निर्णय भी द्रव्य के बिना नही किया जा सकता, क्योंकि पर्यायें द्रव्य में से ही आती है। निश्चित पर्याय का निर्णय करने मे द्रव्यसन्मुखता का अपूर्व पुरुषार्थ है; वह निर्णय करनेवाले को पर्यायबुद्धि नही रहती। वर्तमान पर्याय की बुद्धि अंतर्मुख होकर द्रव्य में प्रविष्ट हो जाये तभी सम्यक् नियत का निर्णय होता है। पर्याय में समय–समय का विकार है वह मेरे त्रिकाली स्वभाव में नहीं है—इस प्रकार दोनों धर्मों से आत्मा को जाने तो अवस्था विकार की ओर से विमुख होकर चैतन्यस्वभाव की ओर उन्मुख हो जाती है और सम्यग्ज्ञान होता है।

द्रव्य का त्रिकाल नियत स्वभाव है उसकी दृष्टि करे, या पर्याय के नियत का यथार्थ निर्णय करे अथवा नियत और पुरुषार्थ आदि पाँचों समवाय एक साथ हैं उन्हें समझे, तो मिथ्याबुद्धि दूर होकर स्वभावोन्मुखता हो जाती है। जिसने नियत का यथार्थ निर्णय किया उसके आत्मा के ज्ञानस्वभाव का, केवलीभगवान का और पुरुषार्थ का विश्वास भी साथ ही है। नियत का निर्णय कहो, केवलज्ञान का निर्णय कहो, पाँच समवाय का निर्णय कहो, सम्यक् पुरुषार्थ कहो—वह सब एकसाथ ही है।

नियत के साथ वाले दूसरे पुरुषार्थ आदि चार बोल हैं उन्हें नियत में नही लेते इसलिये उन्हे अनियत कहा जाता है। इस प्रकार

नियत और अनियत—ऐसा वस्तुस्वभाव है। अथवा दूसरे प्रकार से—द्रव्य का एकरूप स्वभाव वह नियतधर्म है और पर्याय मे विविधता होती है वह अनियतधर्म है,—इस प्रकार नियत और अनियत दोनों धर्म एक साथ विद्यमान हैं। उनमें नियतनय से आत्मा के द्रव्य स्वभाव का वर्णन किया, अब अनियतनय से पर्याय की बात करेंगे।

—यहाँ २६ वें नियतनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

[२७] अनियतनय से आत्मा का वर्णन

नियतनय से आत्मा के एकरूप द्रव्यस्वभाव का वर्णन किया; अब अनियतनय से पर्याय की बात कहते हैं। आत्मद्रव्य अनियतनय से अनियतस्वभावरूप भासित होता है, जिस प्रकार पानी मे उष्णता नियमित नही है परन्तु अग्नि का निमित्त पाकर कभी-कभी उसमे उष्णता आ जाती है, उसी प्रकार अनियतनय से आत्मा रागादि अनियतस्वभावरूप ज्ञाता होता है।

पानी का स्थायी स्वभाव ठण्डा है वह नियत है, और उष्णता उसके ठण्डे स्वभाव से विपरीत दशा है; वह उष्णता पानी में नित्यस्थायी रहनेवाली नही है इसलिये अनियत है, उसी प्रकार आत्मा की अवस्था मे रागादि विकारीभाव होते है वे स्थायी रहनेवाले नही हैं परन्तु क्षणिक हैं इसलिये वे अनियत हैं। ऐसा अनियतपना भी आत्मा का एक धर्म है। परन्तु "होना नही था और हो गया"—ऐसा यहाँ अनियत का अर्थ नही है। रागादि को अनियत कहा इसलिये कही पर्याय का क्रम टूट जाता है ऐसा नही है; जो रागादि हुए वे कही पर्याय का क्रम टूटकर नही हुए हैं। पर्याय के क्रम की अपेक्षा से रागादि भी नियत क्रम मे ही हैं, परन्तु रागादि अशुद्ध भाव हैं, वह आत्मा का स्थायी स्वभाव नही है इसलिये उसे अनियतस्वभाव कहा है। अनियतनय से देखें तो उसमे भी क्रमबद्धपर्याय का फेरफार होना नही आता; पर्याय का क्रम तो नियत ही है।

गोम्मटसार में एकान्त नियतवादी को मिथ्यादृष्टि कहा है,

वह तो अलग बात है और यहाँ अलग बात है। गोम्मटसार में जिस नियतवादी को मिथ्यादृष्टि कहा है वह तो नियत के नाम से मात्र स्वच्छन्द का सेवन करता है; परन्तु नियत के साथ अपना ज्ञाता स्वभाव है उसे वह जानता नही है, स्वसन्मुख होने के पुरुषार्थ को और सर्वज्ञ को मानता नही है, परसन्मुख ही रुचि रखता है किन्तु अनंतस्वसामर्थ्यमय ज्ञानस्वभाव की रुचि नही करता; स्वभाव की सम्यक्–श्रद्धा–ज्ञान के पुरुषार्थ को वह स्वीकार नही करता, अपनी निर्मलपर्यायरूप स्वकाल को वह जानता नही है, और निमित्त मे कितने कर्मो का अभाव हुआ है उसे भी वह नहीं समझता।—इस प्रकार किसी प्रकार के मेल बिना मात्र नियत की बातें करके स्वच्छन्दी होता है; नियत के साथ के पुरुषार्थ आदि समवायो को वह मानता नही है और श्रद्धा–ज्ञान का सम्यक् पुरुषार्थ प्रगट नही करता, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है। परन्तु सम्यक्दृष्टि तो नियत के निर्णय के साथ—साथ सर्वज्ञ का भी निर्णय करता है और 'मैं ज्ञाता स्वभाव हूँ'—ऐसा भी स्वसन्मुख होकर प्रतीति करता है इसलिये नियत के निर्णय में उसे सम्यक्श्रद्धा–ज्ञान का पुरुषार्थ भी साथ ही है; उस समय निर्मलपर्याय रूप स्वकाल है तथा निमित्त में मिथ्यात्वादि कर्म का अभाव है; इस प्रकार सम्यग्दृष्टि को एक साथ पाँच समवाय आ जाते है। नियत के निर्णय के सम्बन्ध में मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि का यह महान अन्तर है यह अज्ञानी नही समझ सकते इसलिये भ्रम से दोनों में समानता लगती है, परन्तु वास्तव में तो उन दोनों में आकाश–पाताल जितना अंतर है।

'मैं ज्ञायक हूँ'—इस प्रकार अपने ज्ञानस्वभाव की जिसे प्रतीति नहीं है और जो पर में फेरफार करने के मिथ्याभिमान का सेवन कर रहा है, वे यह नियतस्वभाव की यह बात सुनते ही भड़क उठते है कि 'अरे! क्या सब नियत है!! हमारे पुरुषार्थ से कुछ फेरफार नही हो सकता?' मानो उसे ज्ञाता नही रहना है किन्तु फेरफार करना है,—यह दृष्टि ही मिथ्यात्व है। अज्ञानी मानता है कि वस्तु की पर्याय नियत नहीं है, अर्थात् निश्चित नही है, उसमें हम

अपनी इच्छानुसार परिवर्तन कर सकते है,—यह उसकी मान्यता मिथ्या है; क्योकि वस्तु की पर्यायों मे ऐसा अनियतपना नही है कि वे आगे–पीछे हो जायें ! यहाँ आत्मा के अनियतधर्म का वर्णन करते है उसमें तो अलग बात है, कही उसमे पर्याय के क्रम मे परिवर्तन करने की बात नही है ।

अज्ञानी मानता है कि इस अनियतनय मे तो हमारी मान्यतानुसार वस्तु की क्रमबद्धपर्याय में फेरफार होना आयेगा !–परन्तु ऐसा नही है; किसी पर्याय का क्रम तो फिरता ही नही है—इस नियम को अबाधित रखकर ही सब बात है । द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से देखने पर आत्मा शुद्धरूप दिखाई देता है और पर्यायदृष्टि से देखने पर अशुद्ध दिखाई देता है, वह अशुद्धता आत्मा का अनियतस्वभाव है; क्षणिक अशुद्धता को भी आत्मा स्वय अपनी पर्याय मे धारण कर रखता है ।

आत्मा के अनियतधर्म को कौन मान सकता है ?

आत्मा एकान्त शुद्ध है, उसकी पर्याय मे भी विभाव नही है—ऐसा जो माने उसने आत्मा के अनियतधर्म को नही जाना है;

अथवा आत्मा की पर्याय मे जो विकार है वह पर के कारण होता है—ऐसा माने तो वह भी आत्मा के अनियतधर्म को नही जानता है;

और पर्याय में जो क्षणिक विकार है उसीको यदि आत्मा का स्थायी स्वभाव मान ले तो उसने भी आत्मा के अनियतधर्म को नही जाना है;

पर्याय में जो विकार है वह उसके अपने कारण से है; परन्तु वह आत्मा का त्रिकाल रहनेवाला स्वभाव नही है, परन्तु क्षणिक अशुद्धभाव है—ऐसा जो जाने उसीने आत्मा के अनियतधर्म को यथार्थरूप से माना कहा जाता है ।

सर्व जीव कर्म के वश हैं—ऐसा अज्ञानी मानता है; इसलिये कर्म ही जीव को विकार करता है ऐसा वह मानता है, परन्तु आत्मा के अनियतधर्म को वह नहीं जानता है। रागादि विकार होता है वह कही जड़कर्म का धर्म नही है, परन्तु वे रागादि आत्मा की ही अवस्था में होते हैं इसलिये आत्मा का ही अनियतधर्म है। तत्त्वार्थ-सूत्र में भी औदयिकभाव को भी आत्मा का स्वतत्त्व कहा है। रागादिभाव आत्मा का अनियतधर्म है, वह कही कर्म के वश नहीं है; आत्मा का अनियतधर्म कही जड़कर्म के कारण नही है।

'आत्मा की पर्याय में विकार नही होना था, किन्तु बहुत से कर्मोका एकसाथ उदय आया इसलिये विकार हुआ'—ऐसा अनियत-पना नही है; परन्तु आत्मा के स्वभाव का जो एकरूप नियम है वैसा पर्याय मे नही है, इसलिये पर्याय के विकार को अनियत कहा है। चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा त्रिकाल है, उसकी अवस्था में विकार और संसार है वह अनियतस्वभाव से है; एक समय पर्यंत का अनिश्चित है, इसलिये वह आत्मा मे सदैव नही रहेगा, और शुद्ध स्वभाव तो ज्यों का त्यों रहनेवाला है; उस स्वभाव की महिमा करके उसके सन्मुख रहने से पर्याय में अनियत ऐसा ससार दूर हो जायेगा। इसलिये हे जीव ! मैं ज्ञायक आनन्दकन्दस्वभाव से नियत हूँ और अवस्था का विकार वह अनियत है—ऐसी प्रतीति करके स्वभावोन्मुख हो ! विकार आत्मा में स्थायी रहनेवाला भाव नहीं है, इसलिये पर्याय में भले ही चाहे जितना विकार हो उससे तू अकुलाना मत, परन्तु उस विकार की तुच्छता जान, और नित्यस्थायी शुद्ध नियतस्वभाव की महिमा लाकर उसके सन्मुख दृष्टि करके उसमें स्थिर हो !—ऐसा करने से, जैसा नित्यस्थायी शुद्धस्वभाव है वैसी शुद्धता पर्याय मे प्रगट हो जायेगी और विकार नष्ट हो जायेगा। आत्मा के शुद्धस्वभाव के आश्रय से अनियत जो विकार है वह दूर हो जाने योग्य है, परन्तु पर्याय के क्षणिक विकार से कही आत्मा के नियतस्वभाव का नाश नही हो जाता। रागादि विकार तो क्षा।

अनियत नाशवंत हैं, वे शरणभूत नहीं हो सकते, और द्रव्य का नियतस्वभाव तो सदा शुद्ध है; उसकी शरण में जाने से जीव को शांति और कल्याण होता है। इस प्रकार नियतस्वभाव और अनियत-स्वभाव—इन दोनो से आत्मा को जानकर उसके ध्रुव स्वभाव का आश्रय करना वह प्रयोजन है।

भाई! तेरा द्रव्यस्वभाव शुद्धचैतन्यमय है वह नियत है और पर्याय में विकारी संसारभाव है वह अनियत है, इसलिये वह दूर हो जायेगा। नियत शुद्धस्वभाव की दृष्टि करने से अनियत विकारो भाव दूर हो जायेगा। शुभाशुभ विकार तेरा क्षणिक पर्याय-धर्म है तो भी वह अनियत है, इसलिये वह पानी की उष्णता की भाँति दूर हो जाता है। अग्नि की उष्णता वह उसका नियतस्वभाव है इसलिये वह दूर नही होता, परन्तु पानी की उष्णता अनियत है इसलिये वह दूर हो जाती है। उसी प्रकार आत्मा का शुद्धचैतन्य द्रव्यस्वभाव तो नियत है, उसका कभी नाश नही होता, और पर्याय का विकार अनियत-स्वभावरूप है इसलिये वह दूर हो जाता है। इसलिये पर्याय मे एक-समय का विकार देखकर आकुलित मत हो, क्योकि सारा द्रव्य विकार-रूप नही हो गया है; द्रव्य तो नित्य शुद्धस्वभावरूप है ही, उसकी दृष्टि करने से विकार दूर हो जायेगा और शुद्धता प्रगट हो जायेगी। पर्याय का स्वभाव अनियत है ऐसा जानकर उसका आश्रय छोड, और द्रव्य का स्वभाव नियत है—ऐसा जानकर उसका आश्रय कर। अहो! मैं सदैव एकरूप परम पारिणामिकभाव से नियत हूँ—ऐसा जानकर स्वाश्रय करने से सम्यग्दर्शनादि अपूर्वभाव प्रगट हो जाता है।

आत्मा सदैव चैतन्य प्रभुता से परिपूर्ण है—ऐसा नियतनय देखता है, और पर्याय मे पामरता है उसे अनियतनय देखता है। यह दोनो धर्म आत्मा मे एकसाथ हैं। आत्मा के ऐसे दोनो धर्मों को जो जानता है उसका बल पूर्णस्वभाव की प्रभुता की ओर ढले बिना नही रहता, इसलिये द्रव्य की प्रभुता के बल से पर्याय की पामरता का नाश हुए बिना नही रहता।

द्रव्यस्वभाव मे विकार नही है और पर्याय में विकार हुआ, तो वह कहाँ से आया ?—क्या कर्म के कारण आया ? नहीं; विकार भी आत्मा का ही अनियत धर्म है; आत्मा की पर्याय में उस प्रकार की योग्यता है। अग्नि के सयोग के समय पानी गर्म हुआ वह अग्नि के कारण नहीं हुआ है परन्तु पानी की पर्याय में उस प्रकार की योग्यता है, वह उष्णता पानी का अनियतधर्म है; उसी प्रकार आत्मा में जो रागादि पर्याय होती है वह उसका अनियतधर्म है। यदि उस एकधर्म को भी निकाल दें या पर के कारण मानें तो सारी आत्मवस्तु ही सिद्ध नहीं होती अर्थात् सम्यग्ज्ञान नही होता। जिस प्रकार सौ वर्ष की उम्र का कोई व्यक्ति हो; उसके सौ वर्ष में से बीच का एक समय भी निकाल दिया जाये तो उस व्यक्ति की सौ वर्ष की अखण्डता नही रहती, परन्तु उसके दो टुकड़े हो जाते हैं उसी प्रकार आत्मा अनंतधर्मों का अखण्ड पिण्ड है; उसमे से उसके एक भी अंश को निकाल दें तो अखण्ड वस्तु सिद्ध नहीं होती।

यहाँ नय से जिन-जिन धर्मो का वर्णन किया है, वे धर्म आत्मा के हैं इसलिये नयज्ञान स्व की ओर देखता है। पर की ओर देखने से आत्मा के धर्मों का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, परन्तु आत्मा की ओर उन्मुख होने से ही उसके धर्मों का यथार्थ ज्ञान होता है।

केवली भगवान को तेरहवे गुणस्थान मे योग का कम्पन है, वह उनका अनियतधर्म है; अघातिकर्म के कारण वह कम्पन नही है। योग का कम्पन भी आत्मा का अपना औदयिक भाव है; वह भी स्वतत्त्र का धर्म है। द्रव्य और पर्याय दोनो मिलकर प्रमाण हैं, पर्याय का धर्म भी आत्मा का अपना धर्म है; पर्याय का धर्म कही पर के आधार पर अवलम्बित नही है। पर्याय में जो विकार हुआ, उस पर्यायरूप से कौन भासित होता है ?—अनियतनय से आत्मद्रव्य स्वयं ही विकाररूप भासित होता है; कही परद्रव्य विकाररूप भासित नही होता।

वस्तु के अनन्तधर्मों को सर्वज्ञदेव प्रत्यक्ष जानते हैं; और साधक सम्यग्ज्ञानी उन्हें प्रतीति मे लेते हैं। यह धर्म पूर्णरूप से अपनी आत्मा की प्रतीति कराते हैं; धर्मी आत्मा की प्रतीति के बिना धर्म की प्रतीति नहीं होती। यह तो वीतरागता के मन्त्र हैं।

प्रमाणज्ञान कराने के लिये द्रव्य और पर्याय दोनो की बात साथ ही साथ ली है। नियतनय, द्रव्य अपेक्षा से आत्मा के नियत-स्वभाव को देखता है और उसी समय पर्याय की अपेक्षा से आत्मा मे अनियतस्वभाव भी है, उसे देखनेवाला अनियतनय है। आत्मा की पर्याय मे भूल और विकार सर्वथा हैं ही नही—ऐसा नही है; भूल और विकार भी आत्मा का अपना अनियतस्वभाव है, और आत्मा का स्थायी स्वभाव भूल रहित चैतन्यस्वरूपी है। वस्तु में जैसा हो वैसा ही यदि न जाने तो ज्ञान की महिमा क्या? और प्रमाणता क्या? आत्मा के विकार रहित त्रिकालीस्वभाव को ज्ञान जानता है। यदि स्वभाव और विकार—दोनों को न जाने तो विकार में से एका-ग्रता दूर होकर स्वभाव मे एकाग्र होना नही रहता, और सम्यग्ज्ञान भी नही होता इसलिये किसी प्रकार का धर्म नही होता।

द्रव्यरूप से तो आत्मा सदैव एकरूप नियतस्वभाव से है, और उसकी पर्याय में हीनाधिकता के अनेक प्रकार होते हैं इसलिये अनिय-तपना भी है। पर्याय मे अनेक प्रकार और विकार हैं, उन्हे यदि न जाने तो ज्ञान सम्यक् नही होता। जिस प्रकार अग्नि मे उष्णता तो नियत है, और पानी मे उष्णता अनियमित है इसलिये कभी होती है और कभी नही भी होती। पानी का स्थायी स्वभाव नित्य ठण्डा होने पर भी उसकी वर्तमान पर्याय मे जो उष्णता है वह उसका अपना अनियतस्वभाव है; उष्णतारूप होने की उसकी अपनी क्षणिक योग्यता है; यदि उस अनियत उष्णतास्वभाव को न जाने और पानी को एकान्त ठण्डा मानकर पीने लग जाये तो क्या होगा?—मुँह जल जायेगा! उसी प्रकार चैतन्यभगवान आत्मा उपशमरस का समुद्र नियतस्वभाव से सदा शुद्ध एकरूप होने पर भी उसकी व्यक्त पर्याय

में जो रागादि है वह भी उसका एकसमय का अनियनस्वभाव है। अपनी पर्याय में वे रागादि है—ऐसा यदि न जाने और आत्मा को सर्वथा शुद्ध माने तो उसे शुद्धता का अनुभव तो नहीं होगा परन्तु मात्र रागादि की आकुलता का ही अनुभव होगा। आत्मा की पर्याय मे जो क्षणिक विकार होता है वह उसका अनियतस्वभाव है और वह 'अनियतनय' का विषय है, वह आत्मा का स्थायी स्वभाव नही है। परन्तु यदि वह विकार एकसमयपर्यंत भी पर्याय में न होता हो तो उसे दूर करके स्वभाव में एकाग्र होने का प्रयत्न करना नही रहता; अर्थात् मोक्षमार्ग ही नही रहता। इसलिये द्रव्य और पर्याय—दोनों का यथार्थ ज्ञान हो तभी मोक्षमार्ग की साधना हो सकती है।

वस्तु में नियत और अनियत दोनो धर्म हैं। वस्तु का जो सदैव एकरूप रहनेवाला स्वभाव है वह नियत है, और जो क्षणिक स्वभाव है वह अनियत है। परन्तु क्रमबद्धपर्याय में जो पर्याय होना हो उसके बदले उल्टी-सीधी होकर अनियत हो जाये—ऐसा यहाँ अनियत का अर्थ नही है। जिस प्रकार द्रव्य नियत है, उनके जड़-चेतनादि गुण नियत है, उसी प्रकार उनकी समय-समय की पर्यायें भी नियत है। पर्यायों का क्रम कही अनियत नही है; जिस समय जो पर्याय होना नियत है, उस समय वही पर्याय नियम से होगी। सर्वज्ञ उसे जानते है। सर्वज्ञ का ज्ञान अन्यथा नही होगा और वस्तु की पर्यायो का क्रम भी नहीं टूटता। अहो ! इस निर्णय में स्वतत्र वस्तु-स्वभाव का निर्णय आ जाता है, और पुरुषार्थ की सन्मुखता पर की ओर से हटकर अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर हो जाती है। यह अंतर्दृष्टि की बात है। अनेक लोग अपनी कल्पितदृष्टि के अनुसार शास्त्र पढ जाते हैं, परन्तु पात्रता और गुरुगम के अभाव से अंतर्दृष्टि का यह रहस्य नही समझ सकते। कोई तो ऐसा कहते हैं कि—'द्रव्यों की संख्या नियत है, उनके चेतन-अचेतन गुण नियत है, तथा प्रतिक्षण उनका किसी न किसी प्रकार का परिणमन होगा वह भी नियत है; परन्तु अमुक समय में अमुक ही परिणमन होगा—यह बात नियत नही है; जैसे संयोग

आयेंगे वैसी अवस्था होगी।' देखो, ऐसा कहनेवाले को स्वतंत्र वस्तु-स्वरूप की कोई खबर नही है और सर्वज्ञ की भी श्रद्धा नही है। यह बात पहले कई बार विस्तारपूर्वक कही जा चुकी है। 'द्रव्य की शक्ति तो नियत है, परन्तु परिणमन किस समय कैसा होगा वह अनियत है;—इस प्रकार नियत–अनियतपना वह जैनदर्शन का अनेकान्तवाद है।'—ऐसा अज्ञानी लोग मानते हैं; परन्तु वह बात मिथ्या है; जैन-दर्शन के अनेकान्तवाद का ऐसा स्वरूप नही है। नियत और अनियत का अर्थ तो जैसा कहा है वैसा ही है। द्रव्यस्वभाव से आत्मा नियत शुद्ध एकरूप होने पर भी उसकी पर्याय मे जो विकार होता है वह उसका अनियतस्वभाव है; विकार नित्य एकरूप रहनेवाला भाव नही हैं; इसलिये उसे अनियत कहा है—ऐसा समझना चाहिये।

नियतधर्म से देखने पर आत्मा सदैव एकरूप शुद्ध ही भासित होता है और अनियतधर्म से देखने पर वह विकारी भी है, अनेकरूप है। यदि आत्मा मे अनियत रूप से विकार होने का धर्म न हो तो अनन्तकर्म एकत्रित होकर भी उसे विकारी नही बना सकते। विकार अनियत होने पर भी वह पर के कारण नही है परन्तु आत्मा का अपना भाव है। शुद्धस्वभाव त्रिकाल ध्रुव है, उसमे विकार नही है और पर्याय मे हुआ इसलिये उसे अनियत कहा है; परन्तु वह विकार होने-वाला नही था और हो गया—ऐसा अनियतस्वभाव नही है। पर्याय का जो नियतपना है वह बात यहाँ नही ली है, यहाँ तो नियतरूप से त्रिकाली स्वभाव को लिया है और अनियतरूप से पर्याय की क्षणिक अशुद्धता ली है।

—यहाँ २७ वे अनियतनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

यहाँ प्रवचनसार के परिशिष्ट में पाँच समवाय के बोल लिये हैं परन्तु वे दूसरी शैली से लिये हैं; उनमे से नियत तथा अनियत धर्म का वर्णन किया, अब आत्मा के स्वभावधर्म और अस्वभावधर्म की बात करेंगे। पश्चात् काल तथा अकाल तथा पुरुषार्थ और दैव का भी वर्णन करेंगे।

[३०] काल नय से आत्मा का वर्णन

"आत्मद्रव्य कालनय से, जिसकी सिद्धि समय पर आधार रखती है ऐसा है,—ग्रीष्म ऋतु के दिवस अनुसार पकनेवाले आम्रफल की भाँति। आत्मा को मुक्ति जिस समय होना है उसी समय होती है—ऐसा कालनय से ज्ञातव्य आत्मा का एक धर्म है। जिस काल मुक्ति होती है उस काल भी वह पुरुषार्थ पूर्वक ही होती है; किन्तु पुरुषार्थ से कथन न करके "स्वकाल से मुक्ति हुई"—ऐसा कालनय से कहा जाता है। स्वकाल से मुक्ति हुई इसलिये पुरुषार्थ उड़ जाता है—ऐसा नही है; स्वकाल से मुक्ति हुई उसमें भी पुरुषार्थ तो साथ ही है।

जिस समय मुक्ति होना है उसी समय होती है, किन्तु वह मुक्ति कहाँ से होती है?—द्रव्य में से होती है, इसलिये ऐसा निर्णय करनेवाले का लक्ष अकेली मुक्ति की पर्याय पर नही रहता किन्तु पर्याय के आधारभूत द्रव्य पर उसकी दृष्टि जाती है; "जिसकाल मुक्ति होना हो उस काल होती है"—ऐसा धर्म तो आत्मद्रव्य का है, इसलिये आत्मद्रव्य पर जिसकी दृष्टि है वही इस धर्म का निर्णय कर सकता है; इसलिये इस निर्णय में मुक्ति का पुरुषार्थ आ ही जाता है। अपनी मुक्तिपर्याय के काल को देखनेवाला वास्तव मे द्रव्य की ओर देखता है, क्योंकि "जिसकी सिद्धि समयपर आधारित है"—ऐसा धर्म द्रव्य का है;-द्रव्य की ओर देखा वही अपूर्व पुरुषार्थ है। द्रव्य को ओर देखनेवाले ने निमित्त, विकार या पर्याय पर से दृष्टि उठा ली है, तथा एक-एक गुण के भेद पर भी उसकी दृष्टि नही है; ऐसी द्रव्यदृष्टि में ही क्रमबद्धपर्याय का निर्णय, स्वकाल का निर्णय, भेदज्ञान, मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ, केवली का निर्णय—इत्यादि सब कुछ आ जाता है। कालनय का परमार्थ तात्पर्य भी यही है कि स्वद्रव्य की दृष्टि करना। यह धर्म कही काल के आधार से नही है किन्तु आत्मा के आधार से है; इसलिये मुक्ति के काल का निर्णय करनेवाला काल की ओर नही किन्तु आत्मा की ओर देखता है।

केवली भगवान के केवलज्ञान मे जो काल देखा उस काल ही मुक्ति होती है, मुक्ति का काल बदल नही सकता—ऐसा आत्मद्रव्य का एक धर्म है, आत्मा के इस धर्म का निर्णय कही परसन्मुख देखने से नही होता किन्तु आत्मद्रव्य के समक्ष देखने से ही उसके धर्म का निर्णय होता है। कालनय भी किसे देखता है ?—जिसकी सिद्धि काल पर आधार रखती है ऐसे आत्मद्रव्य को ही देखता है; इसलिये जो जीव अतर्मुख होकर आत्मद्रव्य को देखता है उसीने कालनय को सच्चा माना कहा जाता है और उसका मुक्ति का काल अल्पकाल मे ही होना होता है।

देखो, यहाँ एक-एक धर्म को सिद्ध नही करना है किन्तु पूर्ण आत्मद्रव्य को सिद्ध करना है; इसलिये धर्म देखनेवाले को स्वद्रव्याश्रित अनेक धर्मो का निर्णय करने मे अपना ज्ञान एक अपने आत्मोन्मुख करना है। इस प्रकार द्रव्यदृष्टि करके शुद्ध आत्मा को प्रतीति मे लेना ही इस सबका तात्पर्य है। जो जीव सम्पूर्ण आत्मा को तो प्रतीति मे लेता नही है और एक-एक धर्म को पृथक् करके देखता है, उसके सर्व नय मिथ्या हैं। प्रमाणज्ञान से अनन्त धर्मात्मक अखंड आत्मा को स्वीकार किये बिना उसके एक-एक धर्म का सच्चा ज्ञान नही होता, अर्थात् नय नही होता।

कालनय कहता है कि आत्मा मे जिस समय सम्यग्दर्शन होना है उसी समय होगा, किन्तु वह किसे लगा है ?—जिसने द्रव्य सन्मुख दृष्टि की उसे ! इसलिये जिसे यह बात जम गई उसे तो सम्यग्दर्शन का काल आ ही गया है। आत्मा का जो धर्म है वह क्षणिक पर्याय के आधार से नही है किन्तु द्रव्य के आधार से है। पर्याय तो प्रतिसमय चली ही जाती है, एक गुण की अनेक पर्यायें तो एक समय में होती नही हैं, और द्रव्य तो सदैव एकरूप है, इसलिये उस द्रव्य पर दृष्टि जाते ही पर्याय के काल का या क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय होता है।

प्रत्येक समय की पर्याय का काल व्यवस्थित है। जिस पर्याय का जो काल है उसमें फेरफार नहीं हो सकता। यदि उसमें फेरफार हो तो वस्तुस्वभाव या केवलज्ञान ही सिद्ध नही होगा, केवलज्ञान को भी अव्यवस्थित मानना होगा, अतः त्रिकालवर्ती पर्यायों के पिण्ड द्रव्य पर दृष्टि रखकर प्रत्येक समय की पर्यायें व्यवस्थित है, प्रत्येक पर्याय का स्वकाल व्यवस्थित है ऐसा निश्चय करने में सच्चा पुरुषार्थ भी आ जाता है; क्योकि पर्याय का निर्णय करनेवाले का मुख आत्म-द्रव्य पर है, उसकी दृष्टि मे द्रव्य की ही मुख्यता है; द्रव्य सन्मुख दृष्टि मे उसे पर्याय बदलने की बुद्धि नही रहती, किन्तु द्रव्य के आश्रय में पर्याय का निर्मल परिणमन हो जाता है और अल्पकाल में केवल-ज्ञान प्राप्त कर लेता है। और पर्याय को अव्यवस्थित माननेवाला निःशंक हो ही नही सकता और व्यवस्थित के निश्चय बिना सच्चा पुरुषार्थ भी उसे नहीं होता।

अहो! वीतरागी संत चाहे जिस पक्ष से बात समझायें, किन्तु उसमे वस्तु का मूल स्वभाव ही बतलाना चाहते हैं।

❀ ❀ ❀

जो मुक्ति का काल है उसी काल मे मुक्ति होती है—ऐसा कालनय से आत्मा का स्वभाव है। अब, आत्मा की मुक्ति के समय का निर्णय करनेवाले को स्वभावसन्मुख दृष्टि से ही वह निर्णय होता है, इसलिये स्वभावसन्मुख दृष्टि में अल्पकाल मे मुक्ति हो ऐसा काल उसको होता ही है। सर्वज्ञ भगवान ने देखा है तभी मुक्ति होगी—ऐसा कालनय से आत्मा का धर्म है; किन्तु उस धर्म का निर्णय कब होता है? वह धर्म पर के आश्रय से नही है किन्तु आत्मा के आश्रय से ही है, इसलिये जब संपूर्ण आत्मा को दृष्टि मे ले लें, तब उसके इस धर्म का निर्णय होगा। और जिसने आत्मा को दृष्टि मे लिया उसके अल्पकाल मे ही मुक्ति का स्वकाल अवश्य होता है। यह काल-नय भी कही पुरुषार्थ उड़ाने के लिये नही है, किन्तु उसमे वीतरागी

ज्ञाताद्दष्टापने का सम्यक् पुरुपार्थ आ जाता है, वह मोक्ष का कारण है। जो अभेद स्वभाव पर दृष्टि करे उसीको यह नय यथार्थरूप से जमता है; अन्य किसीको यह नय नहीं जमता।

शंका—कालनय से आत्मा की सिद्धि समय पर आधार रखती है, इसलिये अब हमे क्या ? हमे तो काल की ओर देखकर बैठना ही रहा ?

समाधान—ऐसा नही है; सुन भाई ! कालनय से जिसकी सिद्धि समय पर आधार रखती है—ऐसा कौन है ?—आत्मद्रव्य ! तो यह धर्म माननेवाले को काल सन्मुख देखना नही रहा किन्तु आत्मा की ओर देखना रहा। आत्मस्वभाव पर दृष्टि गई वहाँ स्वकाल अल्पसमय में पकना ही होता है। यहाँ दृष्टान्त में भी ऐसा आम लिया है कि जो ग्रीष्मऋतु आने पर पक जाता है; उसी प्रकार सिद्धांत मे ऐसा आत्मा लेना चाहिये कि स्वभाव का निर्णय करके स्वभाव की ओर के सम्यक् पुरुषार्थ से जिसकी मुक्ति का काल पक जाता है। सर्वज्ञदेव ने तो मुक्ति का जो समय है वह देखा है, किन्तु "मैं मुक्त होऊँगा, मुक्त होना मेरे आत्मा का स्वभाव है—" ऐसा जिसने निर्णय किया उसे बन्धन, संसार या राग की रुचि नही रहती, किन्तु जिसमे से मुक्तदशा आना है ऐसे स्वद्रव्य की ओर वह देखता है और अल्पकाल मे उसकी मुक्ति का स्वकाल पक ही जाता है। जिसे राग की या निमित्त की रुचि है उसे वास्तव मे मुक्ति का निर्णय नही है। मुक्ति का निर्णय करनेवाला आत्मा को देखता है, क्योंकि मुक्ति किसी निमित्त के, राग के या पर्याय के आश्रित नही है किन्तु आत्मद्रव्य के आश्रित है; इसलिये वह आत्मद्रव्य का अवलम्बन करके ज्ञाताद्दष्टा रहता है; उसे पर्यायबुद्धि का अधैर्य या उतावली नही होती, ज्ञाताद्दष्टारूप से वर्तते हुए अल्पकाल मे उसकी मुक्ति हो जाती है।

जिसने अपनी मुक्ति होने का निर्णय किया कि स्वकाल मे

मुक्ति पर्याय होने का धर्म मेरे आत्मा में है, उसने राग में एकाग्र होकर वह निर्णय नही किया है किन्तु ज्ञाता द्रव्य में ज्ञानपर्याय को एकाग्र करके वह निर्णय किया है; इसलिये वर्तमान में वह साधक तो हुआ है; अब उसकी दृष्टि आत्मस्वभाव पर है, 'मै शीघ्र मुक्ति करूँ और संसार को टालूँ'—ऐसी पर्यायदृष्टि उसके नही है, अब स्वभाव में एकाग्र होने से अल्पकाल मे उसकी मुक्तदशा हो जायेगी।

मैं खूब शक्ति लगाकर झट अपनी मुक्ति कर डालूँ, दया, कठिन व्रत–तपादि करके जल्दी मोक्ष प्राप्त कर लूँ;—इस प्रकार पर्याय-सन्मुख देखकर आकुलता करे उसमें तो विषमता है; ऐसी विषमता से मुक्ति नही होती, किन्तु मैं तो ज्ञान हूँ,—इस प्रकार ज्ञानस्वभाव को लक्ष मे लेकर उसमे एकाग्र होने से मुक्ति हो जाती है। ज्ञातादृष्टा स्वभाव में रहने से जिस समय मुक्ति होना है उस समय हो जाती है, उस मुक्ति का समय आने में दीर्घकाल नही होता। अरे ! शीघ्र मोक्ष करूँ—यह भी विषमभाव है, क्योंकि अवस्था ही वस्तु की व्यवस्था है। शीघ्र मोक्ष करूँ—ऐसा कहे, किन्तु मोक्ष होने का उपाय तो स्वद्रव्य का आश्रय करना है, वह उपाय तो करता नही है, फिर मोक्ष कहाँ से होगा ? स्वद्रव्य की दृष्टि करने से मोक्ष अल्पकाल में हो जाता है, किन्तु वहाँ मोक्षपर्याय पर दृष्टि नही रहती। स्वभाव का अवलबन रखकर ज्ञातादृष्टा हुआ उसमें पर्याय की उतावली करना रहता ही कहाँ है ? क्योंकि स्वभाव के अवलम्बन से उसकी पर्याय का विकास होता ही जाता है, अब मुक्ति होने मे उसे अधिक काल नही लगेगा।

देखो, यह कालनय का रहस्य ! जिसने इस कालनय से भी आत्मा का निर्णय किया उसके ज्ञान में ज्ञातादृष्टापने का धैर्य हो गया, उसके आत्मद्रव्य मे अल्पकाल में मुक्ति होने का स्वकाल है ही; केवलीभगवान ने भी अल्पकाल में उसका मोक्ष देखा है। कालनय से आत्मा की मुक्ति समय पर आधार रखती है—ऐसा कहा उसमें पुरुषार्थ की निर्बलता नही है किन्तु स्वभावदृष्टि का बल है; ६

निर्णय करनेवाला जीव द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि रखकर बन्धमोक्ष का भी ज्ञाता रह जाता है और अल्पकाल मे उसकी मुक्ति हो जाती है। केवलीभगवान के ज्ञान मे उसकी मुक्ति के प्रमाण अकित हो गये है, और उस आत्मा के स्वभाव मे भी वैसा धर्म है। अहो ! इसमे मोक्ष का पुरुषार्थ है किन्तु आकुलता नही है—ज्ञाताद्दष्टापने का धैर्य है। उतावली करे तो उसके ज्ञाताद्दष्टापना नही रहा किन्तु आकुलता हुई—विषमभाव हुआ; वह तो मोक्ष को रोकनेवाला है। श्रीमद् राजचन्द्रजी भी कहते हैं कि—जितनी उतावली उतनी कचास, और जितनी कचास उतनी खटास। स्वभावदृष्टि मे धर्मी को प्रमाद भी नही है; उतावली भी नही है, और न पुरुषार्थ की कचास भी है, स्वभावदृष्टि मे ज्ञाताद्दष्टारूप से मोक्ष का प्रयत्न उसको चालू ही है और अल्पकाल मे मोक्षदशा हो जाती है।

देखो, आचार्यदेव ने कालनय को गुप्त नही रखा, कालनय के वर्णन मे भी शुद्ध द्रव्यस्वभाव के आश्रय का ही तात्पर्य निकलता है। अज्ञानी लोग बिना समझे अपनी स्वच्छन्द कल्पना से विपरीत अर्थ करते हैं।

धर्मी कहते हैं कि—"भव मोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो"—लेकिन वह किसकी दृष्टि मे ? ध्रुवस्वभाव की दृष्टि मे; स्वभावदृष्टि में बंध-मोक्षपर्याय पर धर्मी को समभाव है, अथवा बन्ध टालूं और मोक्ष करूं—इस प्रकार पर्याय की विषमता पर उसकी दृष्टि नही है किन्तु एकरूप चिदानन्दस्वभाव पर उसकी दृष्टि है, उस स्वभाव की दृष्टि मे अल्पकाल मे भवान्त होकर मोक्ष हुए बिना नही रहेगा।

यह विकार मुझे नही चाहिये—इस प्रकार विकार की ओर देखता रहे तो वह विषमभाव है, उसका विकार दूर नही होता। मुझे विकार नही चाहिये—इस प्रकार जो विकार को टालना चाहता है उसकी दृष्टि विकार सन्मुख नही होती किन्तु शुद्ध स्वभाव पर होती है; शुद्धस्वभाव में विकार नही है इसलिये उस स्वभाव की दृष्टि से विकार दूर होकर अविकारी मोक्षदशा प्रगट हो जाती है।

आत्मा में मोक्षदशा प्रगट होने का जो काल है उसी काल वह प्रगट होती है—ऐसा आत्मद्रव्य का धर्म है;—ऐसा जिसने कालनय से जान लिया उस जीव की दृष्टि तो शुद्ध चैतन्यद्रव्य पर ही पड़ी है और उस द्रव्य के आश्रय से अल्पकाल में अवश्य ही उसकी मुक्ति हो जाती है।

—इस प्रकार ३० वें कालनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

[३१] अकालनय से आत्मा का वर्णन

'अकालनय से आत्मद्रव्य जिसकी सिद्धि समय पर आधार नहीं रखती ऐसा है,—कृत्रिम गरमी से पकाये जानेवाले आम्रफल की तरह।'

जिसे स्वभावदृष्टि है वह जीव अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करता है। कोई जीव उग्र प्रयत्न द्वारा स्वभाव में एकाग्र होकर अल्पकाल मे मोक्ष प्राप्त करे, वहाँ ऐसा कहा जाता है कि यह जीव उग्र पुरुषार्थ द्वारा शीघ्र मुक्त हुआ, इस जीव ने अचिरेण अर्थात् शीघ्र मुक्ति प्राप्त की। तथा गुरु भी शिष्य को ऐसा आशीर्वाद देते हैं कि स्वभाव के अवलम्बन से तू अचिरं अर्थात् शीघ्र मोक्ष पद को प्राप्त करेगा। अकालनय से ऐसा कथन किया जाता है परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि मोक्ष का जो समय है वह बदल जाता है। जैसे घास में रखकर आम को पकायें, वहाँ भी वह आम तो उसके पकने के काल में ही पका है, लेकिन घास में रखा था उससे ऐसा कहा जाता है कि वह आम घास में रखकर जल्दी पका दिया। वैसे अल्प समय मे उग्र पुरुषार्थ करके जीव मुक्त हो वहाँ ऐसा कहा जाता है कि यह जीव पुरुषार्थ से शीघ्र मुक्ति को प्राप्त हुआ, वह अकालनय का कथन है और वैसा एक धर्म आत्मा मे है। मुक्ति तो उसका जो समय था उस समय ही हुई, उसका समय कुछ बदल नही गया।

यह जीव आसन्न भव्य है, यह जीव पुरुषार्थ द्वारा शीघ्र मुक्ति प्राप्त करेगा—ऐसा कहा जाता है, उसका वाच्य भी वस्तु मे है।

शिष्य भी गुरु के प्रति विनय से कहे कि हे नाथ ! हे स्वामी ! आपने मुझे इस संसार से तार दिया... यदि आप न मिलते तो हम अनन्त संसार मे भटकते भटकते मर जाते, आपके चरणकमलो के प्रसाद से शीघ्र हमारे संसार का अन्त आ गया और अब शीघ्र ही हम अल्पकाल मे मुक्ति प्राप्त करेगे। आपके उपकार से हमारा अनन्त संसार नष्ट हो गया और मोक्ष निकट आ गया—इस तरह अकालनय से कहा जाता है, मोक्ष होने का काल तो जो हैं वही है, वह कही उलटपुलट नही हो गया हैं।

आत्मा कैसा है ऐसा शिष्य ने पूछा था। उसे आत्मा के धर्मों द्वारा आत्मा की पहिचान कराते हैं। यहाँ आचार्यदेव ने ४७ नयो से ४७ धर्मों का कथन करके आत्मा का स्वरूप बतलाया है। उनमे कालनय से ऐसा कहा कि जिस समय जिसकी मुक्ति का स्वकाल है तभी वह मुक्ति को प्राप्त करता है। जैसे आम उसके मौसम मे पकता है वैसे आत्मा के स्वभाव मे मुक्ति का जो समय है उस समय वह मुक्तिरूप परिणमित हो जाता है। स्वभाव की दृष्टि करके स्थिर हो वहाँ आत्मा की मुक्ति होती है। वहाँ आत्मा की अपने काल से मुक्ति हुई ऐसा कालनय से कहा जाता है। लेकिन वह मुक्ति बिना पुरुषार्थ के नही हुई है।

उग्र पुरुषार्थ द्वारा जीव ने शीघ्र मुक्ति प्राप्त कर ली—ऐसा अकालनय से कहा जाता है, उसमें भी मुक्ति का जो समय है, वह तो वही है, उसमे कोई परिवर्तन नही हो गया। अनन्त पुरुषार्थ करके जीव ने बहुत काल के कर्मों को अल्पकाल में नाश किया और शीघ्र मुक्ति प्राप्त की—ऐसा लक्ष में लेना वह अकालनय हैं।

यह जो धर्म कहे जा रहे हैं वे सभी धर्म शुद्ध चैतन्य वस्तु के आधार से हैं; किसी निमित्त के आधार से, राग के आधार से, अकेली पर्याय के आधार से अथवा एक एक धर्म के आधार से यह धर्म विद्यमान नही हैं। अर्थात् इन धर्मों का निर्णय करते समय धर्मी ऐसा चैतन्यद्रव्य लक्ष मे आ जाता है। सम्पूर्ण वस्तुस्वभाव को दृष्टि में लिये

बिना उसके धर्म का यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता। आत्मद्रव्य की संमुखता से ही उसके धर्म की यथार्थ प्रतीति होती है। चैतन्यस्वभाव सन्मुख जिसका पुरुषार्थ पलट गया हो उसे अचिरं (शीघ्र) मुक्ति हुए बिना नही रह सकती।

जैसे—अचानक सर्प वगैरह के काटने से छोटी उम्र मे कोई मनुष्य मर जाये तो वहाँ ऐसा कहा जाता है कि इस मनुष्य की अकाल-मृत्यु हुई। यथार्थतः तो उसकी आयु जिस समय पूरी होना थी उस समय ही हुई है, कुछ जल्दी नही हुई है, लेकिन लोक-व्यवहार से अकाल मे अवसान हुआ ऐसा कहा जाता है। वैसे ही आत्मा में एक ऐसा धर्म है कि आत्मा पुरुषार्थ करके अकाल में मुक्त हुआ अर्थात् शीघ्र मुक्तदशा प्राप्त की—ऐसा अकालनय से कहा जाता है। जो जीव वस्तुस्वभाव से विपरीत मानता है और विपरीत प्ररूपणा करता है वह जीव प्रतिक्षण अनन्त संसार की वृद्धि करता है, वैसे ही स्व-भावदृष्टि के बल से सम्यक्त्वी जीव संसार को एक क्षण में नष्ट कर देता है और शीघ्र मुक्ति को प्राप्त करता है। ऐसा अकालनय से कहा जाता है। पहले स्वभाव पर दृष्टि नही थी और ससार पर दृष्टि थी तव प्रतिक्षण अनन्त संसार की वृद्धि करता है ऐसा कहा, और जहाँ सत्समागम से विपरीत दृष्टि को वदलकर स्वभावदृष्टि की वहाँ एक क्षण मे अनन्त संसार नष्ट कर दिया—ऐसा अकालनय से कहा जाता है। परन्तु संसार होना था और दूर हो गया अथवा उस समय मोक्ष नही होना था और हो गया—ऐसा अकालनय का अर्थ नही है। अकालनय से पर्याय का क्रम वदल जाये—ऐसा नहीं है। लेकिन अनन्तकाल के कर्म अल्पकाल में नष्ट कर दिये—ऐसा अकालनय से कहा जाता है। छद्मस्थ के ज्ञान में यह नय होते हैं, केवलीभग-वान के ज्ञान में नय नही होते, उनको तो एक साथ सम्पूर्ण प्रत्यक्ष-ज्ञान वर्त रहा है।

देखो, कालनय और अकालनय से पृथक् पृथक् दो धर्म कहे हैं, वे दोनों धर्म अलग अलग जीव मे नहीं हैं परन्तु एक ही जीव में

दोनों धर्म एक साथ वर्त रहे हैं; इसी तरह नियत अनियत वगैरह नयो से जो धर्म कहे हैं वे भी प्रत्येक आत्मा में एक साथ ही वर्त रहे हैं। एक जीव स्वकालानुसार मुक्ति प्राप्त करे और दूसरा जीव पुरुषार्थ करके अकाल मे मुक्ति प्राप्त करे—ऐसा नही। अर्थात् एक धर्म एक जीव मे और दूसरा धर्म दूसरे जीव मे हो, ऐसा नही है। एक ही जीव मे समस्त धर्म एक साथ रहते हैं।

कालनय से तो जीव को जिस समय मुक्ति प्राप्त करना है उस समय ही प्राप्त करता है और अकालनय से उसमे अदलबदल हो जाये—ऐसा परस्पर विरोध नही है।

इस जीव ने अपने स्वकालानुसार मुक्ति प्राप्त की ऐसा कहना वह कालनय का कथन है, परन्तु ऐसा जब कालनय से कहा तब भी, बिना पुरुषार्थ के उसे मोक्ष हुआ—ऐसा उसका अर्थ नही है, स्वकाल के समय भी पुरुषार्थ तो मिला हुआ ही है।

और इस जीव ने उग्र पुरुषार्थ द्वारा शीघ्र मुक्ति प्राप्त की—ऐसा कहना वह अकालनय का कथन है। परन्तु, पुरुषार्थ से शीघ्र मुक्ति प्राप्त की ऐसा जब अकालनय से कहा तब भी मुक्ति का स्वकाल न था और मुक्ति हो गई—ऐसा उसका अर्थ नही, पुरुषार्थ के समय उसका स्वकाल वैसा ही है।

इस प्रकार कालनय और अकालनय यह दोनो नयों के विषयरूप दोनों धर्म आत्मा मे एक साथ विद्यमान ही हैं, ऐसा समझना चाहिये। यहाँ जिन धर्मों का वर्णन किया जा रहा है उन सभी धर्मो का अधिष्ठाता तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा है। ऐसे आत्मा को दृष्टि मे लेना वही इन सब धर्मों को जानने का फल है।

—यहाँ ३१ वें अकालनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

❀ समाप्त ❀

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
१३	१८	तेरा	तेरी
४१	७	साधक का	साधक तो
१०२	१	को मानना	को नहीं मानता
११५	८	रुक गई नहीं है	रुक गई है
२५२	२६	नेरक से	करने से
२६४	२१	निमित्त नहीं	निमित्त से नहीं
३०८	७	द्रव्य को	द्रव्य की

दोनों धर्म एक साथ वर्त रहे हैं, इसी तरह नियत अनियत वगैरह नयो से जो धर्म कहे हैं वे भी प्रत्येक आत्मा मे एक साथ ही वर्त रहे हैं। एक जीव स्वकालानुसार मुक्ति प्राप्त करे और दूसरा जीव पुरुषार्थ करके अकाल मे मुक्ति प्राप्त करे—ऐसा नही। अर्थात् एक धर्म एक जीव मे और दूसरा धर्म दूसरे जीव मे हो, ऐसा नही है। एक ही जीव मे समस्त धर्म एक साथ रहते हैं।

कालनय से तो जीव को जिस समय मुक्ति प्राप्त करना है उस समय ही प्राप्त करता है और अकालनय से उसमे अदलबदल हो जाये—ऐसा परस्पर विरोध नही है।

इस जीव ने अपने स्वकालानुसार मुक्ति प्राप्त की ऐसा कहना वह कालनय का कथन है, परन्तु ऐसा जब कालनय से कहा तब भी, बिना पुरुषार्थ के उसे मोक्ष हुआ—ऐसा उसका अर्थ नही है, स्वकाल के समय भी पुरुषार्थ तो मिला हुआ ही है।

और इस जीव ने उग्र पुरुषार्थ द्वारा शीघ्र मुक्ति प्राप्त की—ऐसा कहना वह अकालनय का कथन है। परन्तु, पुरुषार्थ से शीघ्र मुक्ति प्राप्त की ऐसा जब अकालनय से कहा तब भी मुक्ति का स्वकाल न था और मुक्ति हो गई—ऐसा उसका अर्थ नही, पुरुषार्थ के समय उसका स्वकाल वैसा ही है।

इस प्रकार कालनय और अकालनय यह दोनो नयो के विषयरूप दोनो धर्म आत्मा में एक साथ विद्यमान ही हैं, ऐसा समझना चाहिये। यहाँ जिन धर्मों का वर्णन किया जा रहा है उन सभी धर्मों का अधिष्ठाता तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा है। ऐसे आत्मा को दृष्टि मे लेना वही इन सब धर्मों को जानने का फल है।

—यहाँ ३१ वें अकालनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

❀ समाप्त ❀

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
१३	१८	तेरा	तेरी
४१	७	साधक का	साधक तो
१०२	१	को मानता	को नहीं मानता
११५	८	रुक गई नहीं है	रुक गई है
२५२	२६	नेरक से	करने से
२६४	२१	निमित्त नहीं	निमित्त से नहीं
३०८	७	द्रव्य को	द्रव्य की